वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 451
ISBN 978-93-84003-62-3

श्री गौतमस्वामी विरचित

श्री गौतम गणधर वाणी

(अमृतवर्षिणी टीका समन्वित)

(भाग–2)

–संकलन एवं हिन्दी टीका–

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम शिष्य
प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की सुशिष्या, जैन समाज की सर्वोच्च
साध्वी, चारित्रचन्द्रिका, तीर्थोद्धारिका, राष्ट्रगौरव, युगप्रवर्तिका,
सिद्धान्तचक्रेश्वरी, 400 ग्रंथों की लेखिका, दो बार डी.लिट्.
की मानद उपाधि से अलंकृत वाग्देवी, दिव्यशक्ति
पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी

भाग–2 अध्याय–3, 4, 5

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परम पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि 105 श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''श्री गौतम गणधर वर्ष' 2014–2015 के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2541	मूल्य
500 प्रतियाँ	फाल्गुन कृष्णा एकादशी, 15 फरवरी 2015	300/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं सम्पादक :-

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

-: प्रबंध सम्पादक :-

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना आदि की विषय-सूची

१.	सम्पादकीय	८
२.	आद्य वक्तव्य	९
३.	प्रस्तावना	१३
४.	दो शब्द	२७
५.	अमृतवर्षिणी टीका एक महान कृति	२८
६.	हार्दिक उद्‌गार	२९
७.	द्वादशांग जिनवाणी को ग्रंथ रूप में नहीं लिखा जा सकता	३०
८.	श्री गौतमस्वामी परिचय	३२
९.	पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का परिचय	३३
१०.	हस्तिनापुर तीर्थ परिचय	४२
१.	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का परिचय	४४
१२.	वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के सहयोगियों की सूची	५०
१३.	स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि	५५
१४.	शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण	५६

ग्रंथ की विषय-सूची

सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म)
(अध्याय ३)

१.	मंगलाचरण	१
२.	सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म) प्राकृत एवं पद्यानुवाद	३
३.	सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म) अमृतवर्षिणी टीका	७
४.	"तत्थ पढमे अणुव्वदे थूलयडे.....	१५
	(१) अहिंसा अणुव्रत	१५
५.	विदिए गुणव्वदे विविध....."	१५
	(१) अनर्थदण्डविरति गुणव्रत	१५

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
६.	"तदिए गुणव्वदे भोगोपभोग....."	१६
	(१) भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत	१६
७.	"विदिए पोसहोवासय....'	१८
	(१) प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत	१८
८.	"तदिये अतिथिसंविभागो....."	२१
	(१) अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत	२१
९.	"से अभिमदजीवाजीव....."	२४
	(१) नव पदार्थ	२४
१०.	"णिस्संकिय–णिक्कंखिय....."	४२
	(१) सम्यग्दृष्टि के आठ अंग	४२
	(२) आठ अंग में प्रसिद्ध भव्यों की कथाएँ	४५
११.	"भयवदा महदि महावीरेण....."	५०
	"पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि....."	
	(१) श्रावक के १२ व्रत	५०
	(२) पाँच अणुव्रत में प्रसिद्ध जनों की कथायें	५७
	(३) पाँच पाप में प्रसिद्ध जनों की कथायें	५९
१२.	"तत्थ पढमे सामाइयं....."	६२
	(१) प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत	६२
१३.	"तदिये अतिथिसंविभागो।"	६२
	(१) तृतीय अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत	६२
	(२) चार दान में प्रसिद्ध जनों की कथायें	६३
१४.	महु–मंस–मज्ज–जूआ.....	६५
	(१) श्रावक के अष्टमूलगुण एवं सप्तव्यसन त्याग का वर्णन	६५
१५.	"पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।"	६६
	(१) पाँच अणुव्रत धारण एवं सात व्रतों का ग्रहण	६६
१६.	जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया.....	६७
	(१) व्रती श्रावक कहाँ–कहाँ जन्म नहीं लेते ?	६७
	(२) देवों के भेद	६८
१७.	सप्त परमस्थान में सज्जाति परमस्थान	७०
१८.	सद्गार्हस्थ्य परमस्थान	७६
१९.	सूतक पातक वर्णन	८०

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
२०.	रजस्वला स्त्री का अशौच	८१
२१.	सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म) का सार	८३
२२.	सप्तपरमस्थान स्तोत्र	८४
२३.	जिनेन्द्र स्तोत्र	८५

एकादश प्रतिमा (अध्याय ४)

२४.	एकादश प्रतिमा (प्राकृत, संस्कृत श्लोक एवं पद्यानुवाद)	८९
२५.	ग्यारह प्रतिमा के नाम एवं लक्षण	९३
२६.	"सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसणसावयो भणियो"	९६
	(१) दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक	९६
	(२) सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण	९६
	(३) सप्तव्यसन त्यागी ही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है।	१२२
२७.	"तत्थ पढमे सामाइयं।'	१२६
	(१) व्रत प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप	१२६
	(२) श्रावकों की देवपूजा में ४ कृतिकर्म होते हैं	१३०
	(३) श्रावकों की क्रियायें	१३४
	(४) श्रावकों की छह आवश्यक क्रियाओं में देवपूजा	१३८
२८.	"सम्मत्तमरणं समाहिमरणं।"	१४०
	(१) सल्लेखना	१४०
२९.	"पंडियमरणं"	१४३
	(१) मरण का लक्षण एवं भेद	१४३
	(२) देवदुर्गति क्या है ?	१४९
३०.	दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण विशेष विवेचन (वसुनन्दिश्रावकाचार से)	१५४
३१.	अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का स्वरूप (वसुनन्दिश्रावकाचार से)	१५७
३२.	विशेष विवेचन—	१६३
	(१) सामायिक प्रतिमा का लक्षण	१६३
	(२) प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप	१६३
	(३) सचित्तत्याग प्रतिमा का लक्षण	१६४
	(४) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का लक्षण	१६४
३३.	रात्रिभोजन दोष वर्णन (वसुनन्दि श्रावकाचार से)	१६६
३४.	"जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं"	१६७

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
३५.	एकादश प्रतिमा का सार	१६८
३६.	नवदेवता स्तोत्र	१७०
३७.	तीर्थंकर स्तोत्र	१७१

निषीधिका दण्डक (अध्याय ५)

३८.	निषीधिका दण्डक (प्राकृत एवं पद्यानुवाद)	१७५
३९.	निषीधिका दण्डक (अमृतवर्षिणी टीका सहित)	१७७
४०.	"अरहंत ! सिद्ध !"	१८३
	(१) अरिहंत का स्वरूप	१८३
	(२) पंचकल्याणक का वर्णन	१८३
	(३) अरिहंत परमेष्ठी के ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्य (तिलोयपण्णत्ति से)	१८७
	(४) सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप	१९२
४१.	"गुणरयणसीलसायर"	१९३
	(१) शील के १८,००० भेदों का वर्णन	१९३
	(२) चौरासी लाख उत्तर गुणों का वर्णन	१९४
४२.	तवो य वारसविहो"	१९६
	(१) द्वादश तप	१९६
	(२) व्रतों का वर्णन	२०३
४३.	चौबीस तीर्थंकरों के पंचकल्याणक की तिथियाँ	२४७
४४.	"महरिसी"	२४८
	(१) ऋद्धियों का वर्णन	२४८
४५.	"ससमय–परसमयविदू"	२५४
	(१) तत्त्व समीक्षा	२५४
	(२) आत्म समीक्षा	२५६
	(३) जैनमत स्वसमय है	२५९
	(४) अन्यमत परसमय है–मिथ्यात्व है	२६२
	(५) जैनदर्शन के न्यायग्रंथों में स्वसमय	२६५
	(६) अध्यात्म के अनुसार स्वसमय–परसमय	२७०

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
४६.	"तित्थं तित्थंकरा य।"	२७३
	(१) तीर्थ और तीर्थंकर भगवान	२७३
	(२) सोलहकारण भावनाएँ	२७४
४७.	"चेइयरुक्खा य चेइयाणि"	२७८
	(१) चैत्यवृक्ष का वर्णन	२७८
४८.	"उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि।"	२८६
	(१) त्रैलोक्य जिनचैत्यालय एक दृष्टि में	२८६
४९.	"सम्मेदे"	२८८
	(१) सम्मेदशिखर स्तोत्र	२८८
५०.	'जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ"	२९५
	(१) तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियाँ	२९५
	(२) निर्वाणकाण्ड भाषा	२९६
५१.	"इसिपब्भारतलग्गयाणं"	३०२
	(१) सिद्धलोक और सिद्धशिला	३०२
५२.	"गुरु–आइरिय–उवज्झायाणं–पव्वत्तित्थेर–कुलयराणं।"	३०४
	(१) आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर ये पाँच प्रकार के महामुनि हैं	३०४
	(२) आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी के लक्षण एवं गुण	३०४
	(३) आर्यिकाओं का समाचार	३०८
	(४) आर्यिकायें महाव्रती हैं	३०८
५३.	निषीधिका दण्डक (श्री प्रभाचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका) एवं हिन्दी अनुवाद	३०९
५४.	प्रशस्ति	३१८
५५.	श्री वीरजिन स्तोत्र	३२०
५६.	सिद्ध स्तोत्र	३२६
५७.	श्री गौतमस्वामी प्रणीत प्रतिक्रमण पाठ में परिवर्तन एवं परिवर्धन उचित नहीं है	३२८
५८.	श्री गौतम गणधर वाणी (प्रतिदिन पढ़ने हेतु दशों अध्याय का मूल पाठ पद्यानुवाद सहित)	३३२
५९.	जिनवाणी स्तुति	३६०

सम्पादकीय

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

नमः ऋषभदेवाय धर्मतीर्थप्रवर्तिने।
सर्वा विद्या-कला-यस्मादाविर्भूता महीतले।।

"स्वाध्यायः परमं तपः" आचार्यों ने स्वाध्याय को परम तप कहा है। श्रावक के छह आवश्यक में स्वाध्याय एक आवश्यक कर्तव्य है। ध्यान और अध्ययन साधु के आवश्यक कर्तव्य हैं। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है। सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। कर्मों का क्षय होता है। पुण्य का आस्रव और कर्मों की निर्जरा होती है। चिन्तामणि रत्न के समान ग्रंथ का स्वाध्याय इच्छित फल को प्रदान करता है। ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु संसार में नहीं है। यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य में लिखा है—

ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
यत्र द्वयं स देवः स्याद्, द्वि हीनो गणपूरणः।।

अर्थात् जिसके तप न हो और मात्र विशिष्ट ज्ञान ही हो तो वह भी पूज्य है। जिसके (विशिष्ट) ज्ञान न हो, केवल तप या चारित्र ही हो, तो वह भी पूज्य है और जिस व्यक्ति में (विशिष्ट) ज्ञान व तप दोनों हो, उसे तो साक्षात् देव ही समझना चाहिए।

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी राष्ट्रगौरव, युगप्रवर्तिका, श्रुतप्रकाशिका, तीर्थोद्धारिका, दो बार डी. लिट् . की मानद उपाधि से अलंकृत, न्यायप्रभाकर, आगमनिष्ठ, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, सिद्धान्तचक्रेश्वरी परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने स्वाध्याय के द्वारा चारों अनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान अर्जित करके बाल, युवा, वृद्ध, विद्वान सभी की योग्यतानुसार बालविकास से लेकर अष्टसहस्री, नियमसार, समयसार, षट्खण्डागम जैसे ग्रंथों का लेखन, सृजन किया है। भगवान महावीर के शासन में पूज्य माताजी सर्वप्रथम आर्यिका हैं, जिन्होंने इतने विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ "श्री गौतम गणधर वाणी" पर अमृतवर्षिणी टीका एक महान कृति है। श्री गौतम गणधर वाणी अर्थात् चतुर्थकाल की वाणी पढ़ने का सौभाग्य हम सभी को पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की कृपाप्रसाद से प्राप्त हो रहा है। दस अध्यायों में विभक्त इस गौतम गणधर वाणी की अमृतवर्षिणी टीका का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। यह द्वितीय भाग है। इसमें स्वाध्याय हेतु सामग्री बहुत सारी है। अभी २ भाग और प्रकाशित होना बाकी है। यह तो मात्र श्री गौतमस्वामी के कुछ शब्दों को लेकर पूज्य माताजी ने टीका की है। पूरे शब्दों पर तो टीका करना शक्य नहीं है क्योंकि श्री गौतमस्वामी के एक–एक शब्द अनंत अर्थ गर्भित हैं। श्री गौतम गणधर वाणी की अमृतवर्षिणी टीका के द्वितीय भाग का स्वाध्याय आप सभी के जीवन में नवज्योति को लाए, ज्ञान का प्रकाश भरे, यही मंगल कामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला इसी तरह से सत्साहित्य का, महान ग्रंथों का प्रकाशन कर, जिनधर्म की प्रभावना में अग्रसर हो। मुझे भी एकदिन पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो यही मंगल भावना है। पूज्य माताजी दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें और आगे भी अपने ज्ञानरूपी आलोक से सभी भव्यजीवों को प्रकाशित करती रहें, यही मंगल कामना है।

आद्य वक्तव्य

-गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

आज से २५७१ वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा एकम् को चैत्यभक्ति की रचना हुई है। उसी दिन श्री गौतमस्वामी ने दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया है व उसी दिन भगवान महावीर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी है।

चैत्यभक्ति आदि रचनाएँ श्री गौतमस्वामी प्रणीत हैं, इनके प्रमाण देखिए—

चैत्यभक्ति के प्रारंभ में टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य कहते हैं—

''श्री वर्धमानस्वामिनं'' प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी स्तुतिमाह—

श्रीवर्धमान को प्रत्यक्ष देखकर-उनका प्रथम दर्शन प्राप्तकर श्री गौतमस्वामी स्तुति करते हुए कहते हैं— हरिणी छंद—**''जयति भगवान्''**.....इत्यादि।

दैवसिक प्रतिक्रमण की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं–

''श्री गौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवता–विशेषं नमस्करोति—

'श्रीमते वर्धमानाय नमो'' इत्यादि।

इन उद्धरणों से भी ये रचनायें श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत हैं। ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

श्री गौतम स्वामी की मूल रचनाएँ चार हैं—

१. श्री चैत्यभक्ति **२. दैवसिक प्रतिक्रमण**

३. पाक्षिक प्रतिक्रमण **४. श्रावक प्रतिक्रमण**

इसमें चैत्यभक्ति स्वतंत्र है।

पुनः तीन रचनाओं से ९ रचनाएँ उद्धृत की गई हैं।

१. **कृतिकर्म विधि** (सिद्धभक्ति) २. **निषीधिका दण्डक**

३. **पडिक्कमामि भंते!** ४. **वीरभक्ति**

ये चार रचनाएँ दैवसिक प्रतिक्रमण से उद्धृत हैं।

५. **गणधरवलय मंत्र** ६. **सुदं मे आउस्संतो!** (श्रावकधर्म)

७. **सुदं मे आउस्संतो!** (मुनिधर्म) ८. **इच्छामि भंते!**

ये चार रचनाएँ पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत हैं।

९. **एकादश प्रतिमा**

यह रचना श्रावक प्रतिक्रमण से उद्धृत है।

श्री गौतमस्वामी प्रणीत कृतियों का परिचय

१. **चैत्यभक्ति**—श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत है।

२. **निषीधिका दण्डक**–इस दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण भक्ति में "निषिधिका दण्डक" आता है। इसमें प्रथम पद जो "**णमो णिसीहियाए**" है, उसका अर्थ टीकाकार ने १७ प्रकार से किया है।

इस निषीधिका दण्डक में श्रीगौतमस्वामी ने अष्टापदपर्वत, सम्मेदशिखर, चम्पापुरी, पावापुरी आदि की भी वंदना की है।

जब चारज्ञानधारी सर्वऋद्धि समन्वित गौतम गणधर इन तीर्थ क्षेत्रों की वंदना करते हैं, तब आज जो अध्यात्म की नकल करने वाला कोई यह कहे कि "यदि साधु के तीर्थ वंदना का भाव हो जाये तो उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। ऐसा कथन सर्वथा अनुचित है।

३. **वीरभक्ति**—सर्वज्ञ का लक्षण, धर्म का लक्षण आदि इसमें बहुत ही महत्वपूर्ण विषय हैं।

४.**गणधरवलय मन्त्र**–बड़ा प्रतिक्रमण जो कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिकरूप में किया जाता है, उसकी टीका के प्रारम्भ में टीकाकार कहते हैं–

'श्रीगौतमस्वामी दैवसिकादिप्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषानां निराकरणार्थं वृहत्प्रतिक्रमण–लक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलाद्यर्थमिष्टदेवता-विशेषं नमस्कुर्वन्नाह णमो जिणाणमित्यादि''।

ये "**णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं**" आदि ४८ मंत्र गणधरवलय मन्त्र कहे जाते हैं।। बृहत्प्रतिक्रमणपाठ में प्रतिक्रमणभक्ति में इनका प्रयोग है।

इन मंत्रों का मंगलाचरण धवला की नवमीं पुस्तक में है–

एवं दव्वट्ठिय जणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारओ महाकम्म–पयडिपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियाणुग्गहट्ठमुत्तर सुत्ताणि भणदि।[1]

दूसरे सूत्र की उत्थानिका में विशेष स्पष्टीकरण हो रहा है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय से जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्म प्रकृति प्राभृत के आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिक नय युक्त शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं–

णमो ओहिजिणाणं।।२।।

ये मंत्र आदि श्रीगौतमस्वामी द्वारा रचित ही हैं। इसके लिये षट्खंडागम आदि के प्रमाण देखिये।

षट्खंडागम में ये मंत्र ४४ हैं और प्रतिक्रमण पाठ में ४८ हैं।

(४८) णमो वड्ढमाणबुद्धरिसिस्स।।४४।

वर्धमान बुद्ध ऋषि को नमस्कार हो।।४४।।

शंका–जबकि वर्धमान भगवान् को पूर्व में नमस्कार किया जा चुका है तो फिर यहाँ दुबारा नमस्कार किसलिये किया गया है ?

समाधान— जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणयियं पउंजे।
कायेण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण[2]**।।**

---

१. धवला पुस्तक ९ पृ. १२। २. षट्खण्डागम (धवला टीका) पु. ९ पृ. १०३।

'जिनके समीप धर्मपथ प्राप्त हो, उनके निकट विनय का व्यवहार करना चाहिये तथा उन्हें सिर झुकाकर पांच अंग–पंचांग एवं काय, वचन और मन से नित्य ही सत्कार–नमस्कार करना चाहिये।' इस आचार्य परंपरागत नियम को बतलाने के लिये पुनः नमस्कार किया गया है।

प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में यह मंत्र ऐसा है–

णमो भयवदो महदिमहावीर वड्ढमाणबुद्धरिसिणो चेदि।

जो भगवान सहज विशिष्ट मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञान के धारी और पूजा के अतिशय को प्राप्त हैं, महतिमहावीर और वर्धमान नाम के धारक अंतिम तीर्थंकर हैं, बुद्धर्षि–प्रत्यक्षवेदी–केवलज्ञान के धारी हैं। रुद्र के द्वारा किये गये उपसर्ग को जीतने से 'महतिमहावीर' यह नाम प्रसिद्ध हुआ है। इन अंतिम तीर्थंकर के वर्धमान, वीर, महावीर, सन्मति और महतिमहावीर ऐसे पांच नाम विख्यात हैं। ऐसे वर्धमान भगवान को नमस्कार होवे।

५. **सुदं मे आउस्संतो!**—इसमें मुनिधर्म एवं श्रावक धर्म का वर्णन है।

६. **श्रावक प्रतिक्रमण**—इसमें पाक्षिक श्रावक से लेकर उत्कृष्ट श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक तक की ग्यारह प्रतिमाओं का प्रतिक्रमण है।

७. **दैवसिक प्रतिक्रमण**—मुनि–आर्यिका आदि जिस प्रतिक्रमण को प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल में करते हैं वह दैवसिक–रात्रिक प्रतिक्रमण है।

८. **पाक्षिक प्रतिक्रमण**—पन्द्रह दिन में होने वाला या चार महीना या वर्ष में होने वाला बड़ा प्रतिक्रमण है। अष्टमी क्रिया में होने वाली आलोचना–ये तीनों प्रतिक्रमण श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित हैं। यह रचनायें साक्षात् उनके मुखकमल से विनिर्गत हैं।

ऐसे ही पाक्षिक प्रतिक्रमण में एक स्थल पर स्वयं श्रीगौतमस्वामी ने अपने नाम को संबोधित किया है। यथा–

जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोदम। सारं झाणं त्ति णामेण, सव्वबुद्धेहिं देसिदं।।

श्री गौतम ! सर्वसारों में भी जो सार है वह सार 'ध्यान' इस नाम से कहा गया है ऐसा सभी सर्वज्ञ भगवंतों ने कहा है।

इस उद्धरण से भी ये रचनायें श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत हैं। ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

पं. लालाराम जैन शास्त्री ने भी वीर निर्वाण संवत् २५५७ ईसवी सन् १९३१ में चैत्यभक्ति का अनुवाद करके 'दशभक्त्यादि संग्रह' पुस्तक में आज से ८४ वर्ष पूर्व ये वाक्य लिखे थे–

''चैत्यभक्ति की टीका के प्रारंभ में लिखा है कि—

श्री वर्द्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी ''जयति भगवान्'' इत्यादि स्तुतिमाह।

अर्थ—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी के प्रत्यक्ष दर्शन कर '**जयति भगवान्**' इन शब्दों से प्रारंभ करते हुए स्तुति की।

बृहद्द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका में भी लिखा है :—

ततश्च जयति भगवान् इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचनानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोपि (गौतम-अग्निभूत-वायुभूत-नामानः) गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थैः द्वादशांगश्रुतरचनां कृतवान्।

तदनन्तर गौतम–अग्निभूति–वायुभूति इन तीनों विद्वानों ने "जयति भगवान्" इत्यादि शब्दों से स्तुति करते हुए भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया। जिनदीक्षा ग्रहण की और केशलोच करने के अनन्तर ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान चारों ज्ञान उनको प्रगट हो गये तथा सातों प्रकार की ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं। इस प्रकार वे तीनों ही मुनि उसी समय भगवान् महावीर स्वामी के गणधर हुए। उनमें से गौतमस्वामी ने भव्य जीवों का उपकार करने के लिए द्वादशांग श्रुतज्ञान की रचना की।

इस ऊपर के कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह चैत्यभक्ति महावीर स्वामी के केवलज्ञान के समय की बनी हुई है अर्थात् चतुर्थकाल में जब तेतीस वर्ष साढ़े आठ महीना शेष रह गये थे, उस समय की यह रचना है। ऐसी–ऐसी चतुर्थकाल की रचनाएँ न जाने कितनी हैं, जो अज्ञानता के कारण हमें मालूम नहीं हैं।"

वर्तमान में वीर नि. सं. २५४१ चल रहा है। भगवान महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्ति से ३० वर्ष पूर्व केवलज्ञान हुआ था, अतः आगे आने वाली श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को इस चैत्यभक्ति के २५७१ वर्ष पूर्ण होकर २५७२वीं चैत्यभक्ति जयंती आयेगी।

आप प्रतिवर्ष श्रावण कृ. १ को वीरशासन जयंती पर्व के साथ-साथ चैत्यभक्ति-जयंती पर्व भी मनाएं।

भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में प्रभु के प्रथम गणधरदेव श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकली हुई यह 'श्री गौतम गणधर वाणी' अतिशय महिमापूर्ण है। इसकी अमृतवर्षिणी टीका आप सभी के जीवन में ज्ञानरूपी अमृत को प्रदान करें, आप सभी इसे पढ़कर असंख्यात गुणा पुण्य का संपादन करें, यही मेरी मंगल भावना है।

२५–३० वर्षों से श्री गौतमस्वामी के प्रतिक्रमण सूत्रों में संशोधन, परिवर्तन व परिवर्धन देखा जा रहा है जो कि अनुचित कार्य है। इसमें मैंने पृ. ३२८ पर कुछ परिवर्तित पाठों का उल्लेख किया है। सभी साधुओं एवं विद्वानों से मेरा यह कहना है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर और इस बात को जानकर अब शुद्ध एवं प्राचीन पाठ ही पढ़ें, परिवर्तित पाठ न पढ़ें। यह श्री गौतम गणधर वाणी और उस पर अमृतवर्षिणी टीका आप सभी के जीवन में मंगलकारी हो, यही मंगल कामना है।

प्रस्तावना

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

वंदूँ वीर जिनेन्द्र को, मन वच तन कर शुद्ध।
उनके गणधर शिष्य को, नमूँ हृदय कर शुद्ध।।

यह हम सभी का परम सौभाग्य है कि आज इस पंचमकाल में भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी की वाणी को, चतुर्थकाल की वाणी को पढ़ने का, सुनने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। यह सुन्दर अवसर जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, चारित्र चन्द्रिका, युगप्रवर्तिका, सिद्धान्तचक्रेश्वरी, राष्ट्रगौरव, दिव्यशक्ति परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की लेखनी व वाणी से प्राप्त हो रहा है। श्री गौतमस्वामी के मुख से निकली—१. चैत्यभक्ति, २. दैवसिक प्रतिक्रमण, ३. पाक्षिक प्रतिक्रमण और ४. श्रावक प्रतिक्रमण आदि रचनाएँ आज हमें परम्परा से मौखिकज्ञान से प्राप्त हैं। इन्हीं रचनाओं में से मैटर लेकर पूज्य माताजी ने श्री गौतम गणधर वाणी पुस्तक में १० अध्यायों में विभक्त करके संकलन किया है। जिनका मूल (संस्कृत एवं प्राकृत), पद्यानुवाद एवं अर्थ सहित '**श्री गौतम गणधर वाणी**' नाम की एक छोटी पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। अब इन १० अध्यायों पर पूज्य माताजी ने अमृतवर्षिणी टीका लिखकर एवं संकलन करके हम सबको प्रदान की है। जिसे चार भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें से प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है जिसमें मंगलाचरण सहित चैत्यभक्ति,कृतिकर्म ऐसे २ अध्याय हैं। सर्वांगीण चारों अनुयोगों का ज्ञान कराने वाली श्री गौतम गणधर वाणी की अमृतवर्षिणी टीका के प्रथम भाग का स्वाध्याय भव्यजीवों के जीवन में, हृदय में ज्ञानरूपी अमृत की वर्षा करने वाला है।

वीर. नि. सं. २५४० श्रावण कृष्णा एकम् (सन् २०१४) को परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की पावन प्रेरणा एवं सानिध्य में '**श्री गौतम गणधर वर्ष**' का उद्घाटन हुआ, जो कि वीर नि. सं. २५४१ श्रावण कृष्णा एकम् (सन् २०१५) तक मनाया जाएगा। इसी वर्ष के अन्तर्गत पूज्य माताजी की यह अनुपम निधि, बहुमूल्य कृति '**श्री गौतम गणधर वाणी**' पर '**अमृतवर्षिणी टीका**' का प्रकाशन हो रहा है।

इस गौतम गणधर वाणी की अमृतवर्षिणी टीका के द्वितीय भाग में ३ अध्याय हैं—**१. सुदं मे आउस्संतो! (श्रावक धर्म) २. एकादश प्रतिमा, ३. निषीधिका दण्डक।**

इसमें सर्वप्रथम मंगलाचरण में भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया है जिनके केवलज्ञान में तीनों लोक गोष्पद अर्थात् गाय के पैर के गड्ढे के समान लघु प्रतीत होते हैं।

१. सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म)—पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत इसमें श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकले दण्डक सूत्र एवं पद्यानुवाद दिया है। '**पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदि महावीरेण.....**

हे आयुष्मन्तों ! पहले ही यहाँ मैंने सुना वीर प्रभु से।
उन महाश्रमण भगवान् महति महावीर महाकाश्यप जिन से।।
सर्वज्ञज्ञानयुत सर्वलोकदर्शी उनने उपदेश दिया।
श्रावक व श्राविका क्षुल्लक अरु क्षुल्लिका इन्हों के लिए कहा।।

२. सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म) अमृतवर्षिणी टीका—इसमें पूज्य माताजी ने एक–एक पद को लेकर उसका अर्थ किया है और प्रश्नोत्तर करते हुए विश्लेषण किया है। हे आयुष्मंतों ! मैंने सुना है–भगवान महावीर ने श्रावक–श्राविका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका के लिए उपदेश दिया है। क्या उपदेश दिया है ? पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के १२ व्रत धर्म हैं, सम्यक्त्व के आठ अंग, श्रावक की ११ प्रतिमा, सप्तव्यसन त्याग, सम्यग्दृष्टी और व्रती कहाँ जन्म नहीं लेते और कहाँ–कहाँ जन्म लेते हैं आदि विषयों का वर्णन है। इसके साथ ही सम्यग्दृष्टी उत्कृष्टरूप से और जघन्यरूप से कितने भव ग्रहण करते हैं आदि विषयों का भी स्पष्टीकरण किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एक गाथा में लिखा है कि अणुव्रती, महाव्रती देवायु के सिवाय अन्य किसी आयु का बंध ही नहीं कर सकता–

'अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।'

३. ''तत्थ पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं''—इसमें पाँच अणुव्रत के वर्णन में पहले अहिंसा अणुव्रत का वर्णन है। अहिंसा अणुव्रत का लक्षण बताते हुए हिंसा के चार भेद–संकल्पी हिंसा, आरंभी हिंसा, उद्योगिनी हिंसा एवं विरोधिनी हिंसा का लक्षण दिया है और यह बताया है कि गृहस्थ इसमें से संकल्पी हिंसा का ही त्याग कर सकता है अन्य हिंसा तो गृहस्थ में होती ही हैं लेकिन वे क्षम्य हैं।

४. ''विदिए गुणव्वदे विविध–अणत्थदण्डादो वेरमणं''—इसमें दूसरे गुणव्रत अनर्थदण्डविरति गुणव्रत का वर्णन है। अनर्थदण्डविरति गुणव्रत का लक्षण बताते हुए अनर्थदण्ड के ५ भेद—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या का वर्णन किया है और फिर इन अनर्थदण्डों का त्याग करने के लिए कहा है।

५. ''तदिये गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि''—इसमें तीसरे गुणव्रत भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत का वर्णन है। भोग और उपभोग दोनों शब्द का अर्थ करते हुए सर्वथा त्याग योग्य पदार्थों के नाम बताए हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोग परिसंख्यान के विषय में त्याग के २ प्रकार माने हैं—नियम और यम। जिनका वर्णन इसमें अच्छी तरह से किया है। भक्ष्य, अभक्ष्य पदार्थों का, दूध–जल को प्रासुक करने की विधि का भी वर्णन है।

६. विदिए पोसहोवासयं''—द्वितीय शिक्षाव्रत का नाम प्रोषधोपवास है। श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का लक्षण, उपवास के दिन त्याज्य कार्य, उपवास के दिन करने योग्य कार्य का वर्णन किया है। इसके साथ ही प्रोषध एवं उपवास का अलग–अलग भी लक्षण दिया है और यह लिखा है कि सल्लेखना की सिद्धि के लिए जीवन में उपवास का अभ्यास बहुत आवश्यक है।

७. ''तदिये अतिथिसंविभागो''—तीसरा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग है। अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का लक्षण, आहारदान की विधि, आहारदान का फल, आहारदान के पात्र के भेद एवं अल्पदान से महाफल की प्राप्ति उदाहरण देकर बताया है।

८. ''से अभिमदजीवाजीव–उवलद्धपुण्णपाव–आसवसंवरणिज्जरबंधमोहमहिकुसले—

श्री गौतमस्वामी ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इस क्रम से ९ पदार्थ माने हैं। इन सभी का लक्षण बताते हुए जीव पदार्थ में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का विशेष विवेचन किया है। चौरासी लाख योनियों में होने वाले जीव का वर्णन, आकृति योनि के ३ भेद, जन्म के तीन भेद एवं गुणयोनि के नौ भेदों एवं ८४ लाख योनि के भेदों का भी वर्णन है।

आस्रव पदार्थ के विशेष विवेचन में आस्रव का लक्षण एवं भेद बताए हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का लक्षण बताते हुए इनके भेदों का भी वर्णन है। आस्रव के ५७ भेद 'आस्रवत्रिभंगी' ग्रंथ में भी माने हैं। सम७रम्भ, समारम्भ, आरम्भ आदि के भेद से आस्रव के १०८ भेद भी बताए हैं। आठों कर्मों के आस्रव के विशेष कारणों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ से सूत्र सहित इसमें दिया है।

संवर पदार्थ का विशेष विवेचन करते हुए संवर के ५७ भेद एवं १०८ भेद का वर्णन है। बंध पदार्थ के विशेष विवेचन में बंध के भेद—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध का वर्णन करते हुए बंध के कारण भी बताए हैं। कौन से गुणस्थान में कौन सा बंध होता है ? इस विषय का भी वर्णन है।

इसमें क्रियाकलाप, षट्खण्डागम, धवला पु. १३, समयसार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, पंचास्तिकाय, भावसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों से सप्रमाण देते हुए नवपदार्थ के अन्तर का चार्ट भी दिया है। पूज्य माताजी ने इसमें यह भावना व्यक्त की है कि जिस ग्रंथ में नवपदार्थ का जैसा क्रम है उसी क्रम से ही हम सबको पढ़ना है उसमें संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन नहीं करना है।

९. ''णिस्संकिय–णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।''—सम्यग्दृष्टि के आठ अंग–निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन सभी का लक्षण बताते हुए अंगहीन सम्यग्दर्शन की असमर्थता का वर्णन किया है।

आठ अंग में प्रसिद्ध भव्य जीवों की कथायें क्रम से अंजनचोर, अनंतमती, उद्दायन राजा, रेवती रानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ, मुनि वारिषेण, विष्णुकुमार मुनि एवं वज्रकुमार मुनि की दी हैं।

१०. भयवदा महदि महावीरेण.....
पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि.....''

इसमें श्रावक के १२ व्रतों का वर्णन किया है। अणुव्रत का लक्षण, अणुव्रत के पाँच भेद—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहप्रमाण अणुव्रत का लक्षण, पंचाणुव्रत धारण का फल, पंचाणुव्रतधारियों में जगत्प्रसिद्ध होने वालों के नाम एवं पाँच पापों में प्रसिद्ध व्यक्तियों का वर्णन है।

तीन गुणव्रत–दिग्विदिक्, अनर्थदण्डविरति, भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत का लक्षण बताते हुए भोग और उपभोग वस्तुओं के बारे में भी वर्णन है।

चार शिक्षाव्रत में—सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग का लक्षण बताते हुए दान का लक्षण, नवधा भक्ति का भी वर्णन किया है। सल्लेखना शिक्षाव्रत का लक्षण बताते हुए सल्लेखना की आवश्यकता समाधिमरण के लिए बताई है।

ग्रंथों में तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत में अन्तर है, अतः यहाँ पर चार्ट के मध्यम से ७ ग्रंथों से उनके अन्तर को दिखाया है।

पाँच अणुव्रत में प्रसिद्धजनों की कथाओं में क्रम से यमपाल चांडाल, धनदेव, वारिषेण, सती नीली एवं जयकुमार की कथा का सुन्दर वर्णन है।

पाँच पाप में प्रसिद्ध जनों की कथाओं में क्रम से धनश्री, सत्यघोष, अपसर तापसी, यमदण्ड कोतवाल एवं श्मश्रुनवनीत की रोमांचक कथा का भी इसमें वर्णन है।

११. ''तत्थ पढमे सामाइयं''—इसमें प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का विशेष विवेचन किया है। श्रावकों को प्रातः देवपूजापूर्वक सामायिक करने का विधान है। भावसंग्रह (संस्कृत) में लिखा है—

''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया'' अर्थात् देवपूजा के बिना श्रावकों की सामायिक क्रिया दूर है अर्थात् पूर्ण नहीं होती है।

१२. ''तदिये अतिथिसंविभागो''—इसमें अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का विशेष विवेचन है। आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान अतिथिसंविभाग व्रत के ये ४ भेद बताए हैं। इसमें चार दान में प्रसिद्धजनों की कथायें भी दी हैं, जिनमें क्रम से राजा श्रीषेण,, वृषभसेना, कौंडेश राजा एवं सूकर की कथा का संक्षिप्त वर्णन है।

१३. ''महु–मंस–मज्ज–जूआ, वेसादिविवज्जणासीलो।''—इस प्रकरण में श्रावक के अष्ट मूलगुण एवं सप्तव्यसन त्याग का वर्णन है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ से इसमें बताया है कि जो मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करता है वही पुरुष जिनधर्म की देशना का पात्र होता है। अन्य श्रावकाचारों में भिन्न–भिन्न प्रकार से आठ मूलगुण बताए हैं। उनका भी इसमें वर्णन किया है।

''पंचाणुव्वयजुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।''

मद्य, मांस, मधु और सप्तव्यसन त्याग करके श्रावक पाँच अणुव्रत धारण करें एवं ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत ग्रहण करे आगे इसमें इस बात को बताया है।

१४. ''जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डुय खुड्डियाओ वा''...—व्रती श्रावक कहाँ–कहाँ जन्म नहीं लेते ? देवियों की उत्पत्ति के स्थान कहाँ हैं ? देवों के भेद, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिर्वासी देव, कल्पवासी देव, १६ स्वर्गों के नाम, बारह कल्प, कल्पातीत, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों का इस प्रकरण में वर्णन है।

१५. सप्तपरमस्थान में सज्जाति परमस्थान—सज्जाति, सदृगृहस्थ, पारिव्राज्य, सुरेन्द्र, साम्राज्य, आर्हन्त्य और निर्वाण ये सप्त परमस्थान हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम से इन परमस्थानों को प्राप्त कर लेता है। इसमें प्रथम सज्जाति परमस्थान का वर्णन है, जिसके होने पर ही आगे के स्थान प्राप्त हो सकते हैं। अगर सज्जाति नहीं है तो वह मनुष्य दीक्षा का पात्र नहीं है। आदिपुराण, उत्तरपुराण, श्री कुन्दकुन्द कृत आचार्यभक्ति, त्रिलोकसार, उपासकाध्ययन, पद्मपुराण आदि ग्रंथों से प्रमाण एवं उदाहरण देते हुए इसमें सज्जाति परमस्थान का लक्षण सिद्ध किया है।

१६. सद्गार्हस्थ्य परमस्थान—दूसरा परमस्थान सद्गार्हस्थ्य है। सज्जाति परमस्थान वाला ही मनुष्य सद्गृहस्थ परमस्थान को प्राप्त करता है। वह श्रावक के षट्कर्तव्यों–देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इनका पालन करता है। जयधवला पुस्तक–१ से इसमें श्रावकों के दान, पूजा, शील और उपवास ये चार धर्म बताएं हैं और कहा है ये चारों ही प्रकार का श्रावकधर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है, फिर भी श्रावकों की यह हिंसा क्षम्य है, शुभास्रव के द्वार को खोलने वाली है।

१७. सूतक–पातक वर्णन—घर में बालक का जन्म होने पर सूतक एवं किसी के मरण होने पर पातक लगता है, जिसमें कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि कार्य वर्जित किए जाते हैं। कितनी पीढ़ी वालों के लिए कितने दिन का सूतक–पातक लगता है ? जन्म के सूतक में मरण का सूतक आ जाए तो वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है आदि अनेक विषयों का वर्णन है। किसको सूतक नहीं लगता है ? इस बात का भी खुलासा है।

१८. रजस्वला स्त्री का अशौच—महीने–महीने में जो रजःस्राव होता है, उस समय वे स्त्रियाँ रजस्वला कहलाती है। उन दिनों उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए, देव और गुरु का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। तीन दिन तक इसका पालन करना चाहिए और चौथे दिवस स्नान कर घर के काम–काज कर सकती हैं। जो स्त्रियाँ रजस्वला के दिनों में अशौच का पालन नहीं करती, सबको छूती है, भोजन बनाती हैं उनके इस लोक में स्वास्थ्य के साथ धर्म की हानि होती है, पाप का संचय होता है। इन बातों को इसमें पढ़कर महिलाओं को इस विषय पर विशेष ध्यान देना है।

अंत में '**सुदं मे आउस्संतो!**' (**श्रावक धर्म**) का सार बताते हुए पूज्य माताजी ने लिखा है कि यह सभी बातें श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकली हुई हैं, चतुर्थकालीन हैं अतः सभी को जिनधर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हुए इन्हें अपने जीवन में धारण करके परम्परा से एक दिन मोक्ष पद को प्राप्त करना है।

इस प्रकार से श्री गौतमस्वामी प्रणीत श्री गौतम गणधर वाणी में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती विरचित '**अमृतवर्षिणी टीका**' में '**सुदं मे आउस्संतो !**' (**श्रावक धर्म**) नाम का तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

इसकी पूर्णता पर पूज्य माताजी ने सप्तपरमस्थान स्तुति एवं जिनेन्द्र स्तुति दी है जिसे पढ़कर भव्यात्मा जिनेन्द्रदेव की भक्ति का फल प्राप्त करें।

१९. एकादश प्रतिमा—श्री गौतमस्वामी विरचित श्रावक प्रतिक्रमण से उद्धृत एकादश प्रतिमा अध्याय–४ में सर्वप्रथम प्राकृत, संस्कृत श्लोक एवं पद्यानुवाद है। जिनका व्रती श्रावकों को प्रतिदिन पाठ करना चाहिए।

२०. ग्यारह प्रतिमाओं के नाम एवं लक्षण—इसमें ग्यारह प्रतिमाओं के अर्थात् दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्ति व्रत प्रतिमा अथवा रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का लक्षण दिया है। ग्यारहवीं प्रतिमा के २ भेद–क्षुल्लक एवं ऐलक के बारे में एवं किस प्रतिमा तक जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट श्रावक हैं, आदि का वर्णन है।

२१. ''सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसणसावओ भणियो।''—इसमें दर्शन प्रतिमाधारी का लक्षण सम्यक्त्व से विशुद्ध मति वाले को बताया है। इसकी अमृतवर्षिणी टीका में पूज्य माताजी ने सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के

कारण–नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति में धवला पुस्तक–६ से शंका–समाधान पूर्वक दिए हैं।

श्री कुंदकुंददेव ने सम्यक्त्व के अंतरंग और बहिरंग हेतु को बताते हुए कहा है–

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।

अर्थात् जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष (महर्षि) सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त हैं और दर्शन मोहनीय का क्षय, क्षयोपशम आदि अंतरंग हेतु है।

औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण बताते हुए सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए पाँच लब्धि–क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि का विशेषार्थ सहित लक्षण दिया है। प्रायोग्यलब्धि में प्रकृति बंधापसरण के ३४ स्थान के नाम एवं करणलब्धि के ३ भेद–अधःप्रवत्तकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण का भी लक्षण दिया है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण को धवला पु. ६ से वर्णन करते हुए निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व का तत्त्वार्थवार्तिक एवं लब्धिसार ग्रंथ से विशेष वर्णन किया है। काललब्धि किसे कहते हैं ? काललब्धि में पांचों लब्धियाँ गर्भित हैं इस विषय का सर्वार्थसिद्धि एवं धवला पु. ६ से विशेष वर्णन है।

उपशम सम्यक्त्व किसको होता है ? सम्यक्त्व का लक्षण कषायपाहुड़ ग्रंथ, धवला पु. ६, धवला पुस्तक–१, गोम्मटसार जीवकांड, भगवती आराधना आदि ग्रंथों से गाथा सहित सप्रमाण दिया है। शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में सम्यक्त्व का लक्षण लिखा है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्त णिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो विहु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो।।

अर्थात् जो जीव सूत्रनिर्दिष्ट समस्त वाङ्मय का श्रद्धान करता हुआ भी यदि एक पद का व एक अक्षर का भी श्रद्धान नहीं करता है तो वह समस्त श्रुत की रुचि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण एवं मध्यम में अनेक भेद बताए हैं। लब्धिसार ग्रंथ में लिखा है—'कोई भी मनुष्य जब गुरु के नियोग से असत् अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है लेकिन जब अन्य आचार्य के द्वारा सूत्र को दिखाकर सम्यक् स्वरूप बतलाने पर यदि वह अपनी पूर्व मान्यता की हठ बुद्धि को नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए इसमें बताया है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भव से या तृतीय अथवा चौथे भव से नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण इसमें किया है। स्त्रियों में कौन से सम्यक्त्व होते हैं ? भावस्त्रीभेद में चौदहों गुणस्थान होते हैं इसका खुलासा धवला पु. १ से किया गया है।

सम्यक्त्व के २ भेद—निसर्गज, अधिगमज एवं आज्ञा, मार्ग, उपदेश समुद्भव आदि १० भेदों का भी लक्षण सहित वर्णन हैं।

इसके बाद वीतराग एवं सराग सम्यक्त्व का कषायपाहुड़, लब्धिसार, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थवार्तिक आदि ग्रंथों से सुन्दर वर्णन है।

पूज्य माताजी ने ११ प्रतिमा स्थानों में से प्रथम स्थान दर्शनप्रतिमा को लेकर उस पर सम्यक्त्व की विस्तृतरूप से अमृतवर्षिणी टीका करते हुए तत्सम्बन्धी सर्वांगीण विषयों का इसमें समावेश प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथों के आधार से किया है। मोक्ष तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्व होना, सम्यग्दृष्टि होना अति आवश्यक है। आशा है पाठकगण इस प्रकरण को पढ़कर अवश्य अपने जीवन में मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दर्शन को धारण करके एक दिन मोक्षपद के अधिकारी हो जाएंगे।

२२. **सप्तव्यसन त्यागी ही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है**—इसमें व्यसन का अर्थ एवं सप्त व्यसनों के नाम बताते हुए सप्त व्यसन के दोष दिखाए हैं। जुँआ, माँस, मदिरा, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी, परस्त्री सेवन के दोष पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रंथ के आधार से बताकर इनसे दूर रहने की प्रेरणा प्रदान की है।

२३. ''**तत्थ पढमे सामाइयं**''—द्वितीय प्रतिमा—व्रत प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप आ जाता है। इसमें सामायिक व्रत का लक्षण, देवपूजा एवं सामायिक की विधि का वर्णन श्री वामदेव विरचित भावसंग्रह ग्रंथ के आधार से है।

श्रावकों की देवपूजा में चार कृतिकर्म होते हैं, सामायिक में देवपूजा का विधान भावसंग्रह ग्रंथ व श्री पूज्यपाद विरचित अभिषेक पाठ में वर्णित हैं। इसमें श्रावकों के लिए देवपूजा में चार भक्ति–सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति व शांतिभक्ति पढ़ने का विधान है।

नित्य पूजा के प्रारम्भ में करने योग्य विधि श्री पूज्यपाद स्वामी के अभिषेक पाठ एवं प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ के आधार से इसमें बताई है। प्रारम्भ में पूजामुखविधि एवं समापन में पूजाअन्त्यविधि करने का विधान है। यह विधि जम्बूद्वीप पूजांजलि में भी प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ के आधार से दी है।

श्रावकों की चार क्रियायें–दान, पूजा, शील और उपवास, पूजा में पंचामृत अभिषेक, पुष्पवृष्टि, चंदन चर्चन आदि विधि के वर्णन का सबसे बड़ा प्रमाण कषायपाहुड़ ग्रंथ की टीका जयधवला में आता है। इसे यहाँ पर सप्रमाण दिया है।

श्रावकों की छह आवश्यक क्रियाओं में देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान में भी देवपूजा को लिया है, इसके सिवाय भी श्रावक की छह क्रियायें–इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप बताई हैं। इन सभी का लक्षण एवं इनके भेदों का इसमें सुन्दर वर्णन है।

२४. ''**सम्मत्तमरणं समाहिमरणं**''—इसमें समाधिमरण का लक्षण, सल्लेखना की आवश्यकता, सल्लेखना की विधि, समाधि में आलोचनापूर्वक महाव्रत धारण का उपदेश, महाव्रत ग्रहण के बाद स्वाध्याय करने का उपदेश, सल्लेखनाधारी के भोजन के त्याग का क्रम, सल्लेखना में भोजन त्याग का शेष कथन एवं सल्लेखना के पाँच अतिचार आदि का वर्णन है।

२५. ''**पंडियमरणं**''—मनुष्य आदि पर्याय का नाश होना मरण है। मरण के ५ भेद–पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण का इसमें मूलाराधना, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, आचारसार

आदि ग्रंथों से विशेष वर्णन है। एक मुनि की सल्लेखना में ४८ मुनियों की आवश्यकता हाती है, ये मुनि क्या–क्या उपकार करते हैं इसका भी वर्णन इसमें विस्तृतरूप से किया है।

२६. देवदुर्गति क्या है ?—देवदुर्गति क्या है ? बोधि क्या है ? किससे मरण नहीं जाना जाता है ? और किस कारण से यह जीव अनन्तरूप संसार में परिभ्रमण करता है ? आदि विषयों का इसमें मूलाचार से विशेष वर्णन है। मरणकाल में विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियां होती हैं।

२७. दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण—इसमें पूज्य माताजी ने वसुनन्दिश्रावकाचार से विशेष विवेचन किया है। पाँच उदुम्बर फल सहित सप्त व्यसन त्यागी दर्शन प्रतिमाधारी है। सप्त व्यसन के दोषों का इसमें विस्तृत वर्णन है जिसे पढ़कर श्रावकों को उसका त्याग कर देना चाहिए।

२८. अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का स्वरूप—इसमें भी वसुनन्दिश्रावकाचार से विशेष विवेचन है। इसमें अतिथि संविभाग के पाँच अधिकार—पात्रों का भेद, दातार, दान–विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दान का फल इनका उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार वर्णन है। इसे पढ़कर देशविरति श्रावकों को दान अवश्य करना चाहिए।

२९. विशेष विवेचन—इसमें सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा एवं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का विशेष विवेचन है। देशविरति श्रावकों को किन कार्यों के करने में अधिकार नहीं है इसका भी वर्णन किया है।

३०. रात्रिभोजन दोष वर्णन—इसमें वसुनन्दि श्रावकाचार से रात्रिभोजन दोष का वर्णन है, जिसे पढ़कर श्रावकों को रात्रि भोजन का त्याग मन, वचन, काय से कर देना चाहिए।

३१. ''जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं''—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये जिनेन्द्र भगवान के गुण हैं। इसमें नवकेवललब्धि का वर्णन करते हुए यह भावना भाई है कि केवली भगवान नवकेवल–लब्धि के स्वामी होते हैं। भगवान के इन गुणों की प्राप्ति मुझे भी होवे।

३२. एकादश प्रतिमा का सार—पूज्य माताजी ने इसमें लिखा है कि यद्यपि 'सुदं मे आउस्संतो ! में एकादश प्रतिमा व्रतों के नाम आए हैं फिर भी श्री गौतमस्वामी प्रणीत श्रावक प्रतिक्रमण में ग्यारह प्रतिमा व्रतों के एक–एक श्लोक में लक्षण दिए गए हैं। अतः इसे अलग अध्याय के रूप में संकलित किया है। इसमें सार में लिखा है कि सामायिक प्रतिमा में नवदेवों की वंदना का विधान है। श्रावकों की सामायिक देवपूजा पूर्वक और देवपूजा अभिषेक पूर्वक होती है। पंचामृत अभिषेक के प्रमाण 'जयधवला' सिद्धान्त ग्रंथ में है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्रावकों की अभिषेक पूजा विधि में सिद्धभक्ति,चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति व शान्तिभक्ति पढ़ने को कहा है जिससे अभिषेक, पूजा के साथ सामायिक भी हो जाती है। दूसरी प्रतिमा में–तृतीय अतिथिसंविभाग व्रत में जो आहारदान का विषय है उसे वसुनन्दि श्रावकाचार के आधार से पात्र व दान के भेदों का अर्थात् मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका की चर्या का वर्णन है।

एकादश प्रतिमा के समापन पर पूज्य माताजी ने नवदेवता स्तोत्र एवं तीर्थंकर स्तोत्र दिया है, जिसे पढ़कर नवदेवों की भक्ति करते हुए तीर्थंकर के पंचकल्याणक का वर्णन पढ़कर महान पुण्य का संचय करें।

३३. निषीधिका दण्डक—श्री गौतम गणधर वाणी की पांचवी अध्याय निषीधिका दण्डक है। इसमें प्राकृत एवं उसका पद्यानुवाद है। अत्यन्त सरल एवं सुन्दर शब्दों में इसका पद्यानुवाद करते हुए पूज्य माताजी ने लिखा है—

हे अर्हंत सिद्ध बुद्धा, नीरज निर्मलसम मन सुमना।
हे सुसमर्थ परम शमयोग, शमभावी हे भवशमना।।
शल्य दुखित के शल्यविनाशन, हे निर्भय निराग निर्दोष।
हे निर्मोह विगत ममता, निःसंग तथा निःशल्य विरोष।।

३४. निषीधिका दण्डक (अमृतवर्षिणी टीका)—श्री गौतमस्वामी विरचित प्रतिक्रमण दण्डक सूत्रों पर श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने संस्कृत टीका की है। यहाँ पर श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने निषीधिका में १७ प्रकार बताए हैं। इन सभी का इसमें वर्णन किया है। इसमें प्रारम्भ में जिनेन्द्रदेव को तीन बार नमस्कार करने से अतिभक्ति सूचित होती है। निषीधिका को भी तीन बार नमस्कार किया है। निषीधिका शब्द से सामान्यतया तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियाँ ली जाती हैं अथवा सामान्य केवली आदि के भी निर्वाण स्थान निषीधिका कहलाते हैं।

इसमें तीर्थ, ब्रह्मचर्यवास एवं चैत्य का वर्णन है। सिद्ध निषीधिकाएँ कहाँ–कहाँ हैं ? कितनी हैं ? संयमियों के ४ भेद कौन से हैं ? ढाईद्वीप में चतुर्विध संघ कहाँ–कहाँ पाया जाता है ? आदि का इसमें वर्णन है।

३५. 'अरहंत ! सिद्ध !''—इसमें अर्हंत का स्वरूप एवं पंचकल्याणक का वर्णन है। तिलोयपण्णत्ति एवं आदिपुराण ग्रंथ से अर्हंत के ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्य का वर्णन है। अरिहंत में ४६ गुण—३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य, ४ अनंतचतुष्टय होते हैं, १८ दोष नहीं होते और जिन्होंने चार घातियाँ कर्मों को नष्ट कर दिया है वे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं। इसमें एक दोहे में ४६ गुणों का समावेश है—

चौतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।
अनंतचतुष्टय गुण सहित, छियालीसों पाठ।।

जन्म के १० अतिशय, केवलज्ञान के १० अतिशय एवं देवकृत १४ अतिशयों का एवं ८ प्रातिहार्य, अनंत चतुष्टय का पद्य में सुन्दर वर्णन किया गया है। अठारह दोषों के नाम भी इसमें दिए हैं।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए उनके आठ गुणों का वर्णन हैं—

समकित दर्शन ज्ञान वीर्य, सूक्ष्मत्व तथा अवगाहन हैं।
अव्याबाध अगुरुलघु ये, सिद्धों के आठ महागुण हैं।।

आठ कर्मों के नाश से सिद्धों में कौन से आठ गुण प्रगट होते हैं ? इसका भी वर्णन है।

३६. ''गुणरयणसीलसायर''—३६ प्रकार के उत्तरगुणों का पालन करने वाले आचार्य या सामान्य मुनि उत्तर गुणधारी कहलाते हैं। इसमें शील के १८,००० भेदों का वर्णन मूलाचार से एवं अन्य प्रकार से भी किए हैं। चौरासी लाख उत्तरगुणों का भी वर्णन है। इन अठारह हजार शीलों की एवं चौरासी लाख उत्तरगुणों की पूर्ति अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में होती है। उसके पहले दिगम्बर मुनि इनकी भावना भाते हुए इन्हीं की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ करते हैं।

३७. ''तवो य वारसविहो।''—इसमें द्वादश तप का वर्णन है। छः बाह्य तप–अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन एवं छः अंतरंग तप–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग इनके लक्षण सहित वर्णन हैं। प्रायश्चित्त तप के आलोचना, प्रतिक्रमण आदि १० भेद बताए हैं। इसमें आलोचना करते समय दस दोषों–आकंपित, अनुमादित आदि का त्याग करने को कहा है। साधु दस दोषों से रहित आलोचना करके गुरुमुख से प्रायश्चित्त ग्रहण कर दोषों से मुक्त हो जाते हैं। विनय तप के दर्शन, ज्ञान आदि ५ भेदों का वर्णन है। व्युत्सर्ग तप का अर्थ परिग्रह का त्याग बताया है। इसमें आभ्यंतर और बाह्य २ भेद किए हैं। आभ्यन्तर के १४ एवं बाह्य परिग्रह के १० भेद बताए हैं। व्युत्सर्ग का दूसरा लक्षण भी किया है–शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए तीन गुप्ति का आश्रय लेना और शरीर में भी निस्पृह होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग है। इसके भी भेद–प्रभेद बताए हैं।

चार्ट के माध्यम से १२ तप के क्रम में अन्तर दिखाए हैं जिसमें श्री गौतमस्वामी प्रणीत प्रतिक्रमण पाठ, षट्खण्डागम पु. १३, मूलाचार में नवपदार्थ का क्रम एक है। तत्त्वार्थसूत्र में बदला है। यहाँ पर पूज्य माताजी का यह अभिमत है कि जिस ग्रंथ में जैसा क्रम है उसे वैसा ही रखना। प्रतिक्रमण पाठ में तत्त्वार्थसूत्र के क्रम से परिवर्तन नहीं करना, क्योंकि आचार्यो की कृति में परिवर्तन, परिवर्धन करना अनुचित कार्य है।

३८. व्रतों का वर्णन—इसमें आष्टान्हिक व्रत, रविव्रत, मेघमाला व्रत, दशलक्षण व्रत, सोलहकारण व्रत, सप्त परमस्थान व्रत, चक्रवाल व्रत, सिंहनिष्क्रीडित व्रत, नवलब्धिव्रत, मंगल त्रयोदशी व्रत, सप्तर्षिव्रत, रक्षाबंधन व्रत, वीरशासनजयंती व्रत एवं श्री गौतमस्वामी व्रत, मुक्तावली व्रत आदि ४७ व्रतों का वर्णन हैं। इसमें व्रत की विधि, जाप्य, व्रत का फल एवं व्रतोद्यापन में क्या–क्या करना चाहिए ? आदि का वर्णन है। **'व्रत तिथि निर्णय'** के आधार से गुरु के समक्ष व्रत ग्रहण करने का आदेश एवं गुरु के उपस्थित न रहने पर स्वयं जिनेन्द्र भगवान के सम्मुख व्रत लेते समय अथवा पूर्ण करने पर क्या पढ़ना चाहिए ? मंत्र भी इसमें दिया है।

३९. चौबीस तीर्थंकरों की पंचकल्याणक की तिथियाँ—श्री गुणभद्र आचार्य विरचित उत्तरपुराण ग्रंथ के आधार से इसमें २४ तीर्थंकरों के पंचकल्याणक की तिथियाँ भी चार्ट के माध्यम से दी गई हैं।

४०. ''महरिसी''—इसमें ऋद्धियों का वर्णन है। तपस्या करने वाले मुनि अनेक प्रकार की ऋषियों के स्वामी हो जाते हैं। ऋद्धियों के ८ भेद हैं–बुद्धि ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, क्रिया ऋद्धि, तपऋद्धि, बल ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, रस ऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि। इनमें बुद्धिऋद्धि के १८, विक्रिया के ११, क्रिया के २, तप के ७, बल के ३, औषधि के ८, रस के ६ और क्षेत्रऋद्धि के २ ऐसे अवान्तर भेद ५७ होते हैं। यह तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से यहां पर बताया है। इन सभी ५७ ऋद्धियों का इसमें लक्षण सहित वर्णन किया है। ये ऋद्धियां गणधरदेव के तत्क्षण ही उत्पन्न हो जाया करती हैं और अन्य भावलिंगी मुनियों के ही प्रगट होती हैं, द्रव्यलिंगी के नहीं हो सकती है।

४१. ''ससमय–परसमयविदू''—इसमें तत्त्व समीक्षा की गई है। चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, वेदांती आदि एकांतवादी कितने–कितने और कौन से तत्त्व मानते हैं आदि बताते हुए जैनाचार्यों द्वारा इन सबकी मान्यता को न्याय दर्शन में निराकरण किया है।

आत्म समीक्षा में आत्मा का विचार विभिन्न मतों के अनुसार करते हुए जैनाचार्यों के द्वारा उनकी मान्यताओं का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण उपयोग, चेतना बताया है।

जैनमत स्वसमय है इसमें बताया है कि भगवान महावीर के तीर्थ में धर्मव्युच्छित्ति नहीं है। पुष्पदंतनाथ से धर्मनाथ भगवान तक सात तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अर्थात् उस समय कोई भी मनुष्य जैनेश्वरी दीक्षा लेने वाले नहीं हुए अतः धर्म का अभाव हो गया। शेष १७ तीर्थंकरों के तीर्थ में धर्म की परम्परा निरंतर बनी रही है।

आचार्य श्री कुंदकुंददेव के पाँच नामों का इसमें उल्लेख है जिन्होंने गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बर साधुओं से विवाद में पाषाण घटित सरस्वती को बुलवा दिया '**सत्यपंथ निर्ग्रंथदिगम्बर**''। तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा से इसमें नंदिसंघ की पट्टावली के एक–एक आचार्य किस संवत् में पट्टासीन हुए उनका समय भी दिया है। वर्तमान में आचार्य श्री शांतिसागर जी आदि महाराज ने श्रीकुंदकुंदाचार्य की परम्परा को समुद्योतित किया है। इस परम्परा में आचार्य और मुनिगण मूलाचार, भगवती आराधना, आचारसार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों से ही अपनी चर्या का पालन कर रहे हैं।

किन–किन ग्रंथों को प्रमाण माने ? इसके लिए लिखा है वर्तमान में उपलब्ध पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत जितना भी जैन वाङ्मय है, जो भी जैनग्रंथ हैं सभी प्रमाणीक हैं। इसमें षट्खंडागम सूत्र, कषायपाहुड़, धवला, जयधवला, तत्त्वार्थसूत्र आदि पूर्णतया प्रमाणीक सिद्ध हो जाते हैं।

''**अन्यमत परसमय हैं**''**—मिथ्यात्व** हैं। इसमें मिथ्यात्व का लक्षण बताते हुए तीन सौ त्रेसठ पाखंड मत का वर्णन किया है।

हुंडावसर्पिणी काल के निमित्त से इस काल में अनेकों द्रव्य मिथ्यात्व उत्पन्न हो गये हैं किन्तु भाव मिथ्यात्व तो सर्वत्र विदेह क्षेत्र में, विजयार्ध की श्रेणियों में, स्वर्गादि में व सर्वकाल में पाया ही जाता है। ये द्रव्य और भाव दोनों मिथ्यात्व सर्वदा त्याज्य ही हैं, इस बात पर विशेष ध्यान देना है।

''**जैनदर्शन में न्याय ग्रंथों में स्वसमय**'' इसमें अष्टसहस्री ग्रंथ के विषय में श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि अन्य हजारों ग्रंथों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है।

श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण पर श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा स्तोत्र की रचना की। भट्टाकलंकदेव ने आप्तमीमांसा पर 'अष्टशती' नाम से भाष्य बनाया। इसी आप्तमीमांसा ग्रंथ पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने 'अष्टसहस्री' नाम से अलंकार टीका बनाई है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने आप्त–अनाप्त की मीमांसा करते हुए आप्त–अर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है, देखिए—

देवागम–नभोयान–चामरादि–विभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यंते नातस्त्वमसि नो महान्।।

इसी तरह से भगवान से प्रश्न कर–कर के भगवान की स्तुति की है। इसमें भावाभावाद्यनेकांत सिद्धि बहुत सुन्दर ढंग से की है। सप्तभंगी को जीव द्रव्य में सात प्रकार से घटित किया है। इस प्रकार से इस पूरे प्रकरण में न्याय का वर्णन है।

अध्यात्म के अनुसार स्वसमय–परसमय—इसमें समयसार की गाथा नं. २ को लेते हुए स्वसमय–परसमय पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

जीवो चरित्तदंसण–णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।

अर्थात् जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है उसको ही तुम स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे तुम परसमय मानो। आत्मख्याति टीका देते हुए इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण है।

४२. 'तित्थं तित्थंकरा य''—तीर्थ और तीर्थंकर भगवान मंगलकारी होंवे। इसमें तीर्थ का लक्षण षट्खण्डागम धवला पु. ८ से बताया है। मूलाचार में द्रव्य और भाव से संयुक्त तीर्थ दो प्रकार का बताया है जिसकी व्याख्या इसमें की है।

तीर्थंकर कौन होते हैं ? जो सोलहकारण भावना भाते हैं तद्रूप परिणत होते हैं वे ही तीर्थंकर होते हैं। इसमें धवला पु. ८ से सोलहकारण भावनाओं के नाम एवं लक्षण बताए हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार सोलहकारण भावनाओं में पन्द्रह भावनायें तो समान हैं, केवल यहाँ षट्खण्डागम में 'क्षणलवप्रतिबुद्धता' नाम की भावना है और तत्त्वार्थसूत्र में आचार्यभक्ति नाम की भावना है। दोनों के लक्षण में अंतर है।

४३. चेइयरुक्खा य चेइयाणि—इसमें चैत्यवृक्ष का वर्णन है। भवनवासी देवों के भवनों की चारों दिशाओं में चैत्यवृक्ष हैं, इन चैत्यवृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित पाँच–पाँच जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इन्द्रों के यहाँ ओलगशाला के आगे चैत्यवृक्ष हैं, व्यंतर देवों के चैत्यवृक्ष, देवों के नगर के बाहर वन–उद्यान में चैत्यवृक्ष में जिनप्रतिमायें, अकृत्रिम जिनमंदिर के परकोटे में चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष आदि में जिनप्रतिमाएं, समवसरण में चैत्यवृक्ष व सिद्धार्थवृक्ष पर जिनप्रतिमाएँ, पांडुकवन में जिनमंदिर के चैत्यवृक्ष, समवसरण में उपवनभूमि में चैत्यवृक्षों में जिनप्रतिमाएं आदि का तिलोयपण्णत्ति एवं सिद्धान्तसार ग्रंथ से इसमें सुन्दर वर्णन है।

४४. उड्ढमहतिरियिलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि''—इसमें अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी त्रैलोक्य जिनचैत्यालय का वर्णन एक दृष्टि में किया है और फिर तीन लोक के कुल मिलाकर आठ करोड़, छप्पन लाख, सत्तानवे हजार, चार सौ इक्यासी जिनमंदिर की संख्या हैं। व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी देवों के असंख्यातों विमान होने से इनके मंदिर भी असंख्यात हैं। पूज्य माताजी ने तीनलोक सम्बन्धी सभी जिनचैत्यालयों को मन, वचन, काय पूर्वक बारम्बार नमन किया है।

४५. ''सम्मेदे''—इसमें सम्मेदशिखर का स्तोत्र दिया है जिसमें कूट के नाम, कूट से मोक्ष जाने वाले तीर्थंकर एवं उनके साथ मोक्ष जाने वाले साधुओं की संख्या एवं उस कूट से मोक्ष जाने वाले अन्य मुनियों की संख्या एवं कूट की वंदना से उपवास के फल का भी वर्णन है। इसमें स्तोत्र के पाठ का आनन्द लेते हुए सम्मेद शिखर की वन्दना का सम्पूर्ण लाभ प्राप्त है। इस सम्मेदशिखर की वन्दना करते हुए पूज्य माताजी ने सिद्धपद प्राप्ति की कामना की है—

सिद्धिवधू प्रिय तीर्थंकर, मुनिगण तीरथराज।
मन वच तन से मैं नमूं, मिले सिद्धि साम्राज्य।।

४६. ''जावो अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ।''—इसमें तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियों का वर्णन है। २४ तीर्थंकरों की १६ जन्मभूमियों के नाम, तीर्थंकरों के पंचकल्याणक तीर्थ, निर्वाण कल्याणक तीर्थों के नाम बताते हुए मध्यलोक में अन्य और भी जो निषीधिकाए हैं, अन्य महापुरुषों की निर्वाण भूमियां हैं सभी को नमन किया है और वे सभी मंगल करें ऐसी भावना की गई है। इसके साथ ही इसमें निर्वाणकाण्ड भाषा भी दिया है। जिसे पढ़कर भगवान की भक्ति करते हुए मोक्ष गए सभी तीर्थंकरों, करोड़ों मुनियों की एक साथ वन्दना हो जाती है। सम्मेद शिखर की वन्दना करते हुए यह भावना भाएं कि हमारे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिपूर्वक मरण हो और जिनगुणसम्पत्ति प्राप्त हो।

४७. 'इसिपब्भारतलग्गयाणं''—इसमें सिद्धलोक और सिद्धशिला का वर्णन है। त्रिलोकसार में सिद्धशिला को सीधे रखे कटोरे सदृश कहा है। यह सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन विस्तृत है। सभी सिद्ध भगवान तनुवातवलय के चतुर्थ भाग में विराजमान हैं, अंतिम शरीर के प्रमाण से किंचित न्यून आत्मप्रदेश वाले हैं।

उत्कृष्ट प्रमाण अर्थात् ५२५ धनुष की अवगाहना वाले सिद्ध भगवान सिद्धशिला से कितने ऊपर विराजमान हैं ? लघु अवगाहना अर्थात् ३ हाथ की अवगाहना वाले एवं मध्यम अवगाहना वाले सिद्ध भगवान सिद्धशिला से कितनी ऊँचाई पर विराजमान हैं, सभी का प्रमाण इसमें दिया है। कौन से तीर्थंकर किस आसन से मोक्ष गए हैं? और सिद्धों का सुख कैसा है ? आदि विषयों का वर्णन है।

४८. गुरु–आइरिय–उवज्झायाणं पव्वत्तित्थेर–कुलयराणं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर ये पाँच प्रकार के महामुनि हैं। इन सभी का लक्षण इसमें मूलाचार ग्रंथ से दिया है। पुनः आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी का लक्षण एवं उनके गुणों का वर्णन हैं बाईस परीषहों के नाम बताते हुए उनके लक्षण भी दिए हैं।

आर्यिकाओं के समाचार का भी वर्णन हैं। आर्यिकायें क्या क्रिया करें और क्या न करें ? इस बात को बताते हुए आर्यिकायें महाव्रती हैं, ऐलक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं आदि विषयों का वर्णन है।

४९. निषीधिका दण्डक—इसमें प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी से श्री प्रभाचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका देते हुए उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया है। संस्कृत टीका पढ़ते हुए उसका अर्थ समझकर चतुर्थकाल की वाणी को–श्री गौतमस्वामी की वाणी को पढ़कर ज्ञान के अमृत का रसास्वादन करें।

इस श्री गौतम गणधर वाणी की अमृतवर्षिणी टीका के द्वितीय भाग में तीन अध्याय का विस्तृत वर्णन करते हुए पूज्य माताजी ने इसकी प्रशस्ति में लिखा है—

वीराब्द पचीस शतक चालिस, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा धन्य।
''श्री गौतमगणधर वाणी'' का, पंचम अध्याय हुआ पूर्ण मान्य।।
इस पर ''अमृतवर्षिणी'' नाम, टीका से अतिशय ग्रंथ बना।
इसमें संकलित अध्याय तीन, जिनवचनामृतमय पूर्ण घना।।

प्रशस्ति के बाद पूज्य माताजी ने ३६ काव्यों में श्री वीरजिन स्तोत्र में भगवान महावीर के गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें बारम्बार नमन किया है। पुनः सिद्ध स्तोत्र में जहाँ–जहाँ से जो सिद्ध हुए हैं उन सब अनंतानंत सिद्धों की वन्दना की है।

५०. श्री गौतमस्वामी प्रणीत प्रतिक्रमण पाठ में परिवर्तन, परिवर्धन उचित नहीं है—आज–कल कुछ साधु–साध्वियाँ प्रतिक्रमण पाठ में परिवर्तित पाठ पढ़ने लगे हैं जैसे 'करोम्यहं' को कुर्वेऽहं। प्राचीन जितने भी शास्त्र है उन सभी में 'करोम्यहं' पाठ ही है अतः प्राचीन पाठ को ही पढ़ना चाहिए। इस बात को इसमें पूज्य माताजी ने आचारसार, अनगार धर्मामृत, चारित्रसार, क्रियाकलाप आदि प्राचीन ग्रंथों से सप्रमाण बताया है।

इसके बाद प्रतिदिन पढ़ने हेतु श्री गौतम गणधर वाणी की दसों अध्यायों को पद्यानुवाद सहित दिया है। अंत में स्वाध्याय की समाप्ति पर पढ़ने हेतु जिनवाणी स्तुति का पाठ है।

यह ग्रंथ **''यथा नाम तथा गुण''** से समन्वित है। आज के पंचमकाल में चतुर्थकाल की गणधर वाणी को प्राप्त करके वास्तव में हम सभी भव्यात्माओं को गौरव की अनुभूति होनी चाहिए और श्रीगौतमस्वामी के उपकारों का स्मरण करके उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान से अपने सम्यग्ज्ञान को वृद्धिंगत करना चाहिए। पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना की जीवन्त प्रतिमा हैं तभी तो आज ८० वर्ष की आयु में, अति कमजोर शरीर में भी सतत ज्ञानाराधना करके उसका फल हम सबको प्रदान कर रही हैं। उन्होंने सन् २०१३–१४ में ऐसी २०–२५ कृतियाँ उपलब्ध कराई हैं जो जिनागम ग्रंथों से निकाले गये मक्खन के समान सारभूत हैं, ये साहित्यिक कृतियाँ निश्चितरूप से भावी शोध करने वाली पीढ़ी के लिए नींव का पत्थर सिद्ध होंगी।

प्रस्तुत ग्रंथ की सामग्री अति विशिष्ट एवं शोधात्मक है, इसमें अति परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके पूज्य माताजी ने इसे सर्वजनोपयोगी बना दिया है। इसका प्रूफ संशोधन करने में संघस्थ आर्यिका सुव्रतमती ने पूरे मनोयोग के साथ परिश्रम किया है उनके लिए श्रुतज्ञान प्राप्ति का खूब मंगल आशीर्वाद है, अन्य सभी संघस्थ शिष्याओं को भी गुरुभक्ति स्वरूप किञ्चित् भी सहयोग प्रदान करने हेतु शुभाशीर्वाद।

यह अमृतवर्षिणी टीका समन्वित गौतम गणधर वाणी ग्रंथ हम सबको ज्ञान अमृत का पान करावे जिससे हमारी आत्मा अजर–अमर मोक्षधाम को प्राप्त कर सके यही भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना है तथा ज्ञानामृत प्रदात्री पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी चिरकाल तक हमें इसी प्रकार की अमूल्य कृतियाँ प्रदान करती रहें, यही मंगल भावना है।

दो शब्द

–आर्यिका सुव्रतमती (संघस्थ)

मंगलं स्यान्महावीरो, श्री गौतमश्च मंगलम्।
जिन शासनमाचंद्रं, स्थेयात् कुर्याच्च मंगलम्।।

भगवान महावीर के शासनकाल में बीसवीं सदी में मुनि परम्परा को जीवन्त करने वाले युगप्रवर्तक चारित्रचक्रवर्ती प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज हुए हैं। उनके ३ बार दर्शन करने वाली एवं उनसे अनुभव ज्ञान प्राप्त करने वाली और उनके प्रथम पट्टशिष्य चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से आर्यिका दीक्षा को प्राप्त करने वाली, जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, वर्तमान में पीछीधारी सभी साधुओं में सबसे प्राचीन दीक्षित, परम पूज्य १०५ गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हैं, जिन्होंने जिनधर्म, जिनागम की विशेष प्रभावना की है। प्रतिक्षण पूज्य माताजी की यह भावना रहती है कि किस तरह से मैं वर्तमान में सभी भव्य जीवों को आगम के ज्ञान से, पूर्वाचार्यों की वाणी से सिंचित करूँ।

सच्चे ज्ञान की प्राप्ति धर्म गुरुओं से सहज ही हो जाती है जैसा कि श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है–

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानि समाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।

अर्थात् अज्ञानी की उपासना–संगति से प्राणी अज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञानी की उपासना से ज्ञान प्राप्त करता है, क्योंकि 'जिसके पास जो कुछ है वह वही वस्तु प्रदान करता है' यह सुप्रसिद्ध वचन है।

किसी भी शास्त्र को पढ़ते समय यदि अर्थ समझ में नहीं आता है तो पूज्य माताजी कहती हैं कि मेरे गुरू आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे–

'**पठितव्यं खलु पठितव्यं अग्रे अग्रे स्पष्टं भविष्यति**' अर्थात् हमेशा पढ़ते रहो–पढ़ते रहो, आगे–आगे विषय स्पष्ट होगा। जैसे श्रावक की दैनिक षट् क्रियाओं में स्वाध्याय एक क्रिया है, उसी प्रकार मुनियों के ६ अंतरंग तपों में स्वाध्याय नाम का एक तप है। कहा भी है–'**स्वाध्यायः परमं तपः।**'

इस गौतम गणधर वाणी का संकलन करके और उस पर अमृतवर्षिणी टीका लिखकर पूज्य माताजी ने जैन समाज पर महान् उपकार किया है। श्री गौतम स्वामी के मुखारविन्द से निकली वाणी, चतुर्थकाल की वाणी को पढ़कर और उस पर पूज्य माताजी द्वारा की गई अमृतवर्षिणी टीका को पढ़कर और उसे हृदयंगम कर हम अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध करें और परम्परा से एक दिन मोक्ष पद को प्राप्त करें। पूज्य माताजी स्वस्थ रहें, दीर्घायु को प्राप्त करें और अपने ज्ञानरूपी आलोक से सभी भव्यजीवों को प्रकाशित करती रहे, जिनेन्द्रदेव से यही मंगल प्रार्थना है–

है यही प्रार्थना जिनवर से, यह प्रभा सदा दिन दूनी हो।
भारत माता की गोदी, इन माँ से कभी न सूनी हो।।

'अमृतवर्षिणी टीका' एक महान कृति

—आर्यिका स्वर्णमती

कुन्दकुन्दान्वयो जीयात् , जीयात् श्री शान्तिसागरः।
जीयात् पट्टाधिपस्तस्य, सूरिः श्री वीरसागरः।।
श्री ब्राह्मी गणिनी जीयात् , जीयादन्तिमचन्दना।
जीयात् ज्ञानमती माता, गणिन्यां प्रमुखा कलौ।।

भगवान महावीर के शासनकाल में बीसवीं–इक्कीसवीं शताब्दी में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी युगप्रवर्तिका, चारित्र–चन्द्रिका, आर्यिका शिरोमणि परम पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने जिनधर्म, जिनागम की विशेष प्रभावना करते हुए विपुल साहित्य का निर्माण किया है। प्रतिक्षण पूज्य माताजी की यह भावना रहती है कि मैं किस तरह से वर्तमान में सभी भव्य जीवों को आगम के ज्ञान से सिंचित करूँ। इसके लिए पूज्य माताजी ने पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित शास्त्रों के आधार से जैनभारती, ज्ञानामृत, आगम दर्पण, जिनागम रहस्य, जिनागम में नवपदार्थ, द्वादशानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है।

मूलाचार में श्री कुंदकुंददेव ने बहुत सुन्दर बात लिखी है—

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणबाहिवेयण–खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।८४३।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के वचन ही महाऔषधि हैं, ये विषय सुख का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप है, जरामरणरूपी व्याधि की वेदना और सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

स्वाध्याय के विषय में पूज्य माताजी कई बार कहा करती हैं—

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यः विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत्खलो दीप्तो, मली वा भस्म वा भवेत्।।

अर्थात् आचार्यों के शास्त्र—श्रुत को अग्नि की संज्ञा दी है। अग्नि भोजन भी पकाती है और जलाने का भी काम करती है। हम चाहे उसका यथायोग्य सदुपयोग करके उसे जीवनोपयोगी बना लें और चाहे उसका दुरुपयोग करके अपने शरीर को जला भी सकते हैं। इसी प्रकार सच्चे शास्त्रों को भव्य सम्यग्दृष्टि प्राणी पढ़कर अपने मन को विशुद्ध करके कर्मों का क्षयकर लेते हैं और खल—मिथ्यादृष्टि जन अपने चित्त को मलिन कर लेते हैं।

श्री गौतमस्वामी प्रणीत 'गौतम गणधर वाणी' की अमृतवर्षिणी टीका एक महान कृति है जिसे पढ़कर सर्वांगीण–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग चारों अनुयोगों का ज्ञान हो जाता है।

मैं अपना परम सौभाग्य मानती हूँ जो कि मुझे पूज्य माताजी के चरण सानिध्य में रहकर आगम के ज्ञान को प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। माताजी का एक–एक वचन शास्त्रानुसार ही होता है। आगम से हटकर कोई बात वे न तो कहती हैं और न लिखती हैं। इस पंचमकाल में साक्षात् चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज का दर्शन करने वाली, उनका अनुभव ज्ञान प्राप्त करने वाली माताजी का चरण सानिध्य प्राप्त कर मैं अपने को धन्य मानती हूँ।

पूज्य माताजी अपने उद्बोधन से हमें रत्नत्रय की वृद्धि कराती रहें, जिससे हमारा मोक्षमार्ग प्रशस्त हो, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ पूज्य माताजी के चरणों में बारम्बार वन्दामि।

हार्दिक उद्गार

—ब्र. कु. बीना जैन (संघस्थ)

नमः श्री वर्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।।

बीसवीं शताब्दी में मुनि परम्परा को जीवन्त करने वाले युगप्रवर्तक चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज हुए हैं। जिनकी चर्या चतुर्थकालीन मुनियों के समान थी। इनके प्रथम पट्टशिष्य आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से आर्यिका दीक्षा प्राप्त कर, आर्यिका ज्ञानमती नाम पाकर, स्वनाम को सार्थक करते हुए परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने चारों अनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके, ग्रंथों का खूब स्वाध्याय करके, अपने ज्ञान को परिपक्व करके 'सहस्रनाम मंत्र' की रचना से अपनी लेखनी का शुभारम्भ करके अब तक छोटे–बड़े सभी ग्रंथों को मिलाकर ४०० ग्रंथों की रचना की है।

आज के वैज्ञानिक युग में पारस टी. वी. चैनल के माध्यम से लोग घर बैठे पूज्य माताजी के मुखारविन्द से प्रतिदिन ज्ञानामृत का पान करते हैं। जब वे हस्तिनापुर आकर पूज्य माताजी का दर्शन करते हैं, तो गद्‌गद होकर कहते हैं कि माताजी हम तो आपके शुद्ध शास्त्रीय, आगमानुसार प्रवचन सुनकर धन्य हो गए।

वास्तव में पूज्य माताजी ने भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से निकली द्वादशांग वाणी को जिन्हें पूर्वाचार्यों ने ग्रंथरूप में लिपिबद्ध किया है उसी को आत्मसात करके, जन–जन के हिताय प्रवचन के द्वारा तथा ग्रंथों के द्वारा प्रदान कर रही हैं। अष्टसहस्री जैसे क्लिष्ट न्याय के ग्रंथ का अनुवाद करके पूज्य माताजी ने एक महान् कार्य किया है। विद्वद्‌वर्ग, युवावर्ग, बालवर्ग सभी के लिए पूज्य माताजी ने समयसार, नियमसार की टीका, कल्पद्रुम, इन्द्रध्वज आदि विधान, प्रतिज्ञा, परीक्षा, जीवनदान आदि उपन्यास एवं बालविकास के ४ भाग जैसी पुस्तकें लिखकर सर्वांगीण ज्ञान का प्रचार प्रसार किया है।

श्रावकों के लिए षट् कर्तव्य का पालन एवं साधुओं के लिए ध्यान एवं अध्ययन मुख्य है। जैसा कि श्री कुंदकुंद स्वामी ने रयणसार ग्रंथ में लिखा है—

दाणं पूया मुक्खं, सावय धम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं, जई धम्मे तं विणा तहा सो वि।।

अर्थात् श्रावक धर्म में दान और पूजा ये दो मुख्य हैं एवं मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य होते हैं।

गौतम गणधर वाणी पर अमृतवर्षिणी टीका सभी के लिए, साधुओं के लिए एवं श्रावकों के लिए स्वाध्याय हेतु परम औषधि है क्योंकि गणधर देवों की महिमा महान हैं जिन्हें कि भगवान के समवसरण में दीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है, दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है, चौंसठ ऋद्धियों के स्वामी हो जाते हैं और भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांग की रचना कर देते हैं।

मेरा परम सौभाग्य है कि पूज्य माताजी की कुल परम्परा में जन्म लेकर, उन्हें गुरुरूप में पाकर उनसे ज्ञानामृत को प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य किया है। यह ग्रंथ मेरे जीवन में एक दिन श्रुतज्ञान को प्राप्त करावे, यही मंगल भावना है। पूज्य माताजी दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ पूज्य माताजी के चरणों में कोटि–कोटि नमन।

द्वादशांग जिनवाणी को ग्रंथरूप में नहीं लिखा जा सकता

(दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान महावीर के बाद 683 वर्ष तक ही द्वादशांग श्रुत एवं उसके ज्ञाता आचार्य रहे हैं)

गणिनी ज्ञानमती माताजी

जैन वाङ्मय द्वादशांगरूप है और दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार आज द्वादशांग उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि द्वादशांग लिखे ही नहीं जा सकते, लिपिबद्ध नहीं हो सकते। आज उपलब्ध जैन वाङ्मय उस द्वादशांग का अंशमात्र ही है, जैसे नदी का जल कटोरी अथवा शीशी में भर लिया जाये। जैन श्रुत अर्थात् द्वादशांग अनादि-अनंत है और चौबीसों तीर्थंकर भगवान अपने-अपने काल में दिव्यध्वनि के द्वारा उसे प्रगट करते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि को गणधर देव द्वादशांगरूप में निबद्ध करके भव्यजीवों को उसका पान कराते हैं।

भगवान महावीर आज से २६१२ वर्ष पूर्व जन्में और २५७० वर्ष पूर्व भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त किया, ६६ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी, तब सौधर्म इन्द्र ने वेद-वेदांगों के पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम को उनके पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान के समवसरण में उपस्थित किया। मानस्तंभ को देखते ही गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण का मान गलित हो गया, 'जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचार.....' इत्यादि रूप से उन्होंने भगवान की स्तुति की। केशलोंच करके जैनेश्वरी दीक्षा को धारण करते ही उन्हें सभी ऋद्धियाँ एवं मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया तथा भगवान के प्रथम गणधर का पद उन्हें प्राप्त हो गया। वीरशासन जयंती, श्रावण कृ. एकम् के इस पावन दिवस भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी एवं अन्तर्मुहूर्त में ही गौतम गणधर स्वामी ने इस दिव्यध्वनि को द्वादशांगरूप में निबद्ध कर दिया।

धवला पुस्तक १, पृ. ६५ पर उल्लिखित है-

तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदम-गोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो।

इस प्रकार केवलज्ञान से विभूषित उन भगवान् महावीर के द्वारा कहे गये अर्थ को, उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न हुए चार प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त, वर्ण से ब्राह्मण, गोतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुति में पारंगत और जीव-अजीवविषयक संदेह को दूर करने के लिए श्री वर्द्धमान के पादमूल में उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूति ने अवधारण किया।

अर्थात् अर्थकर्ता भगवान महावीर हैं और ग्रंथकर्ता इन्द्रभूति गौतम गणधर स्वामी हैं। धवला पुस्तक ९ में भी पृ. १०७ पर विस्तार से इस विषय का एवं गौतमस्वामी की ऋद्धियों का वर्णन है।

भगवान महावीर के पश्चात् द्वादशांग श्रुत की परम्परा—

भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद ६२ वर्ष तक अनुबद्ध केवली हुए हैं और १०० वर्ष तक श्रुतकेवली हुए हैं अर्थात् १६२ वर्ष तक ही द्वादशांग श्रुतज्ञान रहा है, इसके बाद द्वादशांग श्रुतज्ञान नहीं रहा।

धवला पुस्तक ९, पृ. १३० एवं जयधवला (कषायपाहुड़) पुस्तक-१, पृ. ६८७ के आधार पर यह स्पष्ट है कि–

जिस दिन भगवान महावीर मोक्ष गये, उसी दिन सायंकाल गौतमस्वामी को केवलज्ञान हो गया। केवली भगवान गौतमस्वामी १२ वर्ष तक रहे, जिस दिन उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई, उसी दिन भगवान महावीर के द्वितीय गणधर श्री सुधर्माचार्य को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी, वह भी १२ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे, पुनः उनके मोक्षगमन के दिन ही जम्बूस्वामी ने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। ये जम्बूस्वामी ३८ वर्ष तक केवली रहे हैं, इस प्रकार भगवान महावीर के पश्चात् १२+१२+३८=६२ वर्ष तक अनुबद्ध केवली रहे हैं।

पुनः नंदी आचार्य, नंदिमित्र आचार्य, अपराजित आचार्य, गोवर्धन आचार्य और भद्रबाहु आचार्य, ये पाँच श्रुतकेवली १०० वर्ष की अवधि में क्रम से हुए हैं।

इसके पश्चात् ११ अंग और १४ पूर्वरूप द्वादशांग श्रुत नहीं रहा। जो रहा, वो इस प्रकार है–

ग्यारह आचार्य ११ अंग और १० पूर्व के ज्ञाता हुए, जिनका काल रहा १८३ वर्ष। ये ग्यारह आचार्य थे—विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव एवं सुधर्माचार्य। अनंतर ५ आचार्य ११ अंग के धारी हुए, पूर्व का ज्ञान इनको नहीं रहा, इनका काल २२० वर्ष था। ये पाँच आचार्य थे–नक्षत्राचार्य, जयपाल आचार्य, पांडु आचार्य, ध्रुवसेन आचार्य और कंस आचार्य। पुनः सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहाचार्य ये चार आचार्य मात्र एक अंग—आचारांग के ज्ञाता हुए अर्थात् शेष १० अंग एवं १४ पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। इनका काल रहा ११८ वर्ष।

इस प्रकार गौतमस्वामी से लेकर आचारांगधारी आचार्यों तक का काल ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष प्रमाण हैं।

इसके पश्चात् श्री धरसेनाचार्य को अग्रायणीय पूर्व अर्थात् द्वितीय पूर्व के कुछ अंश का ज्ञान था, जिसे उन्होंने श्री पुष्पदंत–भूतबलि आचार्य को दिया, जिन्होंने श्री धरसेनाचार्य से प्राप्त ज्ञान के आधार पर षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना की अर्थात् अंशज्ञान से षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना हुई, जिसकी धवला टीका १६ पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई है।

कषायप्राभृत ग्रंथ के कर्ता श्री गुणधर आचार्य को पाँचवें पूर्व के कुछ अंश का ज्ञान था, जिससे उन्होंने कषायप्राभृत ग्रंथ रचा, जिसकी टीका जयधवला की १६ पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुकी है।

श्री गौतमस्वामी का जीवन परिचय

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

आर्यखंड में एक ब्राह्मण नाम का नगर था। वहाँ एक शांडिल्य नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम स्थंडिला था, वह ब्राह्मणी बहुत ही सुन्दर और सर्व गुणों की खान थी। इस दम्पत्ति के बड़े पुत्र के जन्म के समय ही ज्योतिषी ने कहा था कि यह गौतम समस्त विद्याओं का स्वामी होगा। उसी स्थंडिला ब्राह्मणी ने द्वितीय गार्ग्य पुत्र को जन्म दिया था, वह भी सर्वकला में पारंगत था, इन्हीं ब्राह्मण की दूसरी पत्नी केशरी के पुत्र का नाम भार्गव था। इस प्रकार ये तीनों भाई सर्व वेद वेदांग के ज्ञात था। इन तीनों भाइयों के इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम भी प्रसिद्ध हैं। वह गौतम ब्राह्मण किसी ब्रह्मशाला में पाँच सौ शिष्यों का उपाध्याय था। "मैं चौदह महाविद्याओं का पारगामी हूँ, मेरे सिवाय कोई और विद्वान नहीं है।" ऐसा अभिमानी था।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण की रचना हो चुकी थी, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी। ६६ दिन व्यतीत हो गये। तभी सौधर्म इन्द्र ने समवसरण में गणधर का अभाव समझकर अपने अवधिज्ञान से "गौतम" को इस योग्य जानकर वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ गौतमशाला में पहुँचकर कहते हैं–

"मेरे गुरु इस समय ध्यान में होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।" गौतम ने विद्या के गर्व से गर्विष्ठ हो पूछा–"यदि मैं इसका अर्थ बता दूंगा तो तुम क्या दोगे?" तब वृद्ध ने कहा– यदि आप इसका अर्थ कर देंगे, तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊंगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना।" महा अभिमानी गौतम ने यह शर्त मंजूर कर ली क्योंकि वह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने यह काव्य पढ़ा–

"धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै–रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायं।।"

तब गौतम ने कुछ देर सोचकर कहा–"अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद–विवाद करूँगा।" इन्द्र तो चाहता ही यह था, वह वृद्ध वेधषारी इन्द्र गौतम को समवसरण में ले आया।

वहाँ मानस्तंभ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उसे सम्यक्त्व प्रगट हो गया। गौतम ने अनेक स्तुति करते हुए भगवान् के चरणों को नमस्कार किया तथा अपने पाँच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों के साथ भगवान् के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण ऋद्धियों से विभूषित और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय इन चारों ज्ञानों से समन्वित प्रथम गणधर हो गये। पुनः श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान की दिव्यध्वनि खिरी है उसी दिन उन्होंने द्वादशांग की रचना की है।

गौतम गणधर वाणी अमृतवर्षिणी टीका, दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधियों से अलंकृत प्रथम ऐतिहासिक साध्वी

परम पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

कुन्दकुन्दान्वयो जीयात्, जीयात् श्री शांतिसागरः।
जीयात् पट्टाधिपस्तस्य, सूरिः श्री वीरसागरः।।
श्री ब्राह्मी गणिनी जीयात्, जीयादन्तिमचन्दना।
जीयात् ज्ञानमती माता, गणिन्यां प्रमुखा कलौ।।

जैनशासन के वर्तमान व्योम पर छिटके नक्षत्रों में दैदीप्यमान सूर्य की भाँति अपनी प्रकाश-रश्मियों को प्रकीर्णित कर रहीं पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर उठी लेखनी की अपूर्णता यद्यपि अवश्यंभावी है, तथापि आत्मकल्याण की भावना से पूज्य माताजी के श्रीचरणों में उनके दीर्घकालीन त्यागमयी जीवन के प्रति विनम्र विनयांजलिरूप मेरा यह विनीत प्रयास है।

१. जन्म, वैराग्य और दीक्षा-२२ अक्टूबर सन् १९३४, शरदपूर्णिमा के दिन टिकैतनगर ग्राम (जि. बाराबंकी, उ.प्र.) के श्रेष्ठी श्री छोटेलाल जैन की धर्मपत्नी श्रीमती मोहिनी देवी के दांपत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में "मैना" का जन्म परिवार में नवीन खुशियाँ लेकर आया था। माँ को दहेज में प्राप्त 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' ग्रन्थ के नियमित स्वाध्याय एवं पूर्वजन्म से प्राप्त दृढ़ वैराग्य संस्कारों के बल पर मात्र १८ वर्ष की अल्प आयु में ही शरद पूर्णिमा के दिन मैना ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से सन् १९५२ में आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतरूप सप्तम प्रतिमा एवं गृहत्याग के नियमों को धारण कर लिया। उसी दिन से इस कन्या के जीवन में २४ घंटे में एक बार भोजन करने के नियम का भी प्रारंभीकरण हो गया।

नारी जीवन की चरमोत्कर्ष अवस्था आर्यिका दीक्षा की कामना को अपनी हर साँस में संजोये ब्र. मैना सन् १९५३ में आचार्य श्री देशभूषण जी से ही चैत्र कृष्णा एकम् को श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र में 'क्षुल्लिका वीरमती' के रूप में दीक्षित हो गईं। सन् १९५५ में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की समाधि के समय कुंथलगिरी पर एक माह तक प्राप्त उनके सान्निध्य एवं आज्ञा द्वारा 'क्षुल्लिका वीरमती' ने आचार्य श्री के प्रथम पट्टाचार्य शिष्य-वीरसागर जी महाराज से सन् १९५६ में 'वैशाख कृष्णा दूज' को माधोराजपुरा (जयपुर-राज.) में आर्यिका दीक्षा धारण करके "**आर्यिका ज्ञानमती**" नाम प्राप्त किया।

२. अध्ययन और अध्यापन-ज्ञानप्राप्ति की पिपासा माता ज्ञानमती जी के रोम-रोम में प्रारंभ से ही कूट-कूट कर भरी थी। दीक्षा लेते ही स्वाध्याय-मनन-चिंतन की धारा में ही उन्होंने स्वयं को निबद्ध कर लिया। ज्ञान प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ स्रोत बना-संघस्थ मुनियों, आर्यिकाओं एवं संघस्थ शिष्य-शिष्याओं को जैनागम का तलस्पर्शी

अध्यापन। 'कातंत्र रूपमाला' रूपी बीज से पूज्य माताजी की ज्ञानसाधना रूप वृक्ष प्रस्फुटित हुआ, जिस पर जो पत्ते, फूल-फल इत्यादि लगे, उन्होंने समस्त संसार को सुवासित कर दिया। गोम्मटसार, परीक्षामुख, न्यायदीपिका, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, अनगारधर्मामृत, मूलाचार, त्रिलोकसार आदि अनेक ग्रंथों को अपनी शिष्याओं और संघस्थ साधुओं को पढ़ा-पढ़ाकर आपने अल्प समय में ही विस्तृत ज्ञानार्जन कर लिया। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी इत्यादि भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार हो गया।

३. लेखनी का प्रारंभीकरण संस्कृत भाषा से-भगवान महावीर के पश्चात् २६०० वर्ष के जिस इतिहास में जैन साध्वियों के द्वारा शास्त्र लेखन की कोई मिसाल दृष्टिगोचर नहीं होती थी, वह इतिहास जागृत हो उठा जब क्षुल्लिका वीरमती जी ने सन् १९५४ में सहस्रनाम के १००८ मंत्रों से अपनी लेखनी का प्रारंभ किया। यही मंत्र सरस्वती माता का वरदहस्त बनकर पूज्य माताजी की लेखनी को ऊँचाइयों की सीमा तक ले गये। सन् १९६९-७० में न्याय के सर्वोच्च ग्रंथ 'अष्टसहस्री' के हिन्दी अनुवाद ने उनकी अद्वितीय विद्वत्ता को संसार के सामने उजागर कर दिया। कितने ही ग्रंथों की संस्कृत टीका, कितनी ही टीकाओं के हिंदी अनुवाद, संस्कृत एवं हिन्दी में अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना मिलकर आज लगभग २५० से भी अधिक संख्या हो चुकी है। पूज्य माताजी द्वारा लिखित समयसार, नियमसार इत्यादि की हिन्दी-संस्कृत टीकाएँ, जैनभारती, ज्ञानामृत, कातंत्र व्याकरण, त्रिलोक भास्कर, प्रवचन निर्देशिका इत्यादि स्वाध्याय ग्रंथ, प्रतिज्ञा, संस्कार, भक्ति, आदिब्रह्मा, आटे का मुर्गा, जीवनदान इत्यादि जैन उपन्यास, द्रव्यसंग्रह-रत्नकरण्डश्रावकाचार इत्यादि के हिन्दी पद्यानुवाद व अर्थ, बाल विकास, बालभारती, नारी आलोक आदि का अध्ययन किसी को भी वर्तमान में उपलब्ध जैन वाङ्मय की विविध विधाओं का विस्तृत ज्ञान कराने में सक्षम है।

अध्यात्म, व्याकरण, न्याय, सिद्धांत, बाल साहित्य, उपन्यास, चारों अनुयोगोंरूप विविध विधाओं के अतिरिक्त पूज्य माताजी की लेखनी से विपुल भक्ति साहित्य उद्भूत हुआ है। इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र, तीन लोक, सिद्धचक्र, विश्वशांति महावीर विधान इत्यादि अनेकानेक भक्ति विधानों ने देश के कोने-कोने में जिनेन्द्र भक्ति की जो धारा प्रवाहित की है, वह अतुलनीय है। पूज्य माताजी का चिंतन एवं लेखन पूर्णतया जैन आगम से संबद्ध है, यह उनकी महान विशेषता है।

धन्य हैं ऐसी महान प्रतिभावान् सरस्वती माता!

४. सिद्धांत चक्रेश्वरी-पूज्य माताजी ने जैनशासन के सर्वप्रथम सिद्धांत ग्रंथ 'षट्खण्डागम' की सोलहों पुस्तकों के सूत्रों की संस्कृत टीका 'सिद्धांत चिंतामणि' का लेखन करके महान कीर्तिमान स्थापित किया है। क्रम-क्रम से हिन्दी टीका सहित इन पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य चल रहा है। आज से लगभग १००० वर्ष पूर्व आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने जिस प्रकार छह खण्डरूप द्वादशांगरूप जिनवाणी को परिपूर्ण आत्मसात करके साररूप में द्रव्य संग्रह, गोम्मटसार, लब्धिसार इत्यादि ग्रंथ अपनी लेखनी से प्रसवित किये थे, उसी प्रकार इस बीसवीं सदी की माता ज्ञानमती जी ने समस्त उपलब्ध जैनागम का गहन अध्ययन-मनन-चिंतन करके इस सिद्धांतचिंतामणिरूप संस्कृत टीका लेखन के महत्तम कार्य से 'सिद्धांत चक्रेश्वरी' के पद को साकार कर दिया है। आचार्य श्री वीरसेन स्वामी द्वारा १००० वर्ष पूर्व लिखित 'धवलाटीका' के पश्चात् इस महान ग्रंथ की सरल टीका लेखन का कार्य प्रथम बार हुआ है।

५. शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर-जैन सिद्धांतों का मर्म विद्वत् वर्ग समझ सके, इस भावना से कितने ही शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन पूज्य माताजी की प्रेरणास्वरूप किया गया। सन् १९६९ में जयपुर चातुर्मास के

मध्य 'जैन ज्योतिर्लोक' पर प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया, जिसमें पूज्य माताजी द्वारा 'जैन भूगोल एवं खगोल' का विशेष ज्ञान विद्वत्वर्ग को कराया गया। अक्टूबर सन् १९७८ में हस्तिनापुर में पं. मक्खनलाल जी शास्त्री, पं. मोतीचंद जी कोठारी, डा. लाल बहादुर शास्त्री सहित जैन समाज के उच्चकोटि के लगभग १०० विद्वानों का विद्वत् प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया, जिसमें पूज्य माताजी ने विद्वत्समुदाय को यथेष्ट मार्गदर्शन प्रदान किया। समय-समय पर आज तक यह श्रृंखला चल रही है।

६. राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार-सन् १९८५ में 'जैन गणित एवं त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में सम्पन्न हुआ, पुनः अनेक संगोष्ठियाँ सम्पन्न होती रहीं और सन् १९९८ में 'भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन' के भव्य आयोजन द्वारा देशभर के विश्वविद्यालयों से पधारे कुलपतियों को भगवान ऋषभदेव को भारतीय संस्कृति एवं जैनधर्म के वर्तमानयुगीन प्रणेता पुरुष के रूप में जानने का अवसर प्राप्त हुआ। ११ जून २००० को 'जैनधर्म की प्राचीनता' विषय पर आयोजित इतिहासकारों के सम्मेलन द्वारा पाठ्य पुस्तकों में जैनधर्म संबंधी भ्रांतियों के सुधार के लिए विशेष दिशा-निर्देश 'राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद' (र्ण्ऊं) तक पहुँचाये गये। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य सेमिनार भी समय-समय पर सम्पन्न हुए हैं, जिनके प्रतिफल में देश के समक्ष समय-समय पर साहित्यिक कृतियाँ (ड्दिमाग्हु) प्रस्तुत हो चुकी हैं।

७. दिगम्बर समाज की साध्वी को प्रथम बार डी.लिट्. की उपाधि प्रदान कर विश्वविद्यालय भी गौरवान्वित हुआ-किसी महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि में पारम्परिक डिग्रियों को प्राप्त किये बिना मात्र स्वयं के धार्मिक अध्ययन के बल पर विदुषी माताजी ने अध्ययन, अध्यापन, साहित्य निर्माण की जिन ऊँचाइयों को स्पर्श किया, उस अगाध विद्वत्ता के सम्मान हेतु डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद द्वारा ५ फरवरी १९९५ को डी.लिट्. की मानद् उपाधि से पूज्य माताजी को सम्मानित करके स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया गया तथा दिगम्बर जैन साधु-साध्वी परम्परा में पूज्य माताजी यह उपाधि प्राप्त करने वाली प्रथम व्यक्तित्व बन गईं। पुनः इसके उपरांत ८ अप्रैल २०१२ को पूज्य माताजी के ५७वें आर्यिका दीक्षा दिवस के अवसर पर तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद में विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह आयोजित करके विश्वविद्यालय द्वारा पूज्य माताजी के करकमलों डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई।

इसी प्रकार से समय-समय पर विभिन्न आचार्यों एवं सामाजिक संस्थाओं द्वारा पूज्य माताजी को न्याय प्रभाकर, आर्यिकारत्न, आर्यिकाशिरोमणि, गणिनीप्रमुख, वात्सल्यमूर्ति, तीर्थोद्धारिका, युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, राष्ट्रगौरव, वाग्देवी इत्यादि अनेक उपाधियों से अलंकृत किया गया है, किन्तु पूज्य माताजी इन सभी उपाधियों से निस्पृह होकर अपनी आत्मसाधना को प्रमुखता देते हुए निर्दोष आर्यिका चर्या में निमग्न रहने का ही अपना मुख्य लक्ष्य रखती हैं।

८. पूज्य माताजी की प्रेरणा से त्याग में बढ़े कदम-त्यागमार्ग में अग्रसर सम्यग्दृष्टी जीव की यह विशेषता रहती है कि वह संसार परिभ्रमण से आक्रान्त अन्य भव्यजीवों को भी मोक्षमार्ग का पथिक बनाने हेतु विशेषरूप से प्रयासरत रहता है। इसी भावना की परिपुष्टी करते हुए पूज्य माताजी ने अनेकानेक शिष्य-शिष्याओं का सृजन किया।

संघस्थ साधुओं–मुनिजनों एवं आर्यिकाओं को अध्ययन कराते हुए सन् १९५६–५७ में ब्र. राजमल जी को राजवार्तिक आदि अनेक ग्रंथों का अध्ययन कराकर पूज्य माताजी ने उन्हें मुनिदीक्षा लेने की प्रेरणा प्रदान की। पुनश्च ब्र. राजमल जी कालांतर में आचार्य अजितसागर जी महाराज के रूप में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में चतुर्थ पट्टाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

सन् १९६७ में सनावद चातुर्मास के मध्य पूज्य माताजी ने ब्र. मोतीचंद एवं युवक यशवंत कुमार को घर से निकाला, उन्हें खूब विद्याध्ययन कराया तथा यशवंत कुमार को मुनिदीक्षा दिलवायी, जो वर्तमान में आचार्यश्री वर्धमानसागर के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं। ब्र. मोतीचंद जी भी क्षुल्लक मोतीसागर बनकर जम्बूद्वीप–हस्तिनापुर के प्रथम पीठाधीश के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

वर्तमान पट्टाचार्यश्री अभिनंदनसागर जी महाराज ने भी पूज्य माताजी से राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रंथों का अध्ययन किया था। मुनि श्री भव्यसागर जी महाराज, मुनि श्री संभवसागर जी महाराज इत्यादि ने भी पूज्य माताजी से विद्याध्ययन किया तथा उनकी प्रेरणा से ही मुनि दीक्षा प्राप्त की। वर्तमान में पूज्य माताजी के अनन्य शिष्य स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी अत्यंत कर्मठ व्यक्तित्व के रूप में समस्त समाज में प्रसिद्धि को प्राप्त हैं।

आर्यिका माताओं की शृँखला में आर्यिका श्री पद्मावती माताजी, आर्यिका श्री जिनमती माताजी, आर्यिका श्री आदिमती माताजी, आर्यिका श्री श्रेष्ठमती माताजी, आर्यिका श्री अभयमती माताजी, आर्यिका श्री श्रुतमती माताजी, मैं स्वयं (आर्यिका चन्दनामती) तथा आर्यिका श्री सम्मेदशिखरमती माताजी, आर्यिका श्री कैलाशमती माताजी आदि अन्य कई माताजी पूज्य माताजी से प्राप्त वैराग्यमयी संस्कारों एवं अध्यापन का ही प्रतिफल हैं। पूज्य माताजी से सर्वांगीण ग्रंथों का अध्ययन करके पूज्य जिनमती माताजी ने प्रमेयकमलमार्तण्ड, पूज्य आदिमती माताजी ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद किया है। मुझे भी षट्खण्डागम एवं अन्य महान ग्रंथों की हिन्दी टीका, महावीर स्तोत्र की संस्कृत टीका एवं कतिपय संस्कृत रचनाएँ लिखने का सुअवसर पूज्य माताजी की अनुकम्पा से प्राप्त हुआ है।

६२ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में कितने ही भव्य जीवों ने पूज्य माताजी से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत, पंच अणुव्रत, शक्ति अनुसार प्रतिमाएँ इत्यादि ग्रहण करके संयम के मार्ग को आत्मसात किया है। वर्तमान में पूज्य माताजी के साक्षात् सानिध्य में रहकर अनेक ब्रह्मचारिणी बहनें त्यागमार्ग में संलग्न हैं।

९. तीर्थ विकास की भावना–तीर्थंकर भगवन्तों की कल्याणक भूमियों एवं विशेष रूप से जन्मभूमियों के विकास की ओर पूज्य माताजी की विशेष आंतरिक रुचि सदा से रही है। पूज्य माताजी का कहना है कि हमारी संस्कृति का परिचय प्रदान करने वाली ये कल्याणक भूमियाँ हमारी संस्कृति की महान धरोहर हैं अतः इनका संरक्षण–संवर्धन–विकास अत्यंत आवश्यक है।

सर्वप्रथम **भगवान शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ की जन्मभूमि 'हस्तिनापुर'** में पूज्य माताजी की प्रेरणा से निर्मित जैन भूगोल की अद्वितीय रचना 'जम्बूद्वीप' आज विश्व के मानस पटल पर अंकित हो गयी है, उ.प्र. सरकार के पर्यटन विभाग ने जम्बूद्वीप से हस्तिनापुर की पहचान बताते हुए उसे एक अतुलनीय 'मानव निर्मित स्वर्ग' (A Man Made Heaven of Unparallel Superlatives And Natural Wonders) की संज्ञा

प्रदान की है। सन् १९९३ से १९९५ तक शाश्वत जन्मभूमि 'अयोध्या' में 'समवसरण मंदिर' और 'त्रिकाल चौबीसी मंदिर' का निर्माण करवाकर उसका विश्वव्यापी प्रचार, अकलूज (महाराष्ट्र) में नवदेवता मंदिर निर्माण की प्रेरणा, सनावद (म.प्र.) में णमोकार धाम, प्रीत विहार-दिल्ली में कमलमंदिर, मांगीतुंगी (महाराष्ट्र) में सहस्रकूट कमल मंदिर, अहिच्छत्र में ग्यारह शिखर वाला तीस चौबीसी मंदिर और भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक भूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का भव्य निर्माण पूज्य माताजी की ही प्रेरणा के प्रतिफल हैं।

कितने ही अन्य स्थानों पर भी जैसे-**खेरवाड़ा में** कैलाशपर्वत निर्माण की प्रेरणा, **पिड़ावा में** समवसरण रचना की प्रेरणा, **सोलापुर (महा.) में** भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा की स्थापना, **श्री महावीर जी के शांतिवीर नगर में** मंदारवृक्ष की स्थापना, **अतिशयक्षेत्र श्री त्रिलोकपुर में** पारिजातवृक्ष की स्थापना, **केकड़ी (राज.) में** सम्मेदशिखर की रचना आदि अनेकानेक निर्माण पूज्य माताजी के निर्देशन द्वारा सम्पन्न हुए और हो रहे हैं। भगवान महावीर स्वामी की **जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार)** के विकास हेतु भगवान महावीर स्वामी कीर्तिस्तंभ, भगवान महावीर की विशाल खड्गासन प्रतिमा सहित विश्वशांति महावीर मंदिर, नवग्रह शांति जिनमंदिर, त्रिकाल चौबीसी मंदिर एवं नंद्यावर्त महल आदि अनेक निर्माण आपकी प्रेरणा से इस क्षेत्र पर हुए हैं तथा कुण्डलपुर तीर्थ विश्वभर के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया है।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि **'राजगृही' में** 'मुनिसुव्रतनाथ जिनमंदिर' एवं विपुलाचल पर्वत की तलहटी में मानस्तंभ रचना, भगवान महावीर की निर्वाणस्थली **पावापुरी में** जलमंदिर के समक्ष पाण्डुकशिला परिसर में भगवान की खड्गासन प्रतिमा सहित 'भगवान महावीर जिनमंदिर', गौतम गणधर स्वामी की निर्वाणस्थली **गुणावां जी में** गौतम स्वामी की खड्गासन प्रतिमा सहित जिनमंदिर, **श्री सम्मेदशिखर जी में** भगवान ऋषभदेव मंदिर इत्यादि समस्त निर्माण भी पूज्य माताजी की संप्रेरणा से ही सम्पन्न हुए हैं।

तीर्थंकर जन्मभूमि विकास की शृँखला में **भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकंदी में** 'श्री पुष्पदंतनाथ जिनमंदिर' का निर्माणकार्य होकर उसमें भगवान पुष्पदंतनाथ की विशाल सवा ९ फुट उत्तुंग पद्मासन प्रतिमा पंचकल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक विराजमान हो चुकी हैं।

तीर्थंकरों की शाश्वत **जन्मभूमि अयोध्या में** वर्तमानकालीन वहाँ जन्में पाँच तीर्थंकरों की जन्मभूमि की टोकों पर जिनमंदिर निर्माण की प्रेरणा प्रदान कर आपने संस्कृति को जीवन्त करने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। उस शृँखला में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की टोंक पर सुन्दर कलात्मक मंदिर बनकर उसमें सवा चार फुट पद्मासन श्वेत प्रतिमा विराजमान हुई हैं तथा सरयू नदी के तट पर भगवान अनन्तनाथ के मंदिर का निर्माण होकर पंचकल्याणक सम्पन्न हो चुका है। इसी प्रकार क्रमशः भगवान अजितनाथ एवं अभिनंदननाथ की टोकों पर भी मंदिरों के सुन्दर निर्माण हो चुके हैं।

उल्लेखनीय है कि पूज्य माताजी के आर्यिका दीक्षास्थल-**माधोराजपुरा (राज.) में** भी 'गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती दीक्षा तीर्थ' के विकास का कार्य सम्पन्न किया जा चुका है। यहाँ सुन्दर कृत्रिम सम्मेदशिखर पर्वत का निर्माण करके १५ फुट उत्तुंग काले पाषाण वाली भगवान पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा एवं चौबीसी विराजमान की गई हैं। इस तीर्थ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २१ नवम्बर से २६ नवम्बर २०१० तक पीठाधीश

क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी महाराज के सान्निध्य में एवं कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन (वर्तमान पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी) के निर्देशन में विशेष महोत्सवपूर्वक सम्पन हुई है।

इसी शृँखला में अतिशय क्षेत्र **श्री महावीर जी (राज.) में** पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से महावीर धाम परिसर में **पंचबालयति दिगम्बर जैन मंदिर** का भव्य निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ है। यहाँ पर पाँचों बालयति भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान करके पृथक् वेदियों में पद्मावती, क्षेत्रपाल की प्रतिमाएँ भी विराजमान की गई हैं। संस्थान द्वारा उक्त जिनमंदिर का पंचकल्याणक दिनाँक २९ जनवरी से २ फरवरी २०१२ तक सानंद सम्पन्न किया गया।

विशेष : तेरहद्वीप रचना, तीर्थंकरत्रय प्रतिमा एवं तीनलोक रचना-

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर तीर्थ के विकास की अद्वितीयता को अमरता प्रदान करने वाली इन रचनाओं का निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा से इतिहास में प्रथम बार हुआ। अप्रैल सन् २००७ में स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई। विश्व में प्रथम बार निर्मित इस रचना में विराजमान २१२७ जिनप्रतिमाओं के दर्शन करके लोग इच्छित फल की प्राप्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त हस्तिनापुर में जन्मे भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की ३१-३१ फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमाओं एवं ५६ फुट उत्तुंग निर्मित तीनलोक रचना की जिनप्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा फरवरी सन् २०१० में हुई जो हस्तिनापुर के अतिशय में चार चाँद लगा रही हैं।

१०. विश्व में अनोखी १०८ फुट मूर्ति निर्माण की प्रेरणा-विश्व के अप्रतिम आश्चर्य के रूप में १०८ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की खड्गासन प्रतिमा के निर्माण का कार्य मांगीतुंगी (महा.) के पर्वत पर पूज्य माताजी की प्रेरणा से द्रुतगति से चल रहा है। युगों-युगों तक जिनशासन की महिमा को विकसित करने वाली यह प्रतिमा जैन संस्कृति के विशाल व्यक्तित्व का परिचय भी जनमानस को प्रदान करेगी।

११. शिरडी (महाराष्ट्र) में ज्ञानतीर्थ-शिरडी (महाराष्ट्र) को जैन संस्कृति केन्द्र के रूप में स्थापित करने हेतु वहाँ पर 'ज्ञानतीर्थ' का निर्माण हुआ है, जिसमें पूज्य माताजी के निर्देशानुसार भगवान पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा विराजमान करके पंचकल्याणक महोत्सव (मई २०१३ में) सम्पन्न हो चुका है और अब वहाँ सुन्दर कमल मंदिर का निर्माण किया जा रहा है।

१२. जृम्भिका तीर्थ विकास की प्रेरणा-भगवान महावीर स्वामी की कैवल्य भूमि जृंभिका जो आज बिहार प्रान्त में जमुई के नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ एक नूतन भूमि पर भगवान की प्रतिमा विराजमान हो चुकी है तथा इस जृम्भिका तीर्थ का विकास हो रहा है।

१३. धर्मप्रभावना के विविध आयाम-जम्बूद्वीप रचना के निर्माण का प्रमुख लक्ष्य लेकर 'दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' नामक संस्था का राजधानी दिल्ली में पूज्य माताजी की प्रेरणा से सन् १९७२ में गठन किया गया। इसी संस्थान ने विविध धर्मप्रभावना के कार्यों का संचालन किया है। संस्थान स्थित 'वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला' द्वारा लाखों की संख्या में ग्रंथ प्रकाशन, चारों अनुयोगों के ज्ञान से समन्वित 'सम्यग्ज्ञान' मासिक पत्रिका का प्रकाशन, णमोकार महामंत्र बैंक इत्यादि कितनी ही कार्ययोजनाएँ जिनशासन की कीर्ति को निरंतर प्रसारित कर रही हैं।

पूज्य माताजी की प्रेरणा से सन् १९८२ में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा राजधानी दिल्ली से उद्घाटित 'जम्बूद्वीप ज्ञान ज्योति' ने तीन वर्ष तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैनधर्म के सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया और अंत में यह ज्योति अखण्डरूप से तत्कालीन केन्द्रीय रक्षामंत्री-श्री पी.वी. नरसिंहाराव द्वारा जम्बूद्वीप स्थल पर स्थापित कर दी गयी। इसी प्रकार अप्रैल सन् १९९८ में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 'भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार' का राजधानी दिल्ली से प्रवर्तन किया, जो समस्त प्रांतों में प्रवर्तन के पश्चात् भगवान ऋषभदेव की दीक्षास्थली-प्रयाग तीर्थ पर निर्मित 'समवसरण मंदिर' में स्थापित होकर युगों-युगों तक के लिए भगवान ऋषभदेव के वास्तविक समवसरण की याद दिला रहा है। भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) से सन् २००३ में 'भगवान महावीर ज्योति रथ' का विविध प्रांतों में सफल प्रवर्तन भी इसी शृँखला की विशिष्ट कड़ी है।

जैनधर्म की प्राचीनता तथा भगवान ऋषभदेव के नाम एवं सिद्धांतों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पूज्य माताजी ने सन् १९९७ में राजधानी दिल्ली में विशाल 'चौबीस कल्पद्रुम महामण्डल विधान' आयोजित कराया, जिसका झण्डारोहण पूर्व राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने किया एवं दिल्ली के मुख्यमंत्री श्री साहिब सिंह वर्मा, मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह तथा श्रीमती सुषमा स्वराज आदि अनेक कैबिनेट मंत्रियों ने उपस्थित होकर धर्मलाभ लिया। साथ ही 'भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती वर्ष' (सन् १९९७-१९९८ में) तथा 'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' (सन् २००० में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा उद्घाटित) भी पूज्य माताजी की प्रेरणा द्वारा विविध धर्मप्रभावना के कार्यक्रमों सहित सम्पन्न हुए। विभिन्न टी.वी. चैनलों द्वारा पूज्य माताजी के 'तीर्थंकर जीवन दर्शन (सचित्र)' एवं अन्य विषयों पर प्रभावक प्रवचन लम्बे समय तक प्रसारित हुए एवं हो रहे हैं। पूज्य माताजी की प्रेरणा से स्थापित 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महिला संगठन' अपनी सैकड़ों ईकाइयों द्वारा दिगम्बर जैन समाज की नारी शक्ति को सृजनात्मक कार्यों हेतु संगठित कर रहे है।

इसके अतिरिक्त कितने ही अन्य धर्मप्रभावना के कार्य पूज्य माताजी ने सम्पन्न किये हैं जिनका यहाँ लेखन तो संभव नहीं है, किन्तु आज पूरा समाज उनके कार्यकलापों से परिचित होकर उन्हें कर्मठता की मूर्ति के रूप में पहचानता है।

१४. संघर्ष विजेत्री-पूज्य माताजी ने प्रारंभ से अपना प्रमुख लक्ष्य बनाया- प्रत्येक कार्य आगमानुकूल ही करना। पुनः उन कार्यों के निष्पादन में जो भी विघ्न आते हैं, उन्हें बहुत ही शांतिपूर्वक झेलकर पूरी तन्मयता के साथ उस कार्य को परिपूर्ण करना उनकी विशेषता रही है। उनका पूरा जीवन आर्ष परम्परा का संरक्षण करते हुए अपने मूलगुणों में बाधा न आने देकर जिनधर्म की अधिकाधिक प्रभावना के साथ व्यतीत हुआ है।

१५. भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव का आयोजन-२३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी में ६ जनवरी २००५ को पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं ससंघ सानिध्य में 'भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव' का उद्घाटन किया गया। भगवान की केवलज्ञान कल्याणक भूमि 'अहिच्छत्र', निर्वाणभूमि 'श्री सम्मेदशिखर जी' इत्यादि अनेकानेक तीर्थों पर विविध आयोजनों के साथ यह वर्ष मनाया गया। वर्ष २००६ को ''सम्मेदशिखर वर्ष'' के रूप में मनाने की प्रेरणा पूज्य माताजी ने

प्रदान की, ताकि तन-मन-धन से दिगम्बर जैन समाज अपने महान तीर्थराज 'श्री सम्मेदशिखर जी' के प्रति समर्पित हो सके। पुनः दिसम्बर २००७ में अहिच्छत्र में आयोजित 'सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक' के साथ इस त्रिवर्षीय महोत्सव का समापन किया गया।

१६. शताब्दी का अभूतपूर्व अवसर : दीक्षा स्वर्ण जयंती -वैशाख कृष्णा दूज, वी.नि.सं. २५३२ अर्थात् १५ अप्रैल २००६ को अपनी आर्यिका दीक्षा के ५० वर्ष पूर्ण करने वाली प्रथम साध्वी पूज्य माताजी वर्तमान दिगम्बर जैन साधु परम्परा में सर्वाधिक प्राचीन दीक्षित होने के गौरव से युक्त होकर हम सभी के लिए अतिशयकारी प्राचीन प्रतिमा के सदृश बन गईं। जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में १४ से १६ अप्रैल २००६ तक **'गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी आर्यिका दीक्षा स्वर्ण जयंती महोत्सव'** का भव्य आयोजन करके समस्त समाज ने पूज्य माताजी के श्रीचरणों में अपनी विनम्र विनयांजलि अर्पित की।

१७. विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन किया राष्ट्रपति जी ने-२१ दिसम्बर २००८ को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों से हुआ। पुनः सन् २००९ "शांति वर्ष" में पूरे देश में विश्व की शांति के लिए धार्मिक अनुष्ठान एवं संगोष्ठियों के कार्यक्रम आयोजित किए गए।

१८. 'प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष' मनाने की प्रेरणा-बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के महान उपकारों से जन-जन को परिचित कराने के उद्देश्य से पूज्य माताजी ने वर्ष २०१० को "प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष" के रूप में मनाने की प्रेरणा समस्त समाज को प्रदान की। इस वर्ष का उद्घाटन ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, ११ जून २०१० को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में भगवान शांतिनाथ जन्म-दीक्षा एवं निर्वाणकल्याणक के शुभ दिवस किया गया तथा ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, ३१ मई २०११ तक यह वर्ष पूरे देश के विभिन्न अंचलों में अनेक धर्मप्रभावनात्मक कार्यक्रमों के साथ विभिन्न आयोजनोंपूर्वक मनाया गया।

१९. प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर वर्ष मनाने की प्रेरणा-शरदपूर्णिमा-२०११ के शुभ अवसर पर पूज्य माताजी द्वारा प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टशिष्य आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज, जो पूज्य माताजी के दीक्षा गुरु भी हैं, का वर्ष मनाने की घोषणा की अतः यह वर्ष समाज द्वारा विभिन्न आयोजन पूर्वक सानंद मनाया गया।

२०. चारित्रवर्धनोत्सव वर्ष-जिनकी दीर्घकालिक तपस्या के वर्षों की गिनती जानकर अनेक आचार्य, मुनि, आर्यिकाएँ इत्यादि भी इस बात को कहते हुए गौरव का अनुभव करते हैं कि आज जितनी मेरी उम्र भी नहीं है उससे अधिक तो पूज्य माताजी की दीक्षा की आयु है, अर्थात् १८ वर्ष की उम्र से त्याग मार्ग पर जिन्होंने कदम रखा, उन्होंने अपनी जन्मतिथि-शरदपूर्णिमा को भी त्याग से सार्थक कर उस त्यागमयी जीवन के ६० वर्ष भी उन्होंने निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण किये। इसीलिए इनके ७९वें जन्मदिवस एवं ६१वें त्यागदिवस पर हमने अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महिला संगठन के आह्वान पर चारित्रवर्धनोत्सव वर्ष २०१२-२०१३ मनाने की घोषणा की। इस वर्ष में सभी को शक्ति अनुसार चारित्र ग्रहण करने का संदेश दिया गया।

२१. मंगलमय अमृत महोत्सव-पूज्य माताजी के ८१वें जन्मदिवस को सन् २०१३–१४ में को ''गणिनी ज्ञानमती अमृत महोत्सव'' के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर मनाया गया। इस अवसर पर ''सम्मेदशिखर विधान'' के ८० मांडले बनाकर ८० परिवारों के द्वारा उनकी पूजन करने का विहंगम दृश्य उपस्थित हुआ। ज्ञातव्य है कि पूज्य माताजी की प्रेरणानुसार **शाश्वत सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर में ''आचार्य शांतिसागर धाम''** नामक स्मारक का निर्माण किया जा रहा है, जो आचार्य श्री की सम्मेदशिखर यात्रा (सन् १९२७-२८ में की गई) की ऐतिहासिकता का दिग्दर्शन कराएगा।

वर्तमान में पूज्य माताजी की प्रेरणा से देशभर में ''गौतमगणधर वर्ष'' (२०१४–१५) मनाया जा रहा है। इस वर्ष के अन्तर्गत सैकड़ों–हजारों की संख्या में श्रद्धालु नर–नारी गणधरवलय विधान सम्पन्न कर रहे हैं।

इसी के साथ पूज्य माताजी की जन्मदात्री माँ आर्यिका श्री रत्नमती माताजी का जन्मशताब्दी वर्ष (११ नवम्बर २०१४ से) प्रारंभ हुआ है। इस वर्ष के अन्तर्गत सन् १९१४ में जन्मी मोहिनी को सन् १९३२ में विवाह के समय माता–पिता से दहेज में प्राप्त पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ की ऐतिहासिकता से जन–जन को परिचित कराने हेतु उस ग्रंथ के स्वाध्याय की प्रतियोगिता आयोजित की गई है। ३० नवम्बर २०१५ मगशिर कृ. पंचमी को वर्ष का समापन होगा और इस मध्य सभी स्वाध्यायियों को सम्मानित किया जाएगा।

इन चतुर्मुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी के चरणों में कोटिशः नमन है तथा भगवान जिनेन्द्र से यही प्रार्थना है कि उनके इस पवित्र त्यागमयी जीवन का हमें शताब्दी महोत्सव भी मनाने का लाभ प्राप्त हो एवं आपके द्वारा नया-नया साहित्य जनता को प्राप्त होता रहे, यही मंगलकामना है।

हस्तिनापुर तीर्थ परिचय

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी

हस्तिनापुर तीर्थ तीर्थों का राजा है। यह धर्म प्रचार का अति प्राचीन केन्द्र रहा है। यहाँ से धर्म की परम्परा का शुभारम्भ हुआ, अर्थात् यह वह महातीर्थ है जहाँ से दान की प्रेरणा संसार ने प्राप्त की।

१. भगवान ऋषभदेव का प्रथम आहार—आज से कोड़ाकोड़ी वर्ष पूर्व भगवान ऋषभदेव का प्रथम आहार इसी हस्तिनापुर की भूमि पर राजा श्रेयांस के महल में हुआ। पूर्वभव के जातिस्मरण से राजा श्रेयांस ने भगवान का विधिवत् पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक इक्षुरस का आहार दिया। उस समय आहारदान के प्रभाव से देवों ने पंचाश्चर्य की वृष्टि की। चार प्रकार के दानों में से केवल आहारदान के अवसर पर ही पंचाश्चर्यवृष्टि होती है। उस दिन राजा श्रेयांस की भोजनशाला में भोजन अक्षय हो गया, अतः वह आहारदान की तिथि वैशाख सुदी तीज '**अक्षय तृतीया**' के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई। आज भी प्रतिवर्ष हस्तिनापुर में अक्षय तृतीया पर्व विशेषरूप से बनाया जाता है।

इस शुभ अवसर पर अयोध्या से भरत चक्रवर्ती ने हस्तिनापुर आकर राजा श्रेयांस को '**दान तीर्थ प्रवर्तक**' की उपाधि से अलंकृत किया। अक्षय तृतीया पर्व के उपलक्ष्य में यह तिथि इतनी शुभ हो गई कि आज कोई भी मांगलिक कार्य इस तिथि में ज्योतिषी से बिना पूछे कर लिए जाते हैं। एक विशेष बात यह भी है कि जब से भगवान ऋषभदेव का हस्तिनापुर में इक्षुरस का आहार हुआ तब से इस क्षेत्र में गन्ना भी अक्षय हो गया।

२. भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ के चार-चार कल्याणक से पवित्र भूमि—भगवान ऋषभदेव के पश्चात् अनेक महापुरुषों का इस पुण्य धरा पर आगमन होता रहा है। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ के चार-चार कल्याणक यहाँ हुए हैं। तीनों तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं कामदेव पद के धारी थे। तीनों तीर्थंकरों ने यहाँ से समस्त छह खण्ड पृथ्वी पर राज्य किया पुनः उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ, परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की, मुनि बन गयें। महान तपस्या करके केवलज्ञान की प्राप्ति की। अंत में उन्होंने सम्मेदशिखर से निर्वाण को प्राप्त किया। आज प्रतिमाह हजारों लोग उन तीर्थंकरों की चरणरज से पवित्र हस्तिनापुर की पुण्यधरा की वन्दना करने आते हैं। उन तीनों तीर्थंकर भगवन्तों की ३१-३१ फुट विशाल खड्गासन प्रतिमाएँ जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में विराजमान हो जाने से तीर्थ का प्राचीन इतिहास जीवन्त हो गया है।

३. कौरव-पाण्डव की राजधानी—महाभारत की विश्व विख्यात घटना भगवान नेमिनाथ के समय में यहाँ घटित हुई। यह वही हस्तिनापुर है, जहाँ कौरव पांडव ने राज्य किया। सौ कौरव भी पाँच पांडवों को हरा नहीं सके, क्योंकि कौरव अनीतिवान, अन्यायी, अत्याचारी, ईर्ष्यालु, द्वेषी थे। पांडव धीर, वीर, गंभीर और सत्य का आचरण करने वाले एवं न्याय नीति से चलने वाले सहिष्णु थे, इसीलिए पाण्डवों ने विजय प्राप्त की। आज भी उनकी यशगाथा सर्वत्र गाई जाती है।

४. रक्षाबन्धन पर्व—रक्षाबन्धन पर्व का इतिहास इसी हस्तिनापुर नगरी से जुड़ा हुआ है। एक समय हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर बलि मंत्री ने चारों ओर से यज्ञ के बहाने अग्नि प्रज्वलित

कर दी। उस घोर उपसर्ग को मुनि विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि के बल से दूर कर धर्म वात्सल्य का परिचय दिया था। उस समय श्रावकों ने अगले दिन भक्ति से मुनियों को सिवई की खीर का आहार दिया और आपस में एक–दूसरे को रक्षासूत्र बांधें और यह निश्चय किया कि विष्णुकुमार मुनिराज की तरह वात्सल्य भावना रखकर धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा करेंगे। उसी के प्रतीक में **'श्रावण शुक्ला पूर्णिमा'** को प्रतिवर्ष रक्षाबन्धन पर्व सारे भारत वर्ष में मनाया जाता है।

५. दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती—गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शन कर भोजन करने का अटल नियम निभाने वाली इतिहास प्रसिद्ध नारी मनोवती भी इसी हस्तिनापुर की थी। यह नियम उसने विवाह के पूर्व लिया था। विवाह के पश्चात् जब ससुराल गई, तो वहाँ संकोचवश कह नहीं पाई। तीन दिन तक उपवास हो गया। जब उसके पीहर में सूचना पहुँची, तो भाई आया, उसे एकांत में मनोवती ने सब बात बता दी। भाई ने श्वसुर से कहा। श्वसुर ने कहा—हमारे यहाँ गजमोती का कोठार भरा है। तब मनोवती ने गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शन करके भोजन किया। इसकी रोमांचक कथा है। आगे कथा में जब मनोवती को घर से निकाल दिया गया तब भी मनोवती ने गजमोती चढ़ाए बिना भोजन नहीं किया, तब उसे रात्रि में स्वप्न हुआ कि तुम्हारे निकट मन्दिर है शिला हटाकर दर्शन करो और वहीं पर गजमोती भी रखे हैं, तब प्रातः मनोवती ने भगवान को गजमोती चढ़ाकर दर्शन की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर ही भोजन किया। वह स्थान आज अयोध्या के निकट "रत्नपुरी" के नाम से प्रसिद्ध है।

६. सुलोचना जयकुमार—हस्तिनापुर के महाराज सोम के पुत्र जयकुमार भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति हुए। इनकी धर्मपरायण शीलशिरोमणि धर्मपत्नी सुलोचना की भक्ति के कारण गंगा नदी के मध्य आया हुआ उपसर्ग दूर हुआ।

७. रोहिणी व्रत की कथा—भगवान वासुपूज्य के समय इसी हस्तिनापुर में राजा अशोक की रानी रोहिणी ने पूर्वभव में रोहिणी व्रत किया था, जिसके महात्म्य से उसे शोक और दुख क्या होता है ? नहीं पता था। इसकी बड़ी रोमांचक कथा है। राजा अशोक ने एक दिन श्वेत केश देख विरक्त हो भगवान वासुपूज्य के समवसरण में दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त करके मोक्ष पद को प्राप्त किया। रानी रोहिणी ने आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्री पर्याय का छेदकर सोलहवें स्वर्ग को प्राप्त किया।

८. जम्बूद्वीप से पहचान बन गई इस तीर्थ की—जब से इस तीर्थ पर परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के चरण पड़े तब से यह तीर्थ विकास को प्राप्त होता चला गया। अनेक घटनाओं की शृंखला में जम्बूद्वीप की रचना एक मजबूत कड़ी के रूप में जुड़ गई है। आज न केवल भारत के कोने–कोने में अपितु विश्वभर में जम्बूद्वीप रचना के दर्शन की चर्चा रहती है। जम्बूद्वीप के साथ तेरहद्वीप, तीनलोक की रचना भी प्रथम बार शास्त्रीय प्रमाणों से निर्मित की गई अद्वितीय रचनाएं हैं। यह सब पूज्य माताजी के ज्ञान व प्रेरणा का प्रतिफल है।

इस प्रकार अनेक इतिहास को लिए हुए यह हस्तिनापुर तीर्थ युगों–युगों तक इस पृथ्वी तल पर धर्म की वर्षा करता रहे, यही मंगल भावना है।

एक अद्वितीय जैन केन्द्र

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का परिचय

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी (अध्यक्ष)

राजधानी दिल्ली से 110 किमी. दूर उत्तरप्रदेश के जिला मेरठ स्थित पौराणिक तीर्थ **हस्तिनापुर** में सन् 1974 से 'जम्बूद्वीप' नाम से एक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र अवस्थित है। 200 फुट के व्यास में निर्मित जैन भूगोल की अद्वितीय रचना **'जम्बूद्वीप'** के अन्दर हल्के गुलाबी संगमरमर से निर्मित 101 फुट ऊँचे **सुमेरु पर्वत** की शोभा आज प्रत्येक व्यक्ति के मन को आकर्षित करती है।

प्राचीन जैन साहित्य एवं भूगोल के परिचायक, वैज्ञानिकों के लिए शोध केन्द्र, आध्यात्मिक उन्नयन के लिए पवित्र स्थान, मानसिक शांति एवं जिनेन्द्र भगवान की पूजन-भक्ति के सम्पूर्ण साधनों तथा समस्त आधुनिक सुविधाओं की उपलब्धता सहित इस अनुपम तीर्थ की जनक संस्था का नाम है- **दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान (रजि.)।** जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की पावन प्रेरणा से 1972 में इस संस्थान की स्थापना हुई। दिगम्बर जैन इंस्टीट्यूट ऑफ कॉस्मोग्राफिक रिसर्च (Digambar Jain Institute of Cosmographic Research) के नाम से प्रसिद्ध इस संस्थान का आधारभूत लक्ष्य था-जम्बूद्वीप का निर्माण और यह जम्बूद्वीप ही अंततः संस्थान का मुख्य कार्यालय बन गया।

जंबूद्वीप की 35 एकड़ पवित्र भूमि पर संस्थान के द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं/रचनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है-

1. जंबूद्वीप रचना-जिनेन्द्र भगवान की 207 प्रतिमाओं से पावन भारतीय शिल्प और जैन भूगोल का अद्वितीय उदाहरण, आधुनिक आकर्षणों-बिजली के फौव्वारे, नौका-विहार इत्यादि सहित।

2. कमल मंदिर-भगवान महावीर की अतिशयकारी खड्गासन प्रतिमा इस मंदिर में विराजमान हैं।

3. ध्यान मंदिर-24 तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाओं सहित **'ह्रीं'** रचना इस मंदिर में विराजमान हैं, जो कि 'ध्यान' (Meditation) करने हेतु उत्तमोत्तम माध्यम हैं।

4. त्रिमूर्ति मंदिर-भगवान आदिनाथ, भरत एवं बाहुबली की खड्गासन प्रतिमाओं से इस मंदिर का नाम सार्थक है। कमल पर विराजमान भगवान नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ से इस मंदिर की शोभा द्विगुणित हो गयी है।

5. वासुपूज्य मंदिर-इस मंदिर में 12वें तीर्थंकर-वासुपूज्य स्वामी की खड्गासन प्रतिमा विराजमान हैं।

6. शांतिनाथ मंदिर-जिन भगवन्तों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणकों से हस्तिनापुर की भूमि परम-पावन हुई है, उन शांति-कुंथु और अरहनाथ भगवंतों की खड्गासन प्रतिमाएँ इस मंदिर में विराजमान हैं।

7. ॐ मंदिर-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों की प्रतिमाओं सहित **ॐ** (ओम) रचना इस मंदिर में विराजित है।

8. विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर-इस मंदिर में विदेह क्षेत्र के विद्यमान 20 तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बीस कमलों पर विराजमान हैं।

9. सहस्रकूट मंदिर-जिनेन्द्र भगवान की 1008 प्रतिमाओं सहित।

10. भगवान ऋषभदेव मंदिर-धातु निर्मित भगवान ऋषभदेव की मूलनायक प्रतिमा एवं अन्य जिन प्रतिमाओं सहित।

11. भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ-'भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' में निर्मित, भगवान के जीवन चरित्र को प्रदर्शित करने वाला, 8 प्रतिमाओं से समन्वित 31 फुट ऊँचा कीर्तिस्तंभ।

12. तेरहद्वीप जिनालय-इस मंदिर के अंदर मध्यलोक के तेरहद्वीपों की अकृत्रिम रचना का अति सुन्दरता के साथ दिग्दर्शन कराया गया है, जिसमें पंचमेरु पर्वतों के साथ-साथ कुल 2127 प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

13. अष्टापद दिगम्बर जैन मंदिर-इस मंदिर के अंदर प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि अष्टापद-कैलाशपर्वत की आकर्षक प्रतिकृति विराजमान है। कैलाशपर्वत का ही दूसरा नाम अष्टापद है। 4 फरवरी 2000 को लाल किला मैदान, दिल्ली में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा इस प्रतिकृति के समक्ष निर्वाणलाडू चढ़ाकर इसका उद्घाटन किया गया।

14. नवग्रह शान्ति जिनमंदिर—पूज्य माताजी की पावन प्रेरणा से उत्तर भारत में प्रथम बार निर्मित इस नवग्रहशांति जिनमंदिर में नवग्रह अरिष्ट निवारक नव तीर्थंकरों की धातु निर्मित सुन्दर प्रतिमाएँ विराजमान हैं, जिनके दर्शन-पूजन करके भक्तगण अपने ग्रहों की शांति करते हुए देखे जाते हैं।

15. तीर्थंकरत्रय की विशाल प्रतिमाएँ—हस्तिनापुर में जन्मे तीर्थंकर श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ भगवान की 31-31 फुट की खड्गासन प्रतिमाएँ पूज्य माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप स्थल पर विराजमान हुई हैं, जिनका विशाल मंदिर भी प्रस्तावित है।

16. तीनलोक की भव्य रचना—त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि करणानुयोग ग्रंथों के अनुसार तीन लोक की सुन्दर रचना का निर्माण भी पूज्य माताजी की प्रेरणा का ही सुफल है। इसमें अत्याधुनिक सुविधा के लिए लिफ्ट लगाई गई है, जिससे सभी भक्तगण सिद्धशिला तक के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

17. जम्बूद्वीप पुस्तकालय—प्राचीन हस्तलिखित एवं प्रकाशित लगभग 15000 ग्रंथों एवं पुस्तकों के संग्रह सहित।

18. जम्बूद्वीप औषधालय

19. ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस—विशेष कृत्रिम रेल, जिसमें चौबीसों तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियों का विविध झाँकियों एवं चित्रावली के माध्यम से मनमोहक प्रस्तुतीकरण किया गया है।

20. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला—1972 में संस्थापित इस ग्रंथमाला द्वारा अब तक लाखों की संख्या में 300 से अधिक ग्रंथों एवं पुस्तकों के संस्करणों का प्रकाशन हो चुका है।

21. सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका—यह पत्रिका सन् 1974 से लगातार प्रकाशित हो रही है, जिसमें जैन शास्त्रों के साररूप लेखों एवं अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का संकलन एक स्थान पर प्राप्त होता है।

22. राजा श्रेयांस भोजनशाला—आने वाले दर्शनार्थियों को प्रतिदिन शुद्ध (जैनचर्या के अनुरूप) भोजन उपलब्ध कराने वाला यह दिगम्बर जैन समाज का प्रथम भोजनालय है, जहाँ एक साथ 500 लोग बैठकर भोजन कर सकते हैं।

23. धर्मशालाएँ—200 से अधिक फ्लैट, बंगले इत्यादि, जिनमें ठहरने संबंधी सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

24. मनोरंजन के साधन—तरह-तरह के झूले, बच्चों की रेल, हँसी के गोलगप्पे, नौका विहार, फौव्वारे, हरे-भरे लॉन, पूरे कैम्पस में घूमने के लिए ऐरावत हाथी (मोटर से संचालित), बिजली की आकर्षक व्यवस्था, सुन्दर प्राकृतिक दृश्य इत्यादि बरबस ही दर्शनार्थियों को इस भव्य रचना की तुलना 'स्वर्ग' से करने के लिए प्रेरित करते हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा आयोजित सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम

अक्टूबर 1981-जम्बूद्वीप (हस्तिनापुर) स्थल पर **'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति सेमिनार'**।

31 अक्टूबर 1982-फिक्की ऑडिटोरियम-दिल्ली में **'जम्बूद्वीप सेमिनार'** जिसका उद्घाटन श्री राजीव गांधी, तत्कालीन संसद सदस्य द्वारा किया गया।

अप्रैल 1985-जम्बूद्वीप (हस्तिनापुर) स्थल पर **'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान'** विषय पर अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार, जिसका उद्घाटन उ.प्र. के तत्कालीन मंत्री प्रोफेसर वासुदेव सिंह द्वारा किया गया।

जून 1982 से अप्रैल 1985-लालकिला मैदान, दिल्ली से तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी द्वारा 4 जून, 1982 को पूरे देश में भ्रमण करने हेतु **'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति'** रथ का उद्घाटन किया गया। जनसाधारण में अहिंसा, चारित्र-निर्माण तथा विश्व बन्धुत्व के संदेश का प्रचार-प्रसार करते हुए 1045 दिन तक देश भर में भ्रमण करने के पश्चात् यह ज्ञान ज्योति तत्कालीन रक्षामंत्री श्री पी.वी. नरसिम्हा राव (भूतपूर्व प्रधानमंत्री) द्वारा जम्बूद्वीप के मुख्य द्वार के समक्ष सदैव के लिए स्थापित कर दी गई।

1992-**'अंतर्राज्यीय चरित्र निर्माण संगोष्ठी'** का जंबूद्वीप स्थल पर श्री नेमीचंद जैन, विधायक (मध्यप्रदेश) की अध्यक्षता में आयोजन किया गया।

'जैन गणित' एवं **'चारित्र निर्माण'** आदि विषयों पर हुई संगोष्ठियाँ **मेरठ विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के संयुक्त तत्वावधान में** आयोजित की गईं।

1993-अयोध्या में अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद के संयुक्त तत्वावधान में **'भारतीय संस्कृति के आद्य प्रणेता भगवान ऋषभदेव'** विषय पर संगोष्ठी।

अक्टूबर 1995-मेरठ विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में पंचदिवसीय **'गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती साहित्य संगोष्ठी-95'**।

मार्च-अप्रैल 1998-तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा 9 अप्रैल 1998 को तालकटोरा स्टेडियम, दिल्ली से देश भर में भ्रमण करने हेतु **'भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ'** का उद्घाटन। 3 वर्ष तक देशभर में तीर्थंकर भगवन्तों के सर्वोदयी सिद्धांतों एवं जैनधर्म की प्राचीनता का प्रचार-प्रसार करने के पश्चात् यह समवसरण इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश द्वारा तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग तीर्थ (इलाहाबाद) में स्थापित कर दिया गया।

अक्टूबर 1998-जम्बूद्वीप स्थल पर **'राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन',** जिसका उद्घाटन किया गया-स्वर्गीय श्री राजेश पायलट (तत्कालीन संसद सदस्य द्वारा)।

फरवरी 2000-तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा 4 फरवरी 2000 को लाल किला मैदान, दिल्ली में एक वर्ष तक चलने वाले **'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष'** का उद्घाटन किया गया।

इस युग में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव पर 1008 संगोष्ठियों की शृंखला, भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभों का निर्माण तथा अन्य अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस वर्ष के अंतर्गत आयोजित किये गये।

टोरण्टो, कनाडा, न्यूजर्सी आदि विदेश की भूमियों पर भी इन्हीं प्रेरणाओं के माध्यम से 4 फरवरी 2000 को निर्वाण महामहोत्सव मनाया गया।

जून 2000-जम्बूद्वीप स्थल पर 11 जून 2000 को **'जैनधर्म की प्राचीनता'** विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया गया।

फरवरी 2001-भगवान ऋषभदेव की दीक्षाभूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में **'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ'** का नवनिर्माण। इस तीर्थ पर भगवान के दीक्षा कल्याणक के प्रतीकस्वरूप धातु के वटवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन महायोगी ऋषभदेव की सवा पांच फुट उत्तुंग पिच्छी-कमण्डलु सहित खड्गासन प्रतिमा, केवलज्ञान कल्याणक के प्रतीकस्वरूप भगवान की चतुर्मुखी प्रतिमा सहित दिव्य समवसरण रचना तथा निर्वाण कल्याणक के प्रतीक स्वरूप 51 फुट उत्तुंग 'कैलाशपर्वत' की भव्य रचना पर भगवान ऋषभदेव की 14 फुट उत्तुंग अत्यंत मनोहारी लालवर्णी पद्मासन प्रतिमा तथा तीन चौबीसी के प्रतीक स्वरूप 72 जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। 'ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ' भी स्थापित है। 4 से 8 फरवरी 2001 तक 'भगवान ऋषभदेव पंचकल्याणक प्रतिष्ठा' एवं 1008 महाकुंभों से कैलाशपर्वत पर प्रतिष्ठित भगवान ऋषभदेव का 'महाकुंभमस्तकाभिषेक' कार्यक्रम।

सन् 2003-2004-भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) में **'नंद्यावर्त महल तीर्थ'** का निर्माण। भगवान महावीर मंदिर, भगवान ऋषभदेव मंदिर, नवग्रहशांति जिनमंदिर, त्रिकाल चौबीसी मंदिर और नंद्यावर्त महल (भगवान महावीर का जन्म महल) एवं उसमें स्थापित भगवान शांतिनाथ

जिनालय इस तीर्थ के मुख्य आकर्षण हैं। महावीर की जन्मभूमि के प्रचार-प्रसार हेतु **भगवान महावीर ज्योति रथ** सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवर्तन कर चुका है।

सन् 2005-2007-भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव-6 जनवरी 2005 को जन्मभूमि वाराणसी से इसका भव्य उद्घाटन होकर पूरे एक वर्ष तक (27 दिसम्बर 2005 तक) इसे विभिन्न आयोजनों के साथ मनाया गया।

पुनः सन् 2006 में पूज्य माताजी ने भगवान पार्श्वनाथ निर्वाणभूमि ''सम्मेदशिखर वर्ष'' घोषित किया तथा दिसम्बर 2007 में केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर भगवान पार्श्वनाथ सहस्राब्दि महोत्सव का राष्ट्रीय कार्यक्रम आयोजित करके 4 जनवरी 2008 को भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव का समापन किया।

विशेषरूप से इस संस्थान द्वारा 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में 'विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन' का आयोजन किया गया, जिसका उद्घाटन पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ससंघ के सानिध्य में भारत गणतंत्र की राष्ट्रपति महामहिम श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर राष्ट्रपति जी अपने पति डॉ. देवीसिंह शेखावत के साथ सम्मेलन में पधारीं। कार्यक्रम में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री टी.वी. राजेश्वर तथा स्वास्थ्य मंत्री श्री अनंत कुमार मिश्रा भी पधारे। इसी अवसर पर पूज्य माताजी द्वारा वर्ष 2009 को ''शांति वर्ष'' के रूप में मनाने की घोषणा की गई। यह 'शांति वर्ष-2009' वर्तमान में समस्त जैन समाज द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों में अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से मनाया गया।

सन् 2010 में पूज्य माताजी की प्रेरणा से गठित ''अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी'' द्वारा भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकासकार्य सम्पन्न किया गया है। तीर्थ पर भगवान पुष्पदंतनाथ की सवा 9 फुट पद्मासन प्रतिमा सुन्दर जिनमंदिर में विराजमान होकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित हो चुकी हैं तथा भगवान पुष्पदंतनाथ कीर्तिस्तंभ तीर्थ की कीर्ति को दिग् दिगन्तव्यापी ख्याति प्राप्त कराने में निमित्तभूत है।

सन् 2012 में अतिशय क्षेत्र **श्री महावीर जी (राज.) में** पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद से शांतिवीर नगर के निकट स्थित महावीर धाम परिसर में **पंचबालयति दिगम्बर जैन मंदिर** का भव्य निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ है। यहाँ पर पाँचों बालयति भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान करके पृथक् वेदियों में पद्मावती, क्षेत्रपाल की प्रतिमाएँ भी विराजमान की गई हैं। संस्थान द्वारा उक्त जिनमंदिर का पंचकल्याणक दिनाँक 29 जनवरी से 2 फरवरी 2012 तक सानंद सम्पन्न किया गया है तथा दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत इस जैन मंदिर का संचालन सुचारू रूप से किया जा रहा है।

इस संस्थान के द्वारा समय-समय पर विविध पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएं एवं धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न होते रहते हैं। संस्थान के अद्भुत कार्यकलाप की श्रेणी में है-**णमोकार महामंत्र बैंक,** जहाँ प्रतिवर्ष श्रद्धालु भक्तों द्वारा लाखों की संख्या में णमोकार मंत्र लिखकर जमा कराए जाते हैं। ये करोड़ों महामंत्र विश्वशांति की किरणें प्रसारित करने में अतिशय धरोहरस्वरूप हैं।

संस्थान द्वारा दिये जाने वाले पुरस्कार

गणिनी ज्ञानमती पुरस्कार-सन् 1995 से प्रत्येक पाँच वर्ष में यह पुरस्कार जैन धर्म पर उच्चस्तरीय शोध तथा संस्थान की शैक्षणिक गतिविधियों में सहयोग हेतु किसी भी जैन विद्वान या समर्पित कार्यकर्ता को 1,00,000/-(एक लाख) रुपये की नगद राशि, प्रशस्ति-पत्र इत्यादि के साथ प्रदान किया जाता था। अप्रैल 2006 में ''गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी आर्यिका दीक्षा स्वर्ण जयंती महोत्सव'' के अवसर पर संस्थान द्वारा प्रतिवर्ष इस पुरस्कार को देने का निर्णय लिया गया अतः अब यह पुरस्कार प्रतिवर्ष किसी वरिष्ठ विद्वान अथवा विशिष्ट समाजसेवी को प्रदान किया जाता है।

आर्यिका रत्नमती पुरस्कार-सन् 1999 में स्थापित 25,000/- रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

जम्बूद्वीप पुरस्कार-सन् 2000 में स्थापित 25,000/- रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

नंद्यावर्त महल पुरस्कार-सन् 2004 से प्रारंभ 25000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

श्री छोटेलाल जैन पुरस्कार-सन् 2003 में स्थापित 25,000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

प्रकाशचंद जैन स्मृति पुरस्कार-सन् 2012 से प्रारंभ 25000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

जम्बूद्वीप बाल प्रतिभा पुरस्कार-सन् 2010 से प्रारंभ 11000/-रुपये की नगद राशि सहित प्रतिवर्ष प्रदान किया जाने वाला पुरस्कार।

उपरोक्त पुरस्कारों के अतिरिक्त 'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव वर्ष' के अवसर पर घोषित **'भगवान ऋषभदेव नेशनल अवार्ड', 'ब्राह्मी पुरस्कार', 'भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर पुरस्कार', 'गणिनी ज्ञानमती दीक्षा स्वर्ण जयंती पुरस्कार', 'हीरक जयंती पुरस्कार'** तथा **रूपाबाई पुरस्कार** आदि भी संस्थान द्वारा प्रदान किये जा चुके हैं।

पुनः ''गणिनी ज्ञानमती अमृत महोत्सव''-18 अक्टूबर 2013 के अवसर पर 80000/-रुपये की राशि वाला **'अमृत महोत्सव पुरस्कार'** भी प्रदान किया गया।

इस प्रकार यह संस्थान अपनी विभिन्न समर्पित कार्य योजनाओं द्वारा समाज की सेवा में प्रतिक्षण संलग्न है। मानसिक शांति, आध्यात्मिक विकास, प्राकृतिक सौन्दर्य एवं अन्य अनेक लाभ एक साथ प्राप्त करने हेतु यह संस्थान जंबूद्वीप दर्शन के लिए आपको सादर आमंत्रित करता है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के सहयोगी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" की स्थापना सन् 1972 में हुई। तब से अब तक लाखों की संख्या में ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है और निरन्तर हो रहा है। ग्रंथमाला से पाठकों को ग्रन्थ कम कीमत में प्राप्त हो सकें, इस दृष्टि से ग्रन्थमाला में एक संरक्षक योजना अगस्त सन् 1990 से प्रारंभ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत निम्न महानुभाव अब तक संरक्षक बनकर अपना सहयोग प्रदान कर चुके हैं।

शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)।
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.।
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली।
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई।
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.।
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।

11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली।
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
19. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., अमर चंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
20. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।

संरक्षक

1. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन एवं स्व. श्रीमती आदर्श जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
2. श्रीमती राजूबाई मातेश्वरी श्री शिखर चन्द भाई देवेन्द्र कुमार लखमी चन्द जैन, सनावद (म.प्र.)।
3. श्री चिमनलाल चुन्नीलाल दोशी, कीका स्ट्रीट, मुम्बई।
4. श्रीमती अरुणाबेन मन्नूभाई कोटड़िया, सी.पी. टैंक रोड, मुम्बई।
5. श्रीमती ताराबेन चन्दूलाल दोशी, फ्रेन्च ब्रिज, मुम्बई।
6. श्री रतिलाल चुन्नीलाल दोशी, मुम्बई।
7. स्व. श्रीमती मथुराबाई खुशाल चन्द्र जैन, द्वारा-श्री रतन चन्द खुशाल चन्द गाँधी के सुपुत्र श्री धन्य कुमार, अशोक कुमार, शिरीश कुमार, धर्मराज गाँधी फलटन (महा.)।
8. श्री शांतिलाल खुशाल चन्द गाँधी, फलटन (सातारा) महा.।
9. श्री अनन्त लाल फूलचन्द फड़े, अकलूज (सोलापुर) महा.।
10. श्री हीरालाल माणिकलाल गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
11. श्री जयकुमार खुशालचंद गाँधी, अकलूज (सोलापुर) महा.।
12. श्रीमती बदामी देवी मातेश्वरी श्री पदम कुमार जैन गंगवाल, कानपुर (उ.प्र.)।
13. श्रीमती कमलादेवी ध.प. स्व. श्री महेन्द्र कुमार जैन, घण्टे वाले हलवाई, दरियागंज, नई दिल्ली।
14. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री श्रवण कुमार जैन, चावड़ी बाजार, दिल्ली।
15. श्री मुकेश कुमार जैन, कटरा शहंशाही, चाँदनी चौक, दिल्ली।
16. श्री हुकमीचंद मांगीलाल शाह, धानमंडी, उदयपुर (राज.)
17. श्री किरण चन्द्र जैन, कटरा धूलियान, चाँदनी चौक, दिल्ली।
18. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री महावीर प्रसाद जैन इंजी. विवेक विहार, दिल्ली
19. श्रीमती उषादेवी ध.प. श्री अशोक कुमार जैन (खेकड़ा निवासी), बहराइच (उ.प्र.)।
20. श्रीमती लीलावती ध.प. श्री हरीश चन्द्र जैन, शकरपुर, दिल्ली।
21. श्री दुलीचन्द जैन, बाहुबली एन्कलेव, दिल्ली।
22. श्री रतिलाल केवलचन्द गाँधी की पुण्य स्मृति में, पापुलर परिवार, सूरत (गुज.)।
23. श्रीमती भंवरीदेवी ध.प. श्री सदासुख जैन पांड्या की समृति में इन्दर चन्द सुमेरमल जैन पांड्या शिलांग (मेघालय)।

24. श्रीमती सोहनीदेवी ध.प. श्री तनसुखराय सेठी, फैन्सी बाजार, गौहाटी (आसाम)।
25. श्रीमती धापूबाई ध.प. श्री कस्तूर चन्द जैन, रामगंज मण्डी (राज.)।
26. श्री मिट्ठनलाल चन्द्रभान जैन, कविनगर गाजियाबाद (उ.प्र.)।
27. श्रीमती शकुन्तलादेवी ध.प. श्री सुरेशचंद जैन (बर्तन वाले), खुड़बुड़ा मोहल्लका, देहरादून (उ.प्र.)।
28. श्री देवेन्द्र कुमार गुणवन्त कुमार टोंग्या, बड़नगर (म.प्र.)।
29. श्री दिगम्बर जैन समाज, तहसील फतेहपुर (बाराबंकी) उ.प्र.।
30. श्री मन्नालाल रामलाल जैन डूंगरवाला, भानपुरा (मन्दसौर) म.प्र.।
31. श्री इन्दर चन्द कैलाश चंद चौधरी, सनावद (म.प्र.)।
32. श्री प्रकाश चन्द अमोलक चन्द जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
33. स्व. श्री विमल चन्द जैन, रखबचन्द दसरथ सा, सनावद (म.प्र.)।
34. श्री आजाद कुमार जैन शाह (सनावद वाले), इन्दौर (म.प्र.)।
35. श्रीमती सुषमा देवी ध.प. श्री राकेश कुमार जैन, मवाना (मेरठ) उ.प्र.।
36. श्रीमती कुसुम जैन ध.प. श्री रमेशचन्द जैन, किशनपुरी, बागपत रोड, मेरठ।
37. श्रीमती किरण जैन ध.प. श्री पदम प्रसाद जैन एडवोकेट, मेरठ (उ.प्र.)।
38. श्रीमती विमलादेवी ध.प. श्री जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार, टोडरमल रोड, नई दिल्ली।
39. श्रीमती क्षमादेवी जैन, मधुबन, दिल्ली।
40. श्रीमती कमलादेवी ध.प. श्री राजेन्द्र कुमार जैन टोडरका, ठाणे (महा.)।
41. श्री अजित प्रसाद जैन बब्बेजी, श्री राजकुमार श्रवण कुमार जैन, लखनऊ।
42. श्री प्रभा चन्द गोधा, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर-6 (राज.)।
43. श्री गोपीचन्द विपिन कुमार जैन, सरधना टैन्ट हाउस, गंजमंडी, सरधना।
44. श्रीमती रतनसुन्दरी देवी ध.प. श्री वीरचन्द जैन (चिकन वाले), चूड़ीवाली गली, चौक बाजार, लखनऊ।
45. डॉ. सुभाषचन्द जैन, रातानाड़ा क्लीनिक, रातानाड़ा बाजार, जोधपुर (राज.)।
46. श्री प्रमोद कुमार जैन (मुजफ्फरनगर वाले) 35 एच.वी.रोड, न्यू मार्केट, थरपकना, रांची (बिहार)।
47. श्री विजेन्द्र कुमार जैन, के.-1/20 मॉडल टाउन, दिल्ली।
48. श्री कैलाश चंद जैन, 45 भगत वाटिका, सिविल लाइन, जयपुर (राज.)।
49. श्री सुभाषचंद जैन, श्री दि. जैन पार्श्वनाथ चैत्यालय, 405 डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली।
50. श्री सुभाष चन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.।
51. श्री चन्द्रसेन जैन, द्वारा-सुमेरचन्द, चन्द्रसेन जैन, सब्जी मण्डी, नहटौर (बिजनौर)।
52. श्री सुधीर कुमार जैन जे.ई., नन्द किशोर जैन, शारदा नहर खण्ड, शाहजहाँपुर।
53. श्री सुकुमालचंद जैन, मोती ट्रेडिंग कम्पनी, टी.आर. फुकन रोड, फैन्सी बाजार, गौहाटी।
54. श्री अनिल पुलकित सेठी, बी 1/122, फेज-2, अशोक विहार, दिल्ली-110052।
55. श्री चन्द्रमोहन बंसल, 11, पूसा रोड, करोलबाग, नई दिल्ली-5।
56. श्री गिरधर प्रसाद आमोद प्रसाद जैन, जैन वस्त्रालय, काली मार्केट, सिवान (बिहार)।
57. श्री सतीश चन्द जैन, 31 सिविल लाइन, म.नं.-10, सेक्टर-2, टाइप-5 झांसी।
58. श्री स्वरूप चन्द कासलीवाल, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
59. श्री हुलास चन्द सेठी, अयोध्या शुगर मिल्स, राजा का सहसपुर, बिलारी (उ.प्र.)।
60. श्रीमती किरण देवी जैन ध.प. श्री नरेन्द्र कुमार जैन, सिविल लाइन,सीतापुर (उ.प्र.)।
61. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री प्रवीण कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।

62. श्री सूरजमल पुत्र श्री विनीत कुमार जैन, मोहल्ला गंजकटरा पूरणटरा पूरणजाट, जैन विला, मुरादाबाद (उ.प्र.)।
63. स्व. श्री शिखर चन्द जैन, 'टिम्बर कमीशन एजेन्ट', शंकरगंज, हापुड़ (उ.प्र.)।
64. श्रीमती राजेश्वरी जैन मातेश्वरी श्री राकेश जैन 31, सिविल लाईन, सीतापुर।
65. श्री राजकुमार जैन, मैसर्स रविदत्त प्रेमचन्द जैन बारदाने वाले, श्यामगंज, बरेली।
66. श्री बलवीर जैन, द्वारा-जानकी एक्सटेंशन रिफाइनरी, गाँधीगंज, शाहजहाँपुर।
67. श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर (नागालैंड)।
68. श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, ईदगाह कालोनी, आगरा (उ.प्र.)।
69. श्री पोखपाल जैन, द्वारा-नावेल्टी मेटल इंडिया, मानसिंह गेट, अलीगढ़ (उ.प्र.)।
70. श्रीमती रश्मि जैन ध.प. श्री विजय कुमार जैन, दरियागंज, नई दिल्ली।
71. श्रीमती विमला देवी ध.प. श्री प्रमोद कुमार जैन इंजी., शाहजहाँपुर (उ.प्र.)।
72. स्व. श्रीमती कैलाशवती जैन ध.प. श्री कैलाश चन्द जैन इंजी., तोपखाना बाजार, मेरठ।
73. श्रीमती अरुण कुमार नांद्रेकर ध.प. भाऊ साहेब नांद्रेकर, मुलुन्ड (वेस्ट) मुम्बई।
74. श्री भागचन्द मनीष कुमार ठोलिया, द्वारा-किरन एजेंसी, पो. बुरहानपुर, (म.प्र.)।
75. श्री कैलाशचन्द राजकुमार जैन रावंका, पो. बिसवां (सीतापुर) उ.प्र.।
76. श्रीमती विद्यावती जैन, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली।
77. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) एवं सुपुत्र श्री मदन कुमार, प्रदीप कुमार एवं प्रवीण कुमार जैन, धर्मपुरा, गाँधीनगर, दिल्ली।
78. श्रीमती अरुणा जैन, ध.प. प्रवीन्द्र कुमार जैन, प्रीतमपुरा, दिल्ली।
79. श्रीमती पुष्पादेवी, ध.प. महेन्द्र कुमार जैन, पुष्पांजली एन्क्लेव, दिल्ली।
80. श्री बाबूलाल तोताराम जैन, भुसावल (महा.)।
81. डॉ. अनुपम जैन, सुदामा नगर, इंदौर (म.प्र.)।
82. श्री विनय कुमार जैन, ज्वैलर्स, दरीबाकलां, दिल्ली।
83. स्व. श्री आनन्द प्रकाश जैन 'शान्तिप्रिय', जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.।
84. श्रीमती राजुलबाई ध.प. श्री नेमीचन्द जैन लोहाड़े, पो. कोपरगाँव (महा.)।
85. श्री धन्नालाल गोधा, मल्हारगंज, इंदौर (म.प्र.)।
86. श्री सुनील कुमार मनोज कुमार जैन, झिलमिल कालोनी, दिल्ली।
87. श्रीमती आशा जैन ध.प. श्री राजेश कुमार जैन बरुआ सागर (उ.प्र.)।
88. श्री पारसमल डूंगरमल जी पाटनी पो. मेड़तासिटी, नागौर (राजस्थान)।
89. श्री अनिल कुमार जैन (गुड़गांव वाले) प्रियदर्शनी विहार, दिल्ली-92।
90. श्रीमती कृष्णा बाई नेमीनाथ जैन, पी. वाले, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
91. श्रीमती मंजूलता जैन ध.प. श्री प्रभात चन्द गोधा, नया बाजार, अजमेर (राज.)।
92. श्री प्रमोद कुमार जैन, पारस प्रिन्टर्स, शाहदरा-दिल्ली।
93. श्री चांदमल अनिल कुमार सरावगी, किशनगंज (बिहार)।
94. कुमारी अदिती सुपुत्री श्री अपोलो जी जैन सौगानी, इंदौर।
95. श्रीमती मंजूलता ध.प. प्रभाचन्द गोधा-नया बाजार, अजमेर।
96. श्री सुचेद्र कुमार शैलेन्द्र कुमार जैन, डाल्टनगंज (झारखंड)।
97. श्रीमती जतनदेवी लक्ष्मीचंद जैन, चेन्नई (तमिलनाडु)।
98. श्रीमती सखाई जैन ध.प. श्री जीतमल जैन, मड़ाना (कोटा) राज.।

99. श्री मोहित जैन पुत्र मुकेश जैन, जगन्नाथ जैन पहाड़िया, फतेहपुर (शेखावटी) राज.।
100. श्री नरेश जैन बंसल, गुड़गाँवा (हरि.)।
101. श्रीमती रतनबाई ध.प. राजेन्द्र प्रकाश कोठिया, कोटा (राज.)।
102. श्रीमती संतोष जैन ध.प. श्री अजीत कुमार जैन, भिवाड़ी (राज.)।
103. श्रीमती प्रेमलता जैन ध.प. श्री सुशील कुमार जैन, मलाड़ (मुम्बई)।
104. श्री राजेन्द्र कुमार पचौलिया, इंदौर (म.प्र.)।
105. स्व. श्री मोहनलाल हेमचंद गांधी, सतारा (महा.)।
106. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)
107. डॉ. विमला जैन ''विमल'' ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन, फिरोजाबाद (उ.प्र.)
108. सौ. पुष्पा पवन कुमार कासलीवाल, खामगांव (बुलठाणा) महा.।

आभार

श्री कैलाशचंद जैन सर्राफ
लखनऊ (उ.प्र.)

ब्र. कु. मंजू जैन
(सुपुत्री)

स्व. श्रीमती चंदारानी जैन
ध.प. श्री कैलाशचंद जैन सर्राफ

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी द्वारा विरचित कृतियों पर जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी चारित्रचन्द्रिका परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने ''श्री गौतम गणधर वाणी'' पर अमृतवर्षिणी टीका लिखकर प्रदान की है। चतुर्थकालीन वाणी पर लिखा गया यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं चारों अनुयोगों से समन्वित है। इस महान ग्रंथ के प्रकाशन में श्री कैलाशचंद जैन सर्राफ की सुपुत्री संघस्थ ब्र. कु. मंजू जैन एवं उनके लघु भ्राता श्री आदीश जैन, तत्पत्नी श्रीमती स्मृति जैन, तत्पुत्र-अमृत जैन, आगम जैन, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र. निवासी, लखनऊ (उ.प्र.) प्रवासी ने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

आप सभी के ज्ञानदान की भावनाओं का समान करते हुए आपके प्रति आभार ज्ञापित करते हुए यही मंगल कामना करते हैं कि आप अपने अर्थ का आगे भी इसी प्रकार धर्मकार्य में सदुपयोग करते हुए अपने पुण्य को दिन-प्रतिदिन वृद्धिंगत करते रहें और आपका मानव जीवन देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में इसी प्रकार सदैव सार्थक होता रहे।

-सम्पादक

स्वाध्याय प्रारंभ सवं समापन की विधि

अथ पौर्वाण्हिक[१] स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं।।

चत्तारिमंगलं — अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा — अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि — अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(९ बार णमोकार मंत्र जपना — सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलिअणंतजिणे।
णरपवर-लोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो।।२।।

—लघु श्रुतभक्ति —

श्रुतमपि जिनवरविहितं, गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अंगांग - बाह्यभावित - मनन्तविषयं नमस्यामि।।१।।

इच्छामि भंते! सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्म-सुत्त-पढमाणि-ओग-पुव्वगय-चूलिया चेव सुत्तत्थय-थुइ-धम्म-कहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(णमो अरहंताणं से लेकर पूरा पाठ पढ़कर ९ बार णमोकार मंत्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें।)

—आचार्यभक्ति —

गुरुभक्त्या वयं सार्ध-द्वीपद्वितयवर्तिनः।
वंदामहे त्रिसंख्योन-नवकोटि-मुनीश्वरान्।।१।।

इच्छामि भंते! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण-सम्मचारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

पुनः स्वाध्याय समापन करते समय —

नमोऽस्तु पौर्वाण्हिकस्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्ववत् णमो अरहंताणं आदि पढ़कर ९ बार महामंत्र जपकर 'थोस्सामिस्तव' पढ़कर श्रुतभक्ति पढ़ें)

---

१. मध्यान्ह में स्वाध्याय करते समय 'अपराण्हिक' बोलें। रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वरात्रिक' बोलें।

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।1।।

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका।
मुनिभिरुपासिततीर्था-सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।2।।

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः।।3।।

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, पापप्रणाशकं, पुण्यप्रकाशकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं इदं शास्त्रं श्री गौतमगणधरवाणी–नामधेयं, अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञ देवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवाः तेषां वचोनुसारमासाद्य श्रीगौतम–गणधरस्वामीप्रणीत–गणिनीप्रमुख–आर्यिकाश्रीज्ञानमतीकृत अमृतवर्षिणी–टीका समन्वितं। श्रोतारः सावधानतया (पठन्तु) शृण्वन्तु।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।4।।

सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्।।5।।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्री गौतम गणधर वाणी

भगवान महावीरस्वामी के प्रथम गणधर

श्रीगौतमस्वामी विरचित(संकलन एवं अमृतवर्षिणी टीका–गणिनी ज्ञानमती माताजी)

श्रीगौतमस्वामी उवाच—

मंगलाचरण

श्रीमते वर्धमानाय, नमो नमितविद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।१।।

–पद्यानुवाद–चौबोल छंद–

श्रीमन् वर्धमान को प्रणमूँ, जिनने अरि को नमित किया।
जिनके पूर्णज्ञान में त्रिभुवन, गौखुर सम दिखलाई दिया।।
ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री–महावीर को नित्य नमूं।
वीर महति महावीर सन्मती–प्रभु को कोटि कोटि प्रणमूं।।१।।

अर्थ–श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार होवे, जिन्होंने उपसर्ग करने वाले संगमदेव आदि विद्विष—शत्रुओं को भी नमित किया है एवं जिनके केवलज्ञान में ये तीनों लोक गोष्पद—गाय के पैर के गड्ढे के समान लघु प्रतीत होते हैं। ऐसे अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामी को नमस्कार होवे।।१।।

अनादिनिधन मूल मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म)

(अध्याय ३)

(प्राकृत एवं पद्यानुवाद)

श्रीगौतमस्वामी उवाच—

श्री गौतमस्वामी कहते हैं–

पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि-महावीरेण महा-कस्सवेण सव्वण्ह-णाणेण सव्व-लोय-दरसिणा सावयाणं साावियाणं खुड्डुयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खा-वदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि। तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादि-वादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्ता-दाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस-परदारा-गमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकद-परिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।

पद्यानुवाद–शंभु छंद

हे आयुष्मन्तों ! पहले ही यहाँ मैंने सुना वीर प्रभु से।
उन महाश्रमण भगवान् महतिमहावीर महाकाश्यप जिन से।।
सर्वज्ञज्ञानयुत सर्वलोकदर्शी उनने उपदेश दिया।
श्रावक व श्राविका क्षुल्लक अरु क्षुल्लिका इन्हों के लिए कहा।।१।।
ये पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, चउ शिक्षाव्रत बारह विध।
हैं सम्यक् श्रावक धर्म इन्हीं, में जो ये अणुव्रत पांच कथित।।
पहला अणुव्रत स्थूलतया, प्राणीवध से विरती होना।
दूजा अणुव्रत स्थूलतया, असत्यवच से विरती होना।।२।।
तीजा अणुव्रत स्थूलतया, बिन दी वस्तू को नहिं लेना।
चौथा अणुव्रत स्थूलतया परदारा से विरती होना।।
निजपत्नी में संतुष्टी या सब स्त्रीमात्र से रति तजना।
पंचम अणुव्रत स्थूलतया इच्छाकृत परीमाण धरना।।३।।

तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविध-अणत्थ-दण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोग-परिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहो-वासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम-सल्लेहणा-मरणं, तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।

से अभिमद-जीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसव-संवर-णिज्जर-बंधमोक्ख-महिकुसले धम्माणु-रायरत्तो पि माणु-रागरत्तो (पेम्माणुरागरत्तो) अट्ठि-मज्जाणुरायरत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिग्गंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे।

त्रय गुणव्रत में पहला गुणव्रत, दिश विदिशा का प्रमाण करना।
दूजा गुणव्रत नाना अनर्थ दण्डों से नित विरती धरना।।
तीजा गुणव्रत भोगोपभोग, वस्तू की संख्या कर लेना।
ये तीन गुणव्रत कहे, पुनः चारों शिक्षाव्रत को सुनना।।४।।
पहला शिक्षाव्रत सामायिक दूजा प्रोषध उपवास कहा।
तीजा है अतिथि संविभाग चौथा सल्लेखनमरण कहा।।
शिक्षाव्रत चार कहे पुनरपि, अभ्रावकाश तृतीयव्रत है।
जघन्य श्रावक से उत्तम तक, ये बारह व्रत तरतममय हैं।।५।।
इसमें अभिमत जीव रु अजीव उपलब्ध पुण्य अरु पाप कहे।
आस्रव संवर निर्जर व बंध अरु मोक्ष कुशल नव तत्त्व रहें।।
इनमें धर्मानुराग से रत प्रेमानुराग में रागी हो।
अस्थीमज्जा के सदृश धर्म के, अनुराग में रागी हो।।६।।
ममतापूर्वक गृहीत वस्तु में, गृहीत वस्तु अरु कृतवस्तू में।
अपने पालन किये पदार्थ में, अपने सेवित सुपदारथ में।।
निर्ग्रंथों के भी प्रवचन में, उत्तम अरु हितकर पदार्थ में।
सेवन की प्रवृत्ती रूप क्रिया में दोष हुए सो मिथ्या हों।।७।।

णिस्संकिय-णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्ल-पहावणा य ते अट्ठ।।१।।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्म-मणुपाल-इत्ता-

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमण-मुद्दिट्ठ देसविरदो य।।२।।
महु-मंस-मज्ज-जूआ, वेसादि-विवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वय-जुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।३।।

जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्ठदह*-भवण-वासिय-वाणविंतर-जोइसिय-सोहम्मीसाण-देवीओ वदिक्क-मित्तउवरिम-अण्णदर-महड्ढियासु देवेसु उव्वज्जंति।

निःशंकित निःकांक्षित अरु निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टी हैं।
उपगूहन स्थितीकरण वात्सल प्रभावना अठ अंग कहे।।
ये सभी पांच अणुव्रत त्रयगुणव्रत चउ शिक्षाव्रत माने हैं।
बारहविध गृहस्थधर्मों का अनुपालन श्रावक करते हैं।।८।।

दर्शनव्रत सामायिक प्रोषध सचित्तत्याग निशिभुक्ति त्यजी।
ब्रह्मचर्य व आरंभ परिग्रह अनुमति उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रती।।
मधु मांस मद्य जुआ वेश्यादिक व्यसनविवर्जनशील गृही।
पंचाणुव्रतयुत शिक्षाव्रत आदिक सातों से जो पूर्ण वही।।९।।

जो श्रावक और श्राविका या क्षुल्लक व क्षुल्लिका इन व्रत को।
धारण कर अठरहस्थान व भावन व्यंतर में नहिं जाते वो।
ज्योतिषियों में सौधर्म ईशान देवियों में नहिं जाते हैं।
उपरिम वैमानिक देवों में वे महाऋद्धिधर होते हैं।।१०।।

---

* १. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, ५. वनस्पति, ६. दोइन्द्रिय, ७. तीन इन्द्रिय, ८. चार इन्द्रिय, ९. निगोद, १०. असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ११. कुभोगभूमि, १२. म्लेक्षज, १३. पंचेन्द्रिय तिर्यंच, १४. नारकी, १५. नपुंसक, १६. स्त्री, १७. सुभोग भूमि, १८. ओर मनुष्य इन अठारह स्थानों में अणुव्रती नहीं जाते हैं एवं भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में और सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों में भी अणुव्रती नहीं जन्मते हैं।

तं जहा—सोहम्मी-साण-सणक्कुमार-माहिंद-बंभबंभुत्तर-लांतवकापिट्ठ-सुक्क-महासुक्क-सतार-सहस्सार-आणत-पाणत-आरण-अच्चुत-कप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबर-सत्थधरा, कडयंगद-बद्धनउड-कयसोहा।
भासुर - वर - बोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।४।।

उक्कस्सेण दोतिण्णि-भव-गहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभव-गहणाणि तदो सुमणु-सुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था[१] पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्व-दुक्खाणमंतं करेंति।

वह यह सौधर्मैशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म दिव में।
ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ रु शुक्र अरु महाशुक्र दिव में।।
पुनि शतार सहस्रार आनत प्राणत आरण अच्युत दिव में।
इन सोलह स्वर्गों मे ही ये सदृष्टि सचेलक उपजत हैं।।११।।

वे कटक व बाजूबन्द मुकुट से युत आडंबर शस्त्र धरें।
भासुरवर बोधि धरें बहु ऋद्धी सहित महर्द्धिक देव बनें।।
उत्कृष्टपने से दो त्रय भव व जघन्य से सात आठ भव लें।
फिर मानव से देवपद ले सुदेवपद से सुमनुष्य भव लें।।१२।।

फिर सद्गृहस्थ[२] निर्ग्रंथ मुनी हो सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।
मुक्ती पाते कृतकृत्य बने सब दुःखों का क्षय करते हैं।।
जब तक मुनिव्रत नहीं धरूँ, मुनियों को वंदन करता हूँ।
सर्व दुःखों का अंत करूँ, शिवपद की वाञ्छा करता हूँ।१३।।

महान औषधि क्या है?

जिणवयणमोसहमिणं विसहसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।

अर्थ—जिनेन्द्रदेव के वचन महान औषधि हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा और मरणरूप महाव्याधि को दूर करने वाले हैं तथा संपूर्ण दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)

---

१. साधितार्थाः छाया संभव है। २. यहाँ 'साइहत्था' का अर्थ 'सद्गृहस्थ' किया है किन्तु 'साधितार्थ' भी संभव है।

सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म)

(अमृतवर्षिणी टीका)

श्रीगौतमस्वामी कहते हैं–

''पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो।''

हे आयुष्मन्तों भव्यों ! मैंने प्रथम ही सुना है।

क्या सुना है ?

''**गिहत्थधम्मं**'' गृहस्थ धर्म सुना है। किनसे सुना है ?

इह खलु– ''**भयवदा महदिमहावीरेण**'' यहां (विपुलाचल पर्वत पर) भगवान महतिमहावीर के श्रीमुख से सुना है। ये भगवान महावीर कैसे हैं ?

समणेण महाकस्सवेण सवण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा।'' जो श्रमण हैं, महाकाश्यप गोत्र में जन्में हैं, सर्वज्ञानी हैं और सर्वदर्शी हैं ऐसे भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हमने सुना है।

किसके लिये उपदेश दिया है ? ''**सावयाणं साावियाणं खुड्डुयाणं खुड्डियाणं कारणेण।**''

श्रावक और श्राविकाओं के लिये तथा क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिए उपदेश दिया है।

क्या उपदेश दिया है ? ''**पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसिदाणि।**'' पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थधर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।

वे गौतमस्वामी उस पाक्षिक यतिप्रतिक्रमण में उपर्युक्त पंक्तियों को कह रहे हैं कि–

''हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है–महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, श्रमण भगवान् महावीर ने श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इनके लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।''

यहाँ पर ये पंक्तियाँ बहुत ही महत्व की हैं क्योंकि श्रीगौतमस्वामी मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञान से सहित थे। बुद्धि, ऋद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित थे। जिन्होंने कुछ दिन कम तीस वर्ष तक बराबर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि को सुना था तथा जिन्होंने स्वयं ही ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से ग्रंथ रचना की थी ऐसे महान् गणधर पूर्ण प्रामाणिक श्री गौतमस्वामी गौरवपूर्ण शब्दों में स्वयं कह रहे हैं कि ''मैंने सुना है'' तथा अतीव कोमल और प्रिय शब्दों में भक्तों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि ''हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है।'' इन शब्दों से श्री गणधरदेव गृहस्थ धर्म को भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्ध कर रहे हैं, जो कि बारह व्रतरूप है। इन बारह व्रतों में स्वयं गौतमस्वामी के शब्दों में ही आप उनके नाम देखिये–

''तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस परदारागमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।।''

अमृतवर्षिणी टीका–

पांच अणुव्रत

उन बारह व्रतों में से पहले पाँच अणुव्रत हैं। पहले अणुव्रत में स्थूलरूप से प्राणी–हिंसा से विरति है। दूसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से असत्य से विरति है। तीसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से बिना दिये हुये परद्रव्य से विरति है। चौथे अणुव्रत में स्वदार संतोष है अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष है और परस्त्री से विरति है इसीलिये यह स्थूलरूप से व्रत है अथवा किसी–किसी की सम्पूर्ण स्त्रीमात्र से ही विरति है। पाँचवें अणुव्रत में अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया गया है। इसलिये इसमें भी परिग्रह का पूर्ण त्याग न होने से स्थूलरूप से विरति है। इसीलिये ये पांच अणुव्रत कहलाते हैं।

बारह व्रतों के अंतर्गत तीन गुणव्रत का वर्णन करते हुये श्री गौतमस्वामी कहते हैं–

''तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिस पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।।''

तीन गुणव्रत

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये तीन गुणव्रत हैं। उनमें से पहले गुणव्रत में दिशा–विदिशाओं का प्रत्याख्यान (नियम) किया जाता है। दूसरे गुणव्रत में विविध प्रकार के अनर्थदण्ड से विरति होती है। तीसरे गुणव्रत में भोग–उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान—परिमाण किया जाता है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

पुनः आगे चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं–

''तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामायियं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।

चार शिक्षाव्रत

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये चार शिक्षाव्रत हैं। उनमें से प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है, दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है, तीसरा अतिथिसंविभाग व्रत है और चौथा अंत में सल्लेखनामरण नाम का शिक्षाव्रत है, इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं। इसमें **'तिदियं अब्भोवस्साणं'** का अर्थ समझ में नहीं आया है।

विशेषार्थ–

श्रीकुंदकुंददेव ने भी अपने चारित्रपाहुड़ ग्रंथ में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के ये ही नाम कहे हैं। श्री उमास्वामी आचार्य और श्री समंतभद्र स्वामी ने इन सात व्रतों के क्रम में कुछ अंतर रखा है। यथा– **''दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रत–संपन्नश्च।।२।।**

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग–परिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीसमंतभद्रस्वामी के शब्दों में अन्तर देखिये–

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। देशावकाशिकव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीउमास्वामी आचार्य और श्रीसमंतभद्रस्वामी ने इन बारह व्रतों का वर्णन करने के बाद अंत में सल्लेखना का वर्णन किया है किन्तु श्री गौतमस्वामी ने दिग्व्रत–देशव्रत को एक में ही शामिल कर अतिथिसंविभाग को तृतीय शिक्षाव्रत में लेकर सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में ही ले लिया है।

''पढम ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरिसिणा सावयाणं साावियाणं खुड्डुयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारहविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।।''

श्रावक के बारह व्रत धर्म हैं

हे आयुष्मन्तों भव्यों ! प्रथम ही मैंने सुना है। यहां भरतक्षेत्र के आर्यखंड में महाकाश्यपगोत्री, सर्वज्ञानी, सर्वलोकदर्शी, श्रमण, भगवान महतिमहावीर ने श्रावक–श्राविकाओं और क्षुल्लक–क्षुल्लिकाओं के लिए पंच अणुव्रत आदि बारहविध गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

से अभिमद–जीवाजीव–उवलद्ध–पुण्णपाव–आसव–संवर–णिज्जर–बंधमोक्ख–महिकुसले धम्माणु–रायरत्तो पि माणु–रागरत्तो (पेम्माणुरागरत्तो) अट्ठि–मज्जाणुरायरत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिग्गंथापावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे।

अर्थ—उपर्युक्त बारह व्रतों का धारक-जिसने जीव-अजीव तत्त्व को समझ लिया है तथा जिसने पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों को उपलब्ध कर लिया है ऐसे नव पदार्थों के विषय में अभिकुशल-निपुण व्यक्ति में धर्मानुराग से अनुरक्त होकर भी माँ-लक्ष्मी के अनुराग में रक्त है। (गृहस्थ होने से परिग्रह का त्यागी नहीं है) एवं अस्थिमज्जा के समान अनुराग से रक्त है। (जिस प्रकार सात धातुओं में अस्थि-हड्डी मज्जा नामक धातु से निरन्तर संलग्न रहती है उसी तरह सह-धर्मियों के साथ प्रीति का होना ऐसी सघन प्रीति को अस्थिमज्जा प्रीति कहते हैं।) ऐसा गृहस्थ मूर्च्छितार्थ—ममतापूर्वक ग्रहण किये गये पदार्थ में, गृहीतार्थ—सामान्य रूप से ग्रहण किये गये पदार्थ में, विहितार्थ—अपने द्वारा किये गये पदार्थ में, पालितार्थ—अपने द्वारा पालन किये गये पदार्थ में, सेवितार्थ—अपने द्वारा सेवित-उपयोग में आने वाले पदार्थ में, निर्ग्रंथ प्रवचन—मुनियों के प्रवचन में, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, श्रेयो-कल्याणकारी पदार्थ में, सेवितार्थ—सेवन प्रवृत्तिरूप क्रिया में (प्रमाद से जो हुआ हो वह मिथ्या होवे) ऐसा अभिप्राय है।

उसी के अन्तर्गत-

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्ममणुपालइत्ता।।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।

ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म है। इनका पालन करते हुए श्रावक क्रम से ग्यारह स्थानों को प्राप्त करते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्त त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ निवृत्ति, परिग्रह विरति, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान हैं।

भावार्थ—श्रीगौतमस्वामी ने यहां इन बारहव्रतों को गृहस्थ का धर्म कहा है।

तथा जो ग्यारह स्थान बताए हैं, इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से दर्शन प्रतिमा से लेकर रात्रिभुक्त त्याग प्रतिमा तक—छह प्रतिमा तक के व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक गृहस्थ हैं, इन्हें जघन्य श्रावक संज्ञा है। ब्रह्मचर्य व्रत से लेकर परिग्रह विरति तक मध्य के तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो क्षुल्लक-ऐलक ही होते हैं।

आगे श्री गौतमस्वामी कहते हैं–

महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।

मधु, मांस, मद्य, जुआ और वेश्या आदि व्यसन इनको त्याग करने वाला, पाँच अणुव्रतों से युक्त तथा सात शिक्षाव्रतों से परिपूर्ण गृहस्थ होता है। यहाँ मद्य, मांस, मधु के त्याग का आदेश दिया है–

जुआ खेलना मांस मद, वेश्यागमन शिकार।
चोरी पररमणीरमण, सातों व्यसन निवार।।

इस प्रकार जुआ और वेश्या आदि शब्द से सातों व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया गया समझना चाहिए।

यहाँ महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि गौतमस्वामी जैसे चारज्ञानधारी, सप्तऋद्धि समन्वित, तद्भवमोक्षगामी, गणधरदेव स्वयं गृहस्थ श्रावक को आत्मा–आत्मा का ही उपदेश न देकर मद्य, मांस,, मधु त्याग और जुआ आदि व्यसनों के त्याग का उपदेश दे रहे हैं तथा इसे ही वे गृहस्थों के लिए 'धर्म' शब्द से घोषित कर रहे हैं। जो आज इस त्याग की परम्परा को 'धर्म' नहीं कहते हैं उन्हें इन पंक्तियों को देखना चाहिए। ये पंक्तियां साक्षात् गौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत हैं।

पुनः वे स्वयं इस गृहस्थ धर्म के फल को बतलाते हुए कहते हैं—

'जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डुय, खुड्डियाओ वा अट्ठदह भवणवासियवाण–विंतरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्तं उपरिम अण्णदरमह–ड्ढियासु देवेसु उववज्जंति।'

जो श्रावक, श्राविकायें अथवा क्षुल्लक–क्षल्लिकायें इन व्रतों को धारण करते हैं वे अठारह स्थान भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर ऊपर में अन्य किन्हीं भी महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि और व्रती चाहे स्त्री हों या पुरुष, वे भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव–देवियों में जन्म नहीं लेते हैं तथा सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। अर्थात् कल्पवासी देवों की देवियां दो स्वर्ग तक ही जन्म लेती हैं। आगे तीसरे से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के देव अपनी–अपनी देवियों की उत्पत्ति ज्ञातकर आकर अपने–अपने स्वर्ग में ले जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कल्पवासी देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। इनसे अतिरिक्त सोलह स्वर्गों में विशेष ऋद्धिधारी देवों में जन्म लेते हैं।

सम्यग्दृष्टि कहां–कहां जन्म लेते हैं ? सो ही बताते हैं—

तं जहा–सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबंभबंभुत्तरलांतवकापिट्ठसुक्कमहासुक्कस–तारसहस्सार–आणतपाणतआरणअच्चुदकप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबरसत्थधरा, कडयंगदबद्धनउडकयसोहा।
भासुरवरबोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं।

वहां नाना प्रकार के वस्त्र–आभरण–कटक, अंगद, मुकुट आदि से शोभायमान, दिव्य वैक्रियिक शरीर के धारक और देदीप्यमान बोधि के धारक महर्द्धिक देव होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित क्षुल्लक, ऐलक आदि जो कि संयमासंयम को धारण करने वाले पंचमगुणस्थानवर्ती हैं ये सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। इन कल्पों के ऊपर दिगम्बर मुनि ही जाते हैं। भले ही कोई द्रव्यलिंगी ही क्यों न हो वह भी अंतिम ग्रैवेयक तक जाने की योग्यता रखता है। यहाँ पर तो गृहस्थधर्म की महानता को बतलाया है।

पुनः श्री गणधरदेव कहते हैं–

उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभवगहणाणि तदो समणुसुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति[१]।'

ये श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका उत्कृष्टपने से दो या तीन भव ग्रहण करते हैं, जघन्यरूप से सात या आठ भव ग्रहण करते हैं। इन भवों में भी सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व–अच्छे, कुलीन, श्रेष्ठ, राजा, महाराजा आदि मनुष्य होकर उत्कृष्ट जाति के देव हो जाते हैं। सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं पुनः अन्तिम भव में नियम से निर्ग्रंथ मुनि होकर सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं और सभी दुःखों का अंत कर देते हैं।

विशेषार्थ—यह है गृहस्थ धर्म का फल, श्री गणधर देव के शब्दों में। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना कितने महत्व की बात है यह समझना आवश्यक है। वास्तव में जो गृहस्थ, मद्य, मांस आदि के त्यागी होते हैं, जुआ आदि दुर्व्यसनों से दूर रहते हैं और अणुव्रतों का पालन करते हैं। वे घर में रहते हुए भी बहुत ही सुखी रहते हैं। राजनैतिक अन्याय न करने से उन्हें मानसिक शांति बनी रहती है। सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं और सभी जनों में विश्वस्तता को भी प्राप्त कर लेते हैं। इन धर्मों से युक्त गृहस्थों को सर्वत्र सुख, शांति, यश और धन की वृद्धि आदि प्राप्त होते हैं तथा परभव में स्वर्ग के सुख भोगकर पुनः चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के भी पुण्य को प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष को प्राप्तकर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इसलिए गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रत्येक स्त्री या पुरुष को अणुव्रत आदि गृहस्थधर्मों का पालन करना बहुत ही आवश्यक है, सर्वथा

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण।

हितकर ही है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि यह धर्म भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा है और श्री गौतमस्वामी ने तीस वर्ष तक उनके पादमूल में रहकर उनसे श्रवण किया है और परमकरुणा बुद्धि से गृहस्थों के लिए कहा है।

इस गृहस्थधर्म के पाठ में एक स्थान पर–

''**खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्ठदह भवणवासिय**.....'' आदि पाठ में 'अट्ठदह' पाठ का यह अर्थ समझ में नहीं आ रहा था।

एक बार सन् १९५८ में आचार्य श्रीशिवसागर जी महाराज के समक्ष इस ''अट्ठदह'' शब्द पर विशेष चर्चा हुई। अनेक विद्वान् पं. श्रीलालजी शास्त्री, पं. पन्नालाल जी सोनी आदि उपस्थित थे। मुनि श्री श्रुतसागरजी आदि साधु व आर्यिका वीरमती जी आदि आर्यिकायें तथा मैं भी उपस्थित थी। चर्चा हुई कि अठारह स्थान ऐसे ढूंढने चाहिये जहाँ व्रती नहीं जाता हो तथा उन अठारह स्थानों में ये भवनत्रिक और सौधर्म-ईशान की देवियाँ नहीं आनी चाहिए चूँकि इन्हें पृथक् से लिया है। तभी उमास्वामी श्रावकाचार के दो श्लोक स्मृतिपथ में आ गये, वे ये हैं—

सम्यक्त्वसंयुतः प्राणी, मिथ्यावासेन जायते।
द्वादशेषु च तिर्यक्षु, नारकेषु नपुँसके।।८८।।

स्त्रीत्वे च दुष्कृताल्पायु-दारिद्र्यादिकवर्जितः।
भवनत्रिषु षट्भूषु, तद्देवीषु न जायते।।८९।।

सम्यक्त्व से सहित जीव मिथ्यात्व के निम्नस्थानों में नहीं जाता है—

१. पृथ्वीकायिक २. जलकायिक ३. अग्निकायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. दो इंद्रिय ७. तीन इंद्रिय ८. चारइंद्रिय ९. निगोद १०. असंज्ञीपंचेन्द्रिय ११. कुभोगभूमि और १२. म्लेच्छखंड, मिथ्यात्व के इन बारह स्थानों में उत्पन्न नहीं होता है। तथा १३. तिर्यचों में १४. नरकों में १५. नपुंसक में और १६. स्त्रीवेद में उत्पन्न नहीं होता है।

पुनः पापी, अल्पायु, दारिद्रादि से वर्जित रहता है। यह सम्यग्दृष्टी भवनत्रिकों में, प्रथम नरक से अतिरिक्त छह नरकभूमियों में व स्वर्ग की देवियों में भी नहीं जाता है।

चर्चा में यह बात और आई कि यहाँ प्रतिक्रमण में तो व्रतिक श्रावकों के लिए कथन है अतः व्रतीजन तो सुभोगभूमि और मनुष्य पर्याय में भी नहीं जाते हैं क्योंकि गाथा है कि—

अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं। (गोम्मटसार कर्मकांड)

अणुव्रती और महाव्रती तो देवायु के सिवाय अन्य किसी आयु का बंध ही नहीं कर सकता है। इसलिये उपर्युक्त १६ स्थानों में, १७. सुभोगभूमि और १८. मनुष्य इन दो स्थानों को मिला देने से अठारह स्थान हो जाते हैं। व्रतिक व क्षुल्लक-क्षुल्लिका इनमें नहीं जाते हैं।

ये अठारह स्थान आ. श्रीशिवसागरजी महाराज को भी बहुत ही संगत प्रतीत हुये थे। तभी से इस पाठ के परिवर्तन व संशोधन आदि की चर्चा समाप्त हो गई थी।

क्रियाकलाप ग्रंथ में प्राचीन पाठ ऐसा है—

''**अट्ठदहभवणवासियवाणविंतरजोइसिय .....**'' (क्रियाकलाप पृ. १०८)

वर्तमान में 'श्रमणचर्या' आदि पुस्तकों में पाठ बदल कर ऐसा लिखा है—

''**दहअट्ठपंच भवणवासियवाणविंतरजोइसिय .....** ''(श्रमणचर्या, पृ. १६०)

आश्चर्य है कि गौतम स्वामी जैसे महान गणधरदेव की कृति में यह परिवर्तन किया गया है। मूल पाठ में ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। यदि आपको या किन्हीं भी विद्वानों को कोई भी पाठ गलत या अनुचित प्रतीत होता है, तो अपना मंतव्य टिप्पण में रख देना चाहिए, न कि मूल पाठ को हटाकर अपना इष्ट पाठ रख देना आदि।

आगे भी ऐसे ही श्री गौतमस्वामी की कृतियों में जो परिवर्तन व संशोधन किये गये हैं, उन पर चर्चा की जावेगी।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, मंदिर के शिखर का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

''तत्थ पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

अहिंसा अणुव्रत—

पहले अणुव्रत में स्थूलरूप से प्राणी–हिंसा से विरति है। अहिंसा अणुव्रत को समझने के लिए **हिंसा के चारों भेदों का लक्षण** जानना भी आवश्यक है।

१. संकल्पी हिंसा—अभिप्रायपूर्वक किसी भी छोटे या बड़े जीव को मारना संकल्पी हिंसा है।

२. आरंभी हिंसा—चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, पानी छानना आदि आरंभ कार्य करके भोजन बनाना, खेती आदि करना आरंभी हिंसा है।

३. उद्योगिनी हिंसा—धन कमाने के लिए बड़े-बड़े व्यापार करना, कारखाने खोलना उसमें होने वाली हिंसा उद्योगिनी हिंसा है।

४. विरोधिनी हिंसा—धर्म, धर्मायतन और धर्मात्माओं की रक्षा के लिए हिंसा करना विरोधिनी हिंसा है। जैसे कि श्री रामचन्द्र ने की थी।

इन चारों हिंसा में से गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसाओं का ही त्याग कर सकते हैं क्योंकि भोजन आदि करने हेतु आरंभ करने से उस योग्य हिंसा तो होती ही है फिर भी सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार धन के बिना गृहस्थी नहीं चल सकती इसलिए व्यापार करना ही पड़ता है, उसकी हिंसा भी गृहस्थ के लिए क्षम्य है। किन्तु चमड़ा, शराब, हड्डी की खाद, भट्टे आदि हीन कार्य सद्गृहस्थ को नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार श्री गौतमस्वामी द्वारा कथित गृहस्थ के योग्य अहिंसा का वर्णन मैंने संक्षेप में आपको बताया है।

''विदिए गुणव्वदे विविध–अणत्थदण्डादो वेरमणं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

अनर्थदण्डविरति गुणव्रत—

जो अनर्थ अर्थात् बिना प्रयोजन ही दण्ड अर्थात् जीवों की हिंसा के कारण हों, उनसे विरति करना ही अनर्थदण्डविरति नाम का व्रत है। अनर्थदण्ड के ५ भेद–

पापोपदेश औ हिंसा के , उपकरण दान अपध्यान तथा।
चौथा है दुःश्रुति नाम लहे, पंचम प्रमादचर्या विरथा।।
इस विध से पाँच अनर्थ दण्ड, जो सदा पाप आस्रव करते ।
त्रययोगों के दण्डित कर्ता, मुनिगण इस विध से उच्चरते।।

पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पाँच अनर्थदण्ड हैं । इनमें सदा पाप का ही आस्रव होता रहता है।

१. पापोपदेश अनर्थदण्ड के कई भेद हैं– तिर्यक्वणिज्या–तिर्यंचों के व्यापार का उपदेश देना, क्लेशवणिज्या– दास–दासी आदि के क्लेशकारी उपदेश देना, हिंसोपदेश–हिंसा के कारणों का उपदेश देना, आरंभोपदेश–ठग विद्या, इन्द्रजाल आदि कार्यों का उपदेश देना। ये सब पापोपदेश अनर्थदण्ड हैं। इन सभी पापोपदेश से विरक्त होना, इनका त्याग कर देना, यह पहला अनर्थदण्ड त्यागव्रत है।

२. हिंसादान– हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, शस्त्र, सींगी, विष, सांकल आदि वस्तुओं का दान देना हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है।

३. अपध्यान– पर के स्त्री, पुत्र आदि मर जावें, उनका अनिष्ट हो जाये, इनको कोई मार दे, काट दे, बांध दे, इनकी हार हो जाये, इत्यादि प्रकार से राग या द्वेष की भावना से अन्य के बारे में ऐसा चिंतवन करते रहना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

४. दुःश्रुति– आरंभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मद, काम–भोग और लोभ आदि से मन को मलिन करने वाले ऐसे शास्त्रों का या पुस्तकों का सुनना या पढ़ना अथवा पढ़ाना यह सब दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

५. प्रमादचर्या– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति का बिना कारण ही आरम्भ करना अर्थात् बिना प्रयोजन ही भूमि खोदना, जल गिराना, अग्नि जलाना, हवा करना, व्यर्थ ही वनस्पति, अंकुर, वृक्ष आदि का छेदन–भेदन करना, व्यर्थ ही इधर–उधर घूमना या अन्य को घुमाना ये सब प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड है।

इन सब अनर्थदण्डों का त्याग कर देना ही अनर्थदण्डविरति नाम का दूसरा गुणव्रत है।

''तदिये गुणव्वदे भोगोपभोग परिसंखाणं चेदि।''

अमृतवर्षिणी टीका–

भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत—

तीसरे गुणव्रत में भोग–उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान–परिमाण किया जाता है। यहाँ पहले भोग और उपभोग इन दोनों शब्दों का अर्थ कहते हैं–

जो भोगे जाकर छुट जाते, वे भोग शब्द से कहलाते ।
ये भोजन गंध माल्य आदि, जो पुनः भोग में नहिं आते।।
जिस वस्तु का नर भोग करे, अरु पुनः भोगने में आवे।
ऐसे वस्त्राभूषण आदि , उपभोग नाम जग में पावे।।

जो पदार्थ एक बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग शब्द से कहा जाता है। ये भोजन, गंध, माला आदि पदार्थ हैं क्योंकि पुनः इनका उपभोग नहीं हो सकता है। इनसे अतिरिक्त जो वस्तुयें पुनः–पुनः भोगने में आती हैं ऐसे वस्त्र, आभूषण, आसन आदि उपभोग नाम से जाने जाते हैं।

सर्वथा त्यागयोग्य पदार्थों के नाम

इस व्रत का वर्णन करते हुये आचार्य महोदय कहते हैं कि कुछ पदार्थ सर्वथा ही त्याग करने योग्य हैं–

त्रस जीव घात के त्याग हेतु, मधु मांस त्याग निश्चित करिये।
त्रसहिंसा तथा प्रमाद त्याग, हेतुक मदिरा भी परिहरिये।।
जिसने जिन चरण शरण ली है, वह श्रावक जिन आज्ञा पालें।
तीनों मकार ये भव–भव में, दुखदायी जीवन भर टालें।।
जिनके खाने में फल थोड़ा, स्थावर हिंसा बहुत बड़ी।
ऐसे मूली आलू आदिक, सब कंदमूल अदरक गीली।।
मक्खन औ निम्बपुष्प केतकि, के पुष्प आदि को तज दीजे।
इनके भक्षण से पाप अधिक, इसलिये व्रतिक जन मत लीजे।।

त्रसहिंसा से बचने के लिये शहद, अण्डे, मछली, मांस आदि तथा शराब इनका जीवन भर के लिये त्याग कर देना चाहिये। ये मद्य–मांस और मधु त्रसहिंसा के स्थान हैं, प्रमाद को बढ़ाने वाले हैं और प्रकृति को क्रूर– तामस बनाने वाले हैं। इसलिये जिसने जिनेन्द्रदेव के चरणों की शरण ले ली है ऐसा श्रावक इन तीनों मकारों का जीवनभर के लिये त्याग कर देता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जिनमें त्रसजीवों की हिंसा तो नहीं है किन्तु स्थावर हिंसा अत्यधिक होती है। उन्हीं के बारे में जैनाचार्यों का ऐसा कहना है कि जिनके खाने में लाभ तो कम है स्वाद भी एक क्षण के लिये है किन्तु स्थावर हिंसा बहुत ही अधिक है। ऐसे पदार्थ कंदमूल आदि हैं। मूली, आलू, अरबी, गाजर आदि। गीली अदरक का निषेध करने से सूखी हुई सोंठ खाने का त्याग नहीं माना जाता है। उसी प्रकार और भी वस्तुयें है जैसे मक्खन अर्थात् दही को बिलोकर निकाला गया मक्खन ४८ मिनट के बाद अभक्ष्य हो जाता है उसके अन्दर ही उसे तपाकर घी निकाल लेना चाहिये। अन्यथा उसमें अनंत सम्मूर्छन जीवों का उत्पाद माना जाता है। ऐसे ही नीम के फूल, केवड़ा के फूल आदि भी अभक्ष्य हैं इनमें भी बहुत से अनंतकायिक जीव रहते हैं । इनके भक्षण करने से पाप ही पाप लगता है, लाभ और स्वाद कितना मात्र है ? अतएव व्रतिक श्रावकों को तो इन्हें सर्वथा ही छोड़ देना चाहिये।

इनसे अतिरिक्त कुछ अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थ हैं उनका भी त्याग आवश्यक है। जो पदार्थ भक्ष्य तो हैं किन्तु स्वास्थ्य के लिये अहितकर हैं, अपथ्य हैं ऐसे पदार्थ ही अनिष्ट कहलाते हैं जैसे मूत्र आदि। इस प्रकार इन अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थों का त्याग करना भी आवश्यक है।

इस भोगोपभोग परिसंख्यान के विषय में श्री समंतभद्रस्वामी ने त्याग के दो प्रकार माने हैं– नियम और यम । मर्यादित काल तक किसी वस्तु का त्याग करना नियम कहलाता है और यावज्जीवन किया गया त्याग यम कहलाता है।

भोजन, वाहन, शय्या, आसन, स्नान, गंध, माला, तांबूल, वस्त्र, आभूषण, कामभोग, संगीतश्रवण, गीत और नाटक आदि विषयों का कुछ दिन की मर्यादा से नियम करना। जैसे कि आज दो बार ही भोजन करूँगा, दो दिन वाहन से यात्रा नहीं करूँगा, दो चार दिन पलंग पर नहीं सोऊँगा, इत्यादि प्रकार से इनमें से किसी का कुछ समय या दिन आदि के लिये त्याग कर देना नियम है। यह नियम विषयों की लालसा को कम करने के लिये ही किया जाता है। तथा भक्ष्य होते हुए भी किसी वस्तु का जीवन भर के लिये त्याग कर देना यम है जैसे नमक का जीवन भर के लिये त्याग कर देना आदि।

जिन खाद्य पदार्थों पर फफूँदी लग जाती है वे भी अभक्ष्य हो जाते हैं जैसे कच्चे आम की लौंजी, भीगा हुआ गीला कत्था, आम के रस का अमावट, बासी साग–सब्जी आदि। उसी प्रकार से बड़ी, पापड़, मुंगौड़ी आदि भी चौबीस घण्टे के बाद अभक्ष्य माने गये हैं चूँकि इनमें सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते है। ऐसे ही वर्षा ऋतु में पत्ती के साग भी नहीं लेना चाहिये। कच्चा दूध यदि अड़तालीस मिनट तक तपा लिया जाता है तो ठीक अन्यथा ४८ मिनट के बाद में वह अभक्ष्य हो जाता है। छना हुआ पानी ४८ मिनट तक ग्राह्य है पुनः अनछने के समान है। यदि छानकर उसमें लवंग , इलायची या कपूर डाल देते हैं तो वह छह घण्टे तक प्रासुक रहता है तथा गरम किया हुआ जल चौबीस घण्टे तक प्रासुक माना गया है।

ऐसे ही वर्षा ऋतु में कुटे हुये हल्दी आदि मसालों में भी छोटी–छोटी लटें पड़ जाती हैं अतः इन कुटे हुये मसालों को दो–तीन दिन ही काम में लेना चाहिये। व्रतिक श्रावकों का तो यह सब कर्तव्य है ही , भाद्रपद में शुद्ध खान–पान करने वाले पुरुषों को और महिलाओं को भी इन उपर्युक्त बातों की जानकारी रखते हुये शुद्ध, सात्विक, प्रासुक भोजन–पान करना चाहिये।

''विदिए पोसहोवासयं''

अमृतवर्षिणी टीका–

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

इस प्रकार से द्वितीय शिक्षाव्रत का नाम प्रोषधोपवास है। श्री गौतमस्वामी स्वयं श्रावक प्रतिक्रमण में चतुर्थ प्रतिमा का वर्णन करते समय कहते हैं–

''उत्तममज्झजहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुच्छिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं।।''

प्रोषधविधान के तीन प्रकार माने गये हैं– उत्तम, मध्यम और जघन्य। प्रत्येक मास के चारों पर्वों में अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें करना चाहिये।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का लक्षण

अष्टमी चतुर्दशि पर्वों में , अपने अंतर की इच्छा से।
चारों प्रकार आहार त्याग, कर देना जिनवचशिक्षा से।।
यह है प्रोषध उपवास नाम, शिक्षाव्रत तप को सिखलावे।
जो इसका पालन करते हैं, वे तनु से निर्मम बन जावें।।

प्रत्येक माह की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को अपनी इच्छा से आगम के अनुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत इसलिये है कि तप करने की शिक्षा देता है। इस व्रत के धारी शरीर से निर्मम हो जाते हैं।

उपवास के दिन त्याज्य कार्य

जिस दिन उपवास करो उस दिन, पांचों पापों का त्याग करो।
आरंभ गंध माला आदिक, सब अलंकार का त्याग करो।।
स्नान और अंजन मंजन, नस्यादि क्रियाओं को तजिये।
तन से ममत्व परिहार हेतु, वैराग्यभाव को आचरिये।।

जिस दिन उपवास हो उस दिन पांचों पापों का त्याग करके आरंभ, गंध, माला, अलंकार, स्नान, अंजन, मंजन, नस्य आदि क्रियाओं का त्याग कर देना चाहिये। उस दिन शरीर से ममत्व दूर करने हेतु वैराग्यभाव को धारण करना चाहिये।

भावार्थ—उपवास के दिन स्नान आदि त्याग करने का विधान उनके लिये है जो कि जिनमंदिर या एकांत स्थान आदि पर रहकर २–३ दिन तक लगातार स्वाध्याय, ध्यान आदि ही किया करते हैं परन्तु जो घर में रहकर गृहस्थाश्रम के कार्यों का त्याग नहीं कर सकते उनका कर्तव्य है कि वे व्रत के दिन दान–पूजन अवश्य करें। तथा दान–पूजन आदि के लिये स्नान करना आवश्यक है यह बात ध्यान रखना चाहिये।

उपवास के दिन करने योग्य कार्य

उपवास दिवस आलस्य रहित, होकर शास्त्रों का पठन करे।
उत्कण्ठित हो धर्मामृत को, निजकर्णों से भी पान करे।।
पर को भी धर्म सुधारस का, उस दिन वह पान करा देवे।
बस ज्ञान ध्यान में तत्पर हो, उपवास सफल निज कर लेवे।।

उपवास दिवस आलस्य रहित होकर शास्त्रों का स्वाध्याय करे। अति उत्कंठा से धर्मरूपी अमृत को स्वयं पीवे अर्थात् धर्म का श्रवण करे और अन्यों को भी धर्म श्रवण करावे। इस प्रकार वह श्रावक ज्ञान और ध्यान में तत्पर होता हुआ अपने उपवास को सफल कर लेवे।

प्रोषध और उपवास का लक्षण

जब अशन खाद्य औ लेह्य पेय, चउविध आहार का त्याग करे।
उपवास यही औ एक बार , भोजन प्रोषध यह नाम धरे।।
तेरस–पूनो एकाशन कर, चौदस का जब उपवास करे।
तब होता प्रोषधोपवासी, ऐसी विधि अष्टमि को भि करे।।

अशन, खाद्य, लेह्य और पेय आहार के ये चार भेद हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है और दिन में एक बार शुद्ध भोजन करना 'प्रोषध' है। विशेष यह है कि–तेरस को एकाशन करके चौदश को उपवास करना, पुनः पूनों को एकाशन करना यह प्रोषधोपवास कहलाता है। ऐसे ही सप्तमी को एकासन, अष्टमी को उपवास, पुनः नवमी को एकाशन करना यह प्रोषधोपवास का लक्षण है। इन व्रतों में एकाशन के दिन दूसरी बार जल ग्रहण करना भी वर्जित है। चूँकि सबसे जघन्य विधि एक बार भोजन है।

यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा देता है अतएव इसका शिक्षाव्रत का नाम सार्थक है। मुनि तो सदा ही एक भक्त– दिन में एक बार भोजन करते हैं अतः जो गृहस्थ इस प्रकार से प्रोषधव्रत किया करते हैं उन्हें एकाशन का अभ्यास हो जाने से मुनिपद में एक बार आहार लेने से कष्ट नहीं महसूस होता है और न उन्हें भूख–प्यास की बाधा ही सताती है। वैसे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रत्येक महीने में कम से कम चार बार उपवास या एकाशन उचित ही है। इससे पाचन शक्ति अच्छी रहती है, अपच, वातप्रकोप, कफ आदि दोष भी शांत हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ के लिये चाहे महिला हो या पुरुष, नवयुवक हो या नवयुवती, बालक हो या बालिकायें उन सबके लिये भी यह शिक्षाव्रत उपयोगी है। उपवास और एकाशन का अभ्यास जीवन में बहुत ही आवश्यक है। प्रसंगोपात्त धर्म की रक्षा के लिये उपवास का अवसर आ जावे तो कायरता नहीं होती है । सती सीता ने रावण के यहाँ नियम कर लिया कि 'जब तक मैं श्रीरामचन्द्र का समाचार नहीं सुनूंगी तब तक के लिये मेरे चतुराहार का त्याग है।' ऐसे अवसर पर उनके ग्यारह उपवास हो गये उसके बाद हनुमान के द्वारा रामचन्द्र का समाचार विदित होने पर सीता ने अन्न–जल ग्रहण किया था। यदि उन्होंने बचपन में या जीवन में कभी भी उपवास न किया होता तो इतना बड़ा धैर्य कैसे कर पातीं। इसी प्रकार से सल्लेखना की सिद्धि के लिये भी जीवन में उपवास आदि का अभ्यास बहुत ही आवश्यक है।

''तदिये अतिथिसंविभागो।''

अमृतवर्षिणी टीका–

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का लक्षण

गुणनिधि तपोधन मुनियों को, बस स्वपर धर्म की वृद्धि हेतु।
जो दान दिया जाता अतिथिसंविभाग व्रत विशेष।।
यश मंत्र प्रती उपकार आदि, से अनपेक्षित हो भक्ति से।
निज शक्ति विभव के अनूसार, उपकार करे गुरु भक्ति से।।

गुणों के निधान और तपरूपी धन के धारक ऐसे मुनियों को स्वपर धर्म की वृद्धि हेतु जो दान दिया जाता है वह अतिथि–संविभागव्रत है। यश, मंत्र आदि प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना ही जो गृहत्यागी मुनियों का अपने वैभव व शक्ति के अनुसार उपकार किया जाना वह सब अतिथि–संविभागव्रत है।

पुनः कहते हैं–

मुनि के गुण में अनुरागी बन, उनके दुःखों को दूर करे।
पद संवाहन मर्दन आदि, औ अन्य सभी उपचार करे।।
इस विधि से मुनि आर्यिकादी, संयमियों की वैयावृत्ती।
यह चौथा शिक्षाव्रत माना, इससे होती सुख संपत्ती।।

मुनियों के गुणों में अनुराग करते हुये उनके दुःखों को दूर करना, उनके पैर दबाना, तेल मालिश करना आदि यथायोग्य अन्य भी उपचार करना सब अतिथि–संविभागव्रत है। इस प्रकार से मुनि, आर्यिका आदि संयमी साधु –साध्वियों की वैयावृत्ति यह चौथा शिक्षाव्रत है इससे श्रावक को सुख और संपत्ति की प्राप्ति होती है।

आहारदान की विधि

अब दान देने की विधि बताते हैं–

पड़गाहन उच्चस्थान पाद–प्रक्षालन पूजन नमस्कार।
मन वचन काय शुद्धी भोजन, शुद्धी ये नवधा भक्तिसार।।
जो सात गुणों से युत श्रावक, रुचि से नवधाभक्ती पूर्वक।
देते संयमियों को आहार, उसको ही दान कहें गणभृत्।।

पड़गाहन करना, उच्च आसन पर बिठाना, चरण प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन,वचन, काय की शुद्धि और आहार की शुद्धि बोलना, इन नव प्रकार से नवधा भक्ति कहलाती है।

श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान (विवेक), क्षमा, निर्लोभता और सत्त्व ये सात गुण दाता के माने गये हैं। इन सात गुणों से युक्त श्रावक मुनियों को नवधा भक्ति पूर्वक जो आहार दान देते हैं उसी का नाम दान है।

आहारदान का फल

पुनः इस दान का क्या फल है ? सो कहते हैं—

गृह कर्म रूप अग्नीज्वालन, आदिक 'सूना' जो पाँच कहे।
उनके करने से पापों का, संचय होता दिन रात रहे।।
गृहत्यागी अतिथि के आहार, से सर्व पाप धुल जाते हैं।
जिस तरह रुधिर से मलिन वस्त्र, जल से धो स्वच्छ बनाते हैं।।

अग्नि जलाना, जल भरना, कूटना, पीसना और बुहारी लगाना ये पाँच कार्य 'सूना' शब्द से कहे जाते हैं चूँकि इनमें हिंसा अवश्यम्भावी है। प्रत्येक गृहस्थ को इन पाँच सूना को करना ही पड़ता है और इससे दिन–रात ही पाप कर्मों का संचय होता ही रहता है। वह सब पाप गृहत्यागी संयमी को आहार देने से नष्ट हो जाता है। जैसे रुधिर से गंदा हुआ वस्त्र जल से धुलकर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही गृहस्थी के आरम्भ से संचित पाप कर्म को आहार दान से धो डालता है, इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है।

आहारदान के पात्र के भेद

पात्र के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। महाव्रती मुनि उत्तम पात्र हैं। क्षुल्लक, ऐलक आदि व्रती मध्यम पात्र हैं। आर्यिकायें भी मध्यम पात्र में उत्कृष्ट हैं। अणुव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र हैं। इनसे अतिरिक्त सभी अपात्र या कुपात्र हैं।

संयमियों को करते प्रणाम, वे उच्चगोत्र को पाते हैं।
जो देते दान भोग पाते, सेवा से पूजा पाते हैं।
भक्ति से सुंदर रूप मिले, स्तुति प्रशंसा से कीर्ति।
गुरु की उपासना से इस विध, हो जाती सब सुख संपत्ती।।

तपोनिधि मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र में जन्म होता है, उनको दान देने से भोग मिलते हैं, उनकी उपासना करने से पूजा होती है, उनकी भक्ति करने से सुंदर रूप मिलता है और उनकी स्तुति करने से कीर्ति बढ़ती है। इस तरह गुरुओं की भक्ति , पूजा, उपासना आदि से सुख संपत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

अल्पदान से महाफल

अल्पदान से भी महाफल होता है उसको उदाहरण देकर समझाते हैं–

अच्छी उपजाऊ भूमी में, वह बीज बड़ा सा वृक्ष बने।
निज काय पाय भारी छाया, देता औ फल दे मिष्ट घने।।
वैसे ही उत्तम पात्रों में, विधिवत् जो दान अल्प भी दे।
वह समय पाय बहु फल देता, इच्छानुकूल सब वैभव दे।।

बढ़िया उपजाऊ जमीन में बोया गया छोटा सा भी बड़ का बीज एक दिन बहुत बड़ा वृक्ष बन जाता है। समय पर बहुत से लोगों को बहुत बड़ी छाया देता है और मीठे–मीठे फल भी खिलाता है। वैसे ही जो विधिवत् उत्तम पात्रों में यदि थोड़ा सा भी आहारदान देते हैं तो वह उनका दान समय के आने पर बहुत बड़ा फल देता है तथा इच्छा के अनुसार सभी प्रकार के वैभव प्रदान करता है।

जिनप्रतिमा विराजमान करने का फल

कुत्थुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पिलहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं।।४८१।।
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं।।४८२।।

—आचार्य वसुनन्दि

अर्थ—जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।

''से अभिमदजीवाजीव–उवलद्धपुण्णपावआसवसंवरणिज्जरबंधमोहमहिकुसले।''

अमृतवर्षिणी टीका–

नवपदार्थ

ये जीव आदि नव तत्त्व भी कहलाते हैं व इन्हें पदार्थ भी कहा है–

(१) जीव पदार्थ—जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दो भेद हैं।

ज्ञानोपयोग के स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ये दो भेद हैं।

केवलज्ञान स्वभाव ज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान है। विभावज्ञान के—क्षायोपशमिक ज्ञान के संज्ञान और अज्ञान के भेद से दो भेद हो जाते हैं।

संज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय ये चार भेद हैं तथा अज्ञान के कुमति, कुश्रुत व कुअवधि ये तीन भेद हैं।

दर्शनोपयोग के स्वभाव दर्शनोपयोग व विभाव दर्शनोपयोग ये दो भेद हैं।

केवलदर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है और विभाव दर्शनोपयोग के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन व अवधिदर्शन ये तीन भेद हैं।[1]

(२) अजीवपदार्थ—अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद हैं पुद्गल के अणु और स्कंध से दो भेद हैं। जिसका दूसरा विभाग न हो सके उसे अणु या परमाणु कहते हैं। दो अणु आदि से लेकर महास्कंध पर्यंत सब पुद्गल के स्कंध के भेद हैं।

इस पुद्गल में पांच रस, पांच वर्ण, दो गंध और आठ स्पर्श ये बीस गुण पाये जाते हैं। यह पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं।

संसारी जीव पुद्गल के संयोग से मूर्तिक है व स्वभाव से अथवा निश्चयनय से अमूर्तिक है। सिद्धजीव सदा अमूर्तिक ही हैं।

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अंधकार, छाया और आतप ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। शरीर, वचन, मन, और श्वासोच्छ्वास आदि शब्द जीव के प्रति पुद्गल के ही उपकार हैं।

धर्मद्रव्य जीव–पुद्गलों की गति में सहायक होने से गति लक्षण वाला है। अधर्मद्रव्य इनकी स्थिति में सहायक होने से स्थिति लक्षण वाला है। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला होने से अवकाश लक्षण वाला है और कालद्रव्य वर्तना लक्षण वाला है।

---

1. नियमसार गाथा 10 से 14 तक।

(३) पुण्य पदार्थ—शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य पदार्थ कहलाता है जो कि जीवों में आल्हादरूप सुख का निमित्त है।

(४) पाप पदार्थ—अशुभ कर्म स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पाप पदार्थ है जो कि जीव के दुःख का हेतु है।

(५) आस्त्रव पदार्थ—जिससे कर्म आ—सब तरफ से, स्त्रवति—आते हैं वह आस्त्रव पदार्थ है अर्थात् कर्मों का आना आस्त्रव है।

(६) संवर पदार्थ—कर्म के आगमन–द्वार को जो रोकता है अथवा कर्मों का रुकना मात्र ही संवर पदार्थ है अर्थात् आने वाले कर्मों का रुक जाना संवर है।

(७) निर्जरा पदार्थ—कर्मो का निर्जीर्ण होना अथवा जिसके द्वारा कर्म निर्जीण होते हैं, झड़ते हैं, वह निर्जरा पदार्थ हैं अर्थात् जीव में लगे हुए कर्मप्रदेशों की हानि होना निर्जरा है। यहाँ व्याकरण के लक्षण की व्युत्पत्ति से निर्जरणं अनया निर्जरयाति वा इस प्रकार से भाव अर्थ में और करण–साधन में विवक्षित है, जिसका ऐसा अर्थ है कि कर्मों का झड़ना यह तो द्रव्य निर्जरा है और जिन परिणामों से कर्म झड़ते हैं, वे परिणाम ही भाव निर्जरा है।

(८) बंध पदार्थ—जिसके द्वारा कर्म बंधते हैं अथवा बंधना मात्र ही बंध पदार्थ का लक्षण है (बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा) इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी भावबंध और द्रव्यबंध विवक्षित हैं। जीव के प्रदेश और कर्मप्रदेश–परमाणुओं का परस्पर में संश्लेष हो जाना–एकमेक हो जाना बंध है, जो जीव और पुद्गल वर्गणा दोनों की स्वतंत्रता को समाप्त कर उन्हें परतन्त्र कर देता है।

(९) मोक्ष पदार्थ—जिसके द्वारा जीव मुक्त होवे, छूट जाये अथवा छूटना मात्र ही मोक्ष पदार्थ है। इसमें भी व्युत्पत्ति (मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा) के लक्षण से भाव मोक्ष और द्रव्यमोक्ष विवक्षित है अर्थात् जिन परिणामों से आत्मा कर्म से छूटता है, वह भावमोक्ष है और कर्मों से छूटना ही द्रव्य मोक्ष है, सो ही कहते हैं कि जीव के प्रदेशों का कर्म से रहित हो जाना, जीव की परतंत्र अवस्था समाप्त होकर उसका पूर्ण स्वतंत्र भाव प्रकट हो जाना ही मोक्ष है।

इन नव तत्त्वों का—पदार्थों का श्रद्धान करने वाले श्रावक सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का पालन करते हैं। ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत व ४ शिक्षाव्रत को धारण कर श्रावक और श्राविका गृहस्थाश्रम में रहते हैं।

आगे क्रम से दर्शन, व्रत आदि प्रतिमा के व्रतों को धारण करते हुये क्षुल्लक–क्षुल्लिका बन जाते हैं।

ऐसे व्रती श्रावक, श्राविकायें व क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें नियम से पूर्व में कहे गये अठारह स्थानों में, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में व स्वर्ग की देवियों में जन्म नहीं लेते हैं। ये नियम से महर्द्धिक देव बनकर पुनः मनुष्य भव प्राप्त कर दो, तीन से लेकर सात, आठ भवों में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

जीव पदार्थ में एकेन्द्रिय आदि जीवों का विशेष विवेचन

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेद्रिंय ऐसे जीवों के इंद्रियों की अपेक्षा पांच भेद हैं।

इंद्रियाँ पांच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

प्राण दश हैं—पांच इंद्रिय, मनोबल, वचनबल और कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

इनमें से ऐकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण हैं—स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु और श्वोसाच्छ्वास।

दो इंद्रिय के छह प्राण हैं—इन चारों में रसना इंद्रिय और वचनबल दो और बढ़ गये हैं।

तीन इंद्रिय जीवों के सात प्राण हैं—इन्हीं में घ्राण इंद्रिय मिला दीजिये।

चार इंद्रिय जीवों में आठ प्राण हैं—इन्हीं सात में चक्षु इंद्रिय मिला दीजिये।

पंचेन्द्रिय जीवों के दश प्राण हैं—इन्हीं आठों में कर्ण इंद्रिय और मनोबल और आ जाते हैं।

इन पांच इंद्रिय वाले जीवों में संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो भेद होते हैं। असंज्ञी जीवों में मन नहीं होने से नव प्राण हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में दशों प्राण होते हैं।

श्री गौतम स्वामी के वचनों के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों के पांच भेद हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।

एकेन्द्रिय जीवों का विशेष विवेचन

''पुढविकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा।''

पृथ्वीकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं।

''आउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा''

अप्कायिक—जलकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं।

''तेउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा।''

तेजस्कायिक—अग्निकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं।

वाउकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा''

वायुकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं।

वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता हरिया वीया अंकुरा छिण्णा भिण्णा।'' तेसिं उदावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।''

वनस्पतिकायिक जीव अनंतानंत हैं। ये हरित, बीज, अंकुर, छिन्न, भिन्न आदि प्रकार के हैं। इन सभी—(ऊपर से पृथ्वीकायिक आदि से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यंत) जीवों का जो घात किया हो, संताप दिया हो, उपघात किया हो, स्वयं किया हो, कराया हो या करते हुये को अनुमति दी हो, वह सब दुष्कृत मिथ्या होवे।

इसमें आपको यह ध्यान देना है कि पृथ्वीकायिक आदि चार प्रकार के एकेन्द्रिय जीव तीनों लोकों में असंख्यातासंख्यात ही हैं। वनस्पतिकायिक जीव ही अनंतानंत हैं।

इन वनस्पति में भी प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति की अपेक्षा भी दो भेद हैं। जिनका स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

दो इंद्रिय जीवों का विशेष विवेचन

''बेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा कुक्खिकिमिसंखखुल्लय–वराडय–अक्ख–रिट्ठ–गंडबाल–संबुक्क–सिप्पि–पुलविकाइया (पुलवि–आइया).....।

कुक्षि, कृमि—लट, शंख, क्षुल्लक—छोटी कौड़ी, वराटक—बड़ी कौड़ी, अक्ष—पांसा आदि, अरिष्टबाल—बच्चों के शरीर में उत्पन्न हुये तंतुसमान जीव विशेष, संबूक—छोटे–छोटे शंख, सीप, पुलवि—जोंक आदि और भी अनेक प्रकार के जीव होते हैं। ये दो इंद्रिय असंख्यातासंख्यात हैं।

तीन इंद्रिय जीवों का विशेष विवेचन

तेइंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, कुंथु–देहिय–विंछिय–गोभिंद–गोजुव–मक्कुण–पिपीलियाइया.....।

कुंथु—सूक्ष्मजीव, देहिक, विच्छू, गोभिंद—इंद्रगोप, गोजों आदि जीव, मत्कुण—खटमल, पिपीलिका—चींटी–चींटा आदि अनेक प्रकार के तीन इंद्रिय वाले जीव भी असंख्यातासंख्यात हैं।

चार इंद्रिय जीवों का विशेष विवेचन

चउरिंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा दंसमसय–मक्खिपयंग–कीड–भमर–महुयर–गोमच्छियाइया.....।

चार इंद्रिय जीव भी असंख्यातासंख्यात हैं। ये दंशमशक—मच्छर–मक्खी, पतंगे, कीड़े, भौंरा, मधुकर—मधुमक्खी, गोमच्छिका—गोबर में होने वाले कीड़े, लाल कीड़े आदि या गाय के स्तन आदि में होने वाले जीव आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों का विशेष विवेचन

पंचेंदिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा अंडाइया पोताइया जराइया रसाइया संसेदिमा सम्मुच्छिमा उब्भेदिमा उववादिमा अवि चउरासीदिजोणिपमुहसदसहस्सेसु, एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

पंचेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं। ये अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले, पोतज—बिल्ली आदि के गर्भ से उत्पन्न हुये जीव, जरायुज—मनुष्य और गाय आदि से उत्पन्न हुये जीव, रसज—रस में उत्पन्न होने वाले जीव, संस्वेदिम–पसीने आदि से उत्पन्न हुये पंचेंद्रिय जीव, सम्मूर्च्छन–सम्मूर्च्छन जीव—बिना माता–पिता के उत्पन्न होने वाले जीव—मेढक, महामत्स्य आदि पंचेन्द्रिय जीव, उद्भेदिम—भूमि, काठ आदि को भेदकर उत्पन्न हुये जीव और औपपादिक–उपपाद से जन्म लेने वाले देव और नारकी जीव ये आठ प्रकार के पंचेंद्रिय जीव होते हैं। ऐसे सभी चौरासी लाख योनि में होने वाले सभी जीव हैं।

इन सभी प्रकार के जीवों का उत्तापन, परितापन, विराधन और उपघात जो मैंने किया हो, कराया हो और करने वाले को अनुमति दी हो, उससे होने वाला मेरा दुष्कृत—पाप मिथ्या होवे।

ये प्रतिक्रमण पाठ की पंक्तियाँ हैं।

भावार्थ—देव, मनुष्य, नारकी और पंचेंद्रिय तिर्यंच—पशु–पक्षी आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं। इनमें से तिर्यंचों में जलचर, स्थलचर और नभचर ऐसे तीन भेद भी माने हैं। जल में रहने वाले मछली, महामत्स्य, मगर आदि जलचर हैं। गाय, भैंस, बकरी, हाथी, घोड़े आदि स्थलचर हैं और कबूतर, चिड़ियाँ आदि उड़ने वाले पंचेंन्द्रिय पक्षी नभचर कहलाते हैं।

चौरासी लाख योनियों में होने वाले जीव–

आकृति योनि के तीन भेद हैं—१. शंखावर्त्त, २. कूर्मोन्नत, ३. वंशपत्र। इनमें से शंखावर्त योनि में गर्भ नियम से वर्जित है।

भावार्थ—जिसके भीतर शंख के समान चक्कर पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। जो कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं। जो बाँस के पत्ते के समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं। ये तीन तरह की आकार योनि हैं, इनमें से पहली शंखावर्त योनि में नियम से गर्भ नहीं रहता।

कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री व बलभद्र तथा अपि शब्द की सामर्थ्य से अन्य भी महान पुरुष उत्पन्न होते हैं। तीसरी वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जन्म तीन प्रकार का होता है–सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद तथा सचित्त, शीत, संवृत और इनसे उल्टी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनों की मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मों की आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक योनि को सम्मूर्छनादि जन्म के साथ लगा लेना चाहिये।

भावार्थ—सामान्यतया गुणयोनि के ये नौ भेद हैं—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

चौरासी लाख योनि के भेद

नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमें से प्रत्येक की सात-सात लाख, तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनमें से प्रत्येक की दो-दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की सब मिलाकर छः लाख, देव, नारकी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच प्रत्येक की चार-चार लाख, मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर ८४ लाख योनि होती हैं।

आस्त्रव पदार्थ का विशेष विवेचन

आस्त्रव का लक्षण एवं भेद—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्त्रव कहलाते हैं। ये आस्त्रव के लिए कारणभूत हैं अतः इन्हें आस्त्रव कह देते हैं। इनके उत्तर भेद क्रम से मिथ्यात्व के पाँच, अविरति के बारह, कषाय के पच्चीस और योग के पंद्रह भेद होते हैं।

मिथ्यात्व का लक्षण एवं भेद—

मिथ्यात्व के उदय से जो तत्वों का अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व कहलाता है उसके ५ भेद हैं— एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

अविरति का लक्षण एवं भेद—

पाँच इंद्रिय और मन इन छह इंद्रियों के विषयों से विरक्त नहीं होना और पाँच स्थावर एवं त्रस ऐसे षट्काय जीवों की विराधना से विरक्त नहीं होना अविरति है। इस प्रकार से इंद्रिय असंयम और प्राणी असंयम के भेद से अविरति के १२ भेद होते हैं।

कषाय के भेद—

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इन चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से कषाय के १६ भेद होते हैं।

एवं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नव नोकषायें मिलकर कषाय के २५ भेद होते हैं।

योग का लक्षण एवं भेद—

सत्य, असत्य, उभय और अनुभय अर्थों में मन, वचन की प्रवृत्ति सत्य मन, सत्य वचन आदि नाम से कही जाती है। इन सत्य मन, असत्य मन की प्रवृत्तियों के निमित्त से जो आत्मा के प्रदेशों में हलन, चलन होता है वह योग कहलाता है अत; इन सत्यमन, वचन के योग से सत्य मनोयोग, असत्य मन, वचन के योग से असत्य मनोयोग आदि उन-उन नाम वाले योग कहलाते हैं। इनके नाम— सत्यमनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभयवचन योग, अनुभय वचन योग, ये मनोयोग, वचनयोग के आठ भेद हुये।

औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग और कार्मणयोग ये काययोग के ७ मिलकर योग के पंद्रह भेद होते हैं।

इस प्रकार ५ + १२ + २५ + १५ = ५७ होते हैं।

ये आस्रव के सत्तावन भेद '**आस्रव त्रिभंगी**' ग्रंथ में माने हैं।

आस्रव के १०८ भेद भी हैं—

समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीन, मन, वचन और काय ये ३, कृत, कारित और अनुमोदना ये ३, क्रोध, मान, माया और लोभ ये ४, इनका परस्पर में गुणा करने पर ३×३×३×४=१०८ भेद जीवाधिकरण के होते हैं।

आठों कर्मों के आस्रव के विशेष कारण

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव किन कारणों से होता है?–

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।।१०।।

अर्थ—ज्ञान और दर्शन संबंधी प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात के कारण से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यदर्शन, ज्ञानयुक्त पुरुष की प्रशंसा सुनकर स्वयं प्रशंसा न करना और मन में दुष्ट भावों का लाना प्रदोष है। जानते हुए भी ज्ञान को छिपाना निन्हव है। योग्य ज्ञान योग्य पात्र को नहीं देना मात्सर्य है। किसी के ज्ञान में अन्तराय डालना अन्तराय है। दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान की काय और वचन से विनय, गुणकीर्तन आदि नहीं करना आसादन है। सम्यग्ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान कहना उसका घात करना उपघात कहलाता है। अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण भिन्न–भिन्न ही समझने चाहिए क्योंकि विषय भेद से प्रदोष आदि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञानविषयक प्रदोष आदि ज्ञानावरण के और दर्शनविषयक प्रदोष आदि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल अध्ययन, अश्रद्धा, अभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ सुनना, तीर्थोपरोध, दिव्यध्वनि के समय स्वयं व्याख्या करने लगना, बहुश्रुतपने का गर्व, मिथ्योपदेश, बहुश्रुत का अपमान करना, स्वपक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञान प्राप्ति, शास्त्र विक्रय और हिंसा आदि ज्ञानावरण के आस्रव के कारण हैं। दर्शनमात्सर्य, दर्शन अन्तराय, आँखे फोड़ना, इन्द्रियों के विपरीत प्रवृत्ति, दृष्टि का गर्व, दीर्घनिद्रा, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिकता, सम्यग्दृष्टि में दूषण लगाना, कुतीर्थ की प्रशंसा, हिंसा और यतिजनों के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

असातावेदनीय का आस्रव किन कारणों से होता है?–

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।।११।।

अर्थ—निज तथा पर दोनों के संबंध में किया जाने वाला दुःख,शोक, ताप, आक्रन्दन (रुदन), वध और परिवेदन (ऐसा रुदन जिससे सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जाये) असातावेदनीय के आस्रव हैं।

प्रश्न–यदि दुःख के कारणों से असातावेदनीय का आस्रव होता है तो नग्न रहना, केशलुंचन और अनशन आदि तपों का उपदेश नहीं करना चाहिए?

उत्तर–यह प्रश्न ही नहीं हो सकता, यतः जैन तो प्रश्न कर नहीं सकते क्योंकि स्वतीर्थंकरों के उपदेश का व्याघात हो जाता है। बौद्धों के मत में जब सभी पदार्थ दुःखशून्य और अनात्मकरूप हैं तब हिंसादि की तरह दानादि में भी दुःखहेतुता ही रहेगी और इसलिए इनका उपदेश भी अकुशल का ही उपदेश कहा जायेगा। इसी तरह अन्य मतवादियों को भी यम, नियम परिपालन, विविध वेष, अनुष्ठान, दुर्धर उपवास, ब्रह्मचर्यवास आदि दुःखहेतु होने से अनुष्ठान नहीं करना चाहिए और न उपदेश देना चाहिए, क्योंकि सभी वादी हिंसा आदि को दुःख हेतु होने से पापास्रव का कारण मानते ही हैं। सत्य बात तो यह है कि क्रोधादि के आवेश के कारण द्वेषपूर्वक होने वाले स्व, पर और उभय के दुःख आदि पापास्रव के हेतु होते हैं न कि स्वेच्छा से आत्मशुद्ध अर्थ किये जाने वाले तप आदि। जैसे अनिष्ट द्रव्य के संपर्क से द्वेषपूर्वक दुःख उत्पन्न होता है उस तरह बाह्य और अभ्यंतर तप की प्रवृत्ति में धर्मध्यानपरिणत मुनि के अनशन, केशलुचंन आदि करने या कराने में द्वेष की संभावना नहीं है अतः असाता का बंध नहीं होता। जिस प्रकार यति अहिंसा आदि करने ओर कराने में प्रसन्न होता है, उसी तरह उपवास आदि करने और कराने में प्रसन्नता ही होती है। अतः अनशन आदि तप दुःखरूप नहीं है। जब मुनियों को किसी भी कारण से कभी भी क्रोधादि के उत्पन्न होने पर उसके परिमार्जन के लिए प्रायश्चित करना पड़ता है, तब यति को अनशन आदि तपविधि में क्रोधादि परिणामों की संभावना ही नहीं की जा सकती, जिससे असाता का आस्रव माना जाये। जैसे–वैद्य करुणाबुद्धि से रोगी के फोड़े की शल्य क्रिया करके भी क्रोधादि न होने से पापबंध नहीं करता, उसी तरह अनादिकालीन सांसारिक जन्म मरण की वेदना को नाश करने की इच्छा से तप आदि उपायों में प्रवृत्ति करने वाले यति के कार्यों में स्व, पर और उभय में दुःखहेतुता दिखने पर भी क्रोधादि न होने के कारण वह पाप का बंधक नहीं होता। मनोरति को सुख कहते हैं। जैसे–अत्यन्त दुःखी भी संसारी जीवों का जिन पदार्थों में मन रम जाता है, वे ही सुखकारक होते हैं, उसी तरह यति का मन अनशन आदि करने में रमता है, प्रसन्न होता है अतः वह दुःखी नहीं है और इसलिए असाता का बंधक नहीं है। कहा भी है–"नगर हो या वन, स्वजन हो या परजन, महल हो या पेड़ की खोह, प्रिया की गोद हो या शिलातल, वस्तुतः मनोरति को

ही सुख कहते हैं। जहाँ जिसका मन रम गया, वह वहीं सुखी है।"

सातावेदनीय कर्म के आस्रव क्या हैं?–

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमितिसद्वेद्यस्य।।१२।।

अर्थ—भूतानुकम्पा (समस्त प्राणियों के प्रति दया का भाव होना), व्रत्यनुकम्पा (अणुव्रत और महाव्रतधारियों के प्रति दया रखना), दान (परोपकार के लिए अपने द्रव्य का त्याग), सराग संयमादि योग (छह काय के जीवों की हिंसा न करना, इन्द्रिय और मन पर निग्रह रखना रूप संयम का नाम सराग संयम है), क्षांति (क्रोध, मान, माया की निवृत्ति), शौच (सब प्रकार के लोभ का त्याग) तथा अर्हद्भक्ति आदि ये सातावेदनीसय के आस्रव हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण क्या हैं?–

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादोदर्शनमोहस्य।।१३।।

अर्थ—केवली भगवान, श्रुत (जिनवाणी), संघ, धर्म ओर देवों की निंदा करने से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ–केवली भोजन करते हैं, कम्बल आदि धारण करते हैं, तूंबडी का पात्र रखते हैं, उनके ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं, इत्यादि केवली का अवर्णवाद है।

मद्य, मांस का भक्षण, मधु और सुरा का पीना, कामातुर को रतिदान तथा रात्रि भोजन आदि में कोई दोष नहीं हैं, यह सब श्रुत का अवर्णवाद है।

ये श्रमण शूद्र है, स्नान न करने से मलिन शरीर वाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इसी लोक में ये दुखी हैं, परलोक भी इनका नष्ट है, इत्यादि संघ का अवर्णवाद है।

जिनोपदिष्ट धर्म निर्गुण है। इसके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि धर्म का अवर्णवाद है।

देव मद्य–मांस का सेवन करते हैं, अहिल्या आदि में आसक्त हुए थे, इत्यादि देवों का अवर्णवाद है। ये सब सम्यग्दर्शन को नष्ट करने वाले दर्शनमोह के आस्रव के कारण हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव क्या करने से होता है? —

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य।।१४।।

अर्थ—कषायों के उदय से होने वाले तीव्र परिणामों से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं —कषाय मोहनीय ओर अकषाय मोहनीय।

विशेषार्थ —स्वयं और दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, व्रत और शीलयुक्त यतियों के चारित्र में दूषण लगाना, धर्म का नाश करना, धर्म में अन्तराय करना, देशसंयतों से गुण और शील का त्याग कराना, मात्सर्य आदि से रहित जनों में विभ्रम उत्पन्न करना, आर्त और रौद्र परिणामों को पैदा करने वाले लिंग और व्रत आदि का धारण करना, इन कार्यों से कषाय मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

अकषाय मोहनीय के नौ भेद हैं —हास्य, रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। समीचीन धर्म के पालन करने वाले का उपहास करना, दीनजनों को देखकर हंसना आदि हास्य के आस्रव हैं। नाना प्रकार की क्रीड़ा करना, व्रत शील आदि में अरुचि होना रति के आस्रव हैं। दूसरों में रति का विनाश करना और अरति को पैदा करना, पापशीलजनों का संसर्ग करना और पाप क्रियाओं को प्रोत्साहन देना आदि अरति के आस्रव हैं। अपने और दूसरों में शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्त जनों का अभिनन्दन करना आदि शोक के आस्रव हैं। स्व और पर को भय उत्पन्न करना निर्दयता और दूसरों को त्रास देना आदि भय के आस्रव हैं। पुण्य क्रियाओं में जुगुप्सा करना, दूसरों की निंदा करना आदि जुगुप्सा के आस्रव हैं। परस्त्री गमन करना, स्त्री के भेष को धारण करना, असत्य वचन, परवंचना, दूसरों के दोषों को देखने से स्त्रीवेद का आस्रव होता है। अल्प क्रोध, कपट का अभाव स्त्रियों में अल्प आसक्ति, ईष्या का न होना, स्वदार सन्तोष, परस्त्री का त्याग आदि पुंवेद के आस्रव हैं। प्रचुर कषाय, गुह्येन्द्रिय का विनाश, परस्त्री का अपमान, स्त्री और पुरुषों में अनंग क्रीड़ा करना, व्रत और शीलधारी पुरुषों को कष्ट देना और तीव्र राग नपुंसकवेद के आस्रव हैं।

नरक आयु का आस्रव किन कर्मों से होता हैं ?

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।।१५।।

अर्थ—बहुत आंरभ और परिग्रह से नरक आयु का आस्रव होता है।

"मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, अनृत वचन, परद्रव्यहरण, निःशीलता, तीव्र वैर, परोपकार न करना, यतियों में विरोध करना, शास्त्र विरोध, कृष्णलेश्या, विषयों में तृष्णा की वृद्धि, रौद्र ध्यान, हिंसादि क्रूर कर्मों में प्रवृत्ति, बाल, वृद्ध और स्त्री की हिंसा आदि भी नरक आयु का आस्रव कराते हैं।

विशेषार्थ–मिथ्यादर्शन, अशिष्ट आचरण, उत्कृष्ट मान, पत्थर की रेखा के समान क्रोध, तीव्र लोभ, अनुकम्पारहित परिणाम, परपरिताप में खुश होना, वध-बंधन आदि का अभिनिवेश, प्राणभूत तत्त्व और जीवों की सतत हिंसा करना, प्राणिवध, असत्यभाषणशीलता, परधनहरण, गुपचुप रागी चेष्टाएँ, मैथुनप्रवृत्ति, महा आरंभ, इन्द्रियपरवशता, तीव्र कामभोगाभिलाषा, निःशीलता, पापनिमित्तक भोज, बद्धवैरता, क्रूरतापर्वक रोना-चिल्लाना, अनुग्रहरहित स्वभाव, यतिवर्ग में फूट पैदा करना, तीर्थंकर की आसादना, कृष्णलेश्यारूप रौद्र परिणाम, रौद्रभावपूर्वक मरण आदि नरक आयु के आस्रव हैं।

तिर्यंच आयु का आस्रव किन कर्मों से होता है ?

माया तैर्यग्योनस्य।।१६।।

अर्थ—छल, कपट करने से तिर्यंच आयु का आस्रव होता है।

मनुष्य आयु का आस्रव किन कर्मों से होता है ?

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।।१७।।

अर्थ—थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह रखने से मनुष्य आयु का आस्रव होता है।

स्वभाव मार्दवं च।।१८।।

अर्थ—स्वाभाविक मृदुता भी मनुष्य आयु के आस्रव में कारण है, यह देवायु का भी कारण है।

सब आयुओं का आस्रव–

निःशीलव्रतत्त्वं च सर्वेषाम्।।१९।।

अर्थ—सात शीलों (तीनों गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) और अहिंसा आदि पाँच व्रतों का अभाव तथा अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह ये चारों गतियों की आयु का आस्रव कराते हैं। शील और व्रत रहित भोगभूमिज जीव ऐशान स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं अतः उक्त जीवों की अपेक्षा निःशीलव्रतित्व देवायु का आस्रव है। कोई अल्पारम्भी और अल्प परिग्रही अन्य पापों के कारण नरक आदि को प्राप्त करते हैं अतः ऐसे जीवों की अपेक्षा अल्पारंभ परिग्रह से नरक आयु का भी आस्रव होता है।

विशेषार्थ—शील और व्रतों से रहितपना सभी आयुओं के आस्रव का कारण है। "च" शब्द से अल्पारंभ और अल्प परिग्रहत्व का समुच्चय कर लेना चाहिए। "सर्वेषाम्" से देवायु का ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु पीछे कही गई तीनों आयुओं का। यद्यपि पृथक् सूत्र बनाने से ही बीती हुई आयु का बोध हो जाता हैं फिर भी "सर्वेषाम्" पद का प्रयोजन यह है कि निःशीलत्व और निर्व्रतत्व भी देवायु के आस्रव के कारण होते हैं, पर वह भोगभूमियाँ जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए।

देवायु का आस्रव कैसे होता है ?–

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।।२०।।

अर्थ—सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप से देवायु का आस्रव होता है।

सम्यक्त्वं च।।२१।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन से भी देवायु का आस्रव होता है। इस सूत्र को अलग से कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यदर्शन से वैमानिक देवों की आयु का ही आस्रव होता है। सम्यग्दृष्टी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होते।

विशेषार्थ—पृथक् सूत्र बनाने से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व सौधर्मादि स्वर्ग में रहने वाले देवों की आयु के आस्रव का कारण है। इस सूत्र से यह भी सिद्ध हो जाता है कि सराग संयम और संयमासंयम भी विमानवासियों की ही आयु के आस्रव के कारण होते हैं, भवनवासी आदि की आयु के नहीं।

जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तप का मद करना, पर की अवज्ञा, दूसरे की हंसी करना, परनिंदा स्वभाव, धार्मिकजनपरिहास, आत्मोत्कर्ष, पर यश का विलोप, मिथ्याकीर्ति

अर्जन करना, गुरुजनों का पराभव-तिरस्कार, दोषव्यापन, स्थानावमान भर्त्सन और गुणावसादन करना तथा अंजलि–स्तुति–अभिवादन–अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थंकरों पर आक्षेप करना आदि नीचगोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अशुभ नाम कर्म का आस्रव कब होता है ?

योगवक्रताविसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।।२२।।

अर्थ—मनोयोग, वचनयोग, काययोग की कुटिलता (अर्थात् सोचे कुछ, कहे कुछ और करे कुछ) और विसंवादन (श्रेयोमार्ग की निन्दा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना, जैसे–सम्यक्चारित्र आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वालों से कहना कि तुम ऐसा मत करो) से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

शुभ नाम कर्म का आस्रव कैसे होता है ?–

अर्थ—तद्विपरीतं शुभस्य।।२३।।

अर्थ—मनयोग, वचनयोग, काययोग की सरलता और अविसंवादन से शुभ नामकर्म का आस्रव होता है।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसी-साधुसमाधिर्वैय्यावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।।२४।।

अर्थ—दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अतिचार न लगाना, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग और संवेग, यथाशक्तित्याग और तप, साधुसमाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलता इन १६ भावनाओं से तीर्थंकर नाम प्रकृति का आस्रव होता है।

विशेषार्थ —इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि मुख्य भावना है। उसके अभाव में सबके अथवा यथासंभव हीनाधिक होने पर भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव नहीं होता और उसके रहते हुए अन्य भावनाओं के अभाव में भी तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव हो सकता है।

नीच गोत्र का आस्रव किन कार्यों से होता है ?–

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।२५।।

अर्थ—दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरों में मौजूद जो गुण हैं उनको ढांकना और स्वयं में जो गुण नहीं हैं उनको प्रकट करना ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

विशेषार्थ —आठ मद से ग्रसित होना, दूसरों का अपमान करना, हंसी करना, गुरुओं का तिरस्कार, गुरुओं से टकराना, गुरुओं के दोषों को प्रगट करना, गुरुओं का विभेदन, गुरुओं को स्थान न देना, गुरुओं का अपमान, गुरुओं की भर्त्सना, गुरुओं से असभ्य वचन कहना, गुरुओं की स्तुति न

करना और गुरुओं को देखकर खड़े नहीं होना आदि भी नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।।२६।।

अर्थ—परप्रशंसा, आत्मनिंदा, सद्गुणोद्भावन, असद्गुणोच्छादन, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक (ज्ञान, तप आदि गुणों से उत्कृष्ट होते हुए भी मद न करना) से उच्च गोत्र का आस्रव होता है।

विशेषार्थ —तत् —नीचगोत्र, विपर्यय —उलटे अर्थात् आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, परसद्गुणोद्–भावन, आत्म–असद्गुणोच्छादन, गुणी पुरुषों के प्रति विनयपूर्वक नम्रवृत्ति और ज्ञानादि होने पर भी तत् कृत उत्सेक —अहंकार न होना ये सब उच्चगोत्र के आस्रव के कारण हैं। जाति, कुल, बल, रूप, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और तप आदि की विशेषता होने पर भी अपने में बड़प्पन का भाव नहीं आने देना, पर का तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास, बदनामी आदि न करना, मान नहीं करना, साधर्मी व्यक्तियों का सन्मान, उन्हें अभ्युत्थान अंजलि नमस्कार आदि करना, इस युग में अन्य जनों में न पाये जाने वाले ज्ञान आदि गुणों के होने पर भी उनका रंच मात्र अहंकार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह अपने माहात्म्य का ढिंढोरा नहीं पीटना और धर्मसाधनों में अत्यन्त आदर बुद्धि आदि भी उच्चगोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म का आस्रव किन कारणों से होता है ?–

विघ्नकरणमन्तरायस्य।।२७।।

अर्थ—किसी दूसरे के दान, लाभ, भोग और वीर्य में विघ्न उत्पन्न करने से अन्तराय कर्म का आस्रव होता है। दान की निंदा करना, देवों को चढ़ाये गये नैवेद्य का भक्षण करना, पर के वीर्य का अपहरण करना, धर्म का उच्छेद करना, अधर्म का आचारण करना, दूसरों को बांधना, कान छेदना, नाक काटना, आँख फोड़ना आदि से भी अन्तराय कर्म का आस्रव होता है।

विशेषार्थ —

प्रश्न —आगम में ज्ञानावरण के बंधकाल में दर्शनावरण आदि का भी बंध बताया है अतः प्रदोष आदि ज्ञानावरण के ही आस्रव के कारण नहीं हो सकते, सभी कर्मों के आस्रव के कारण होगें?

उत्तर —प्रदोष आदि कारणों से ज्ञानावरण आदि उन कर्मों में विशेष अनुभाग पड़ता है प्रदोष आदि से प्रदेशबंध तो सबका होता है पर अनुभाग उन्हीं–उन्हीं ज्ञानावरणादि में पड़ता है अतः अनुभाग विशेष से प्रदोष आदि का आस्रव भेद हो जाता है।

संवर पदार्थ का विशेष विवेचन

संवर के ५७ भेद—

संवर—५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा और २२ परीषहजय ये ५७ ही कर्मों के आस्रव को रोकने में समर्थ होने से संवर कहलाते हैं।

अथवा संवर के १०८ भेद भी माने हैं। श्री अकलंकदेव ने १०८ भेद किए हैं।

संवर के १०८ भेद—

३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परीषह, १२ तप, ९ प्रायश्चित्त, ४ विनय, १० वैयावृत्य, ५ स्वाध्याय, २ व्युत्सर्ग, १० धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान ये (३ + ५ + १० + १२ + २२ + १२ + ९ + ४ + १० + ५ + २ + १० + ४ = १०८) एक सौ आठ भेद संवर के होते हैं।[१]

बंध पदार्थ का विशेष विवेचन

बंध के भेद और कारण—

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश बंध योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव—

ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति यानी स्वभाव क्या है ? जैसे देवता को पर्दा आच्छादित कर देता है—ढक देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है—प्रगट नहीं होने देता है। यही ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति है—स्वभाव है। ऐसे ही दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन को नहीं होने देता है, जैसे कि द्वारपाल राजा के दर्शन नहीं होने देता है।

वेदनीय कर्म का स्वभाव है सुख-दुःख का वेदन—अनुभव कराना है। जैसे कि शहद से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से कुछ सुख होता है और दुःख अधिक होता है।

मोहनीय कर्म का स्वभाव आत्मा को मोहित कर देने का है। जैसे—मदिरा को पीने वाला मनुष्य हेय-उपादेय के ज्ञान से रहित हो जाता है। आयु कर्म का स्वभाव उस-उस भव में रोके रखने का है। जैसे—बेड़ी मनुष्य को इच्छित स्थान में जाने से रोक देती है।

नाम कर्म का स्वभाव है—अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे शरीर के आकार बना देना, जैसे कि चित्रकार अनेक चित्र बना देता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव है—उच्च-नीच बनाना, जैसे कि कुंभार छोटे-बड़े घट आदि बना देता है और अन्तराय का स्वभाव है—दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न डालना। जैसे कि भंडारी राजा को देते हुए रोक कर, लेने वाले के लिए विघ्न डाल देता है। इस प्रकार इन आठ कर्मों का प्रकृति बंध अपने नाम के अनुसार कार्य करता है।

स्थिति बंध—

जैसे—बकरी, गाय, भैंस आदि का दूध दो प्रहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्मबंध रहता है, उतने काल को स्थितिबंध

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक अ. १, सूत्र ७ की टीका।

कहते हैं। आयु कर्म यदि १०० वर्ष तक बंधा है, तो १०० वर्ष बाद उसके निषेक फल देकर समाप्त हो जाते हैं, तब मरण हो जाता है। यह आयु कर्म का स्थिति बंध है।

अनुभाग बंध—

जीव के प्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं, उनमें जो सुख-दुःख देने में समर्थ शक्ति विशेष है उसको अनुभाग बंध कहते हैं। जैसे—बकरी आदि के दूध में कम-अधिक मीठापन, चिकनाई शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है। वह घाति कर्म से संबंध रखने वाली शक्ति लता, काष्ठ, हड्डी और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है। उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में नीम, कांजीर, विष तथा हालाहल रूप से चार प्रकार की है। शुभ अघातिया कर्म प्रकृतियों की शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार प्रकार की है।

प्रदेश बंध—

आत्मा के साथ कर्मों के प्रदेश का आकर चिपट जाना प्रदेश बंध है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनंतवें भाग और अभव्य जीवराशि से अनंतगुणे ऐसे अनंतानंत परमाणु प्रत्येक क्षण में बंध को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार प्रदेश बंध का स्वरूप है। बंध के चार भेदों का लक्षण संक्षेप से कहा गया है।

योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं तथा कषाय से स्थिति बंध और अनुभाग बंध होते हैं। निश्चयनय से आत्मा के प्रदेशों में क्रिया नहीं है किन्तु व्यवहारनय से उन आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंदन—हलन चलन होता है उसे योग कहते हैं। उस योग से प्रकृतिबंध होता है तथा प्रदेश बंध होता है। आत्मा के शुद्ध गुणों के प्रतिबंधक जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें हैं ये सदा ही आत्मा को कषती हैं, दुःख देती रहती हैं इन कषायों के निमित्त से ही कर्मों में स्थिति—मर्यादा और अनुभाग—सुख दुःखरूप फल देने की शक्ति पड़ती है।

कौन से गुणस्थान में कौन सा बंध होता है—

दशवें गुणस्थान तक कषायें रहती हैं अतः वहीं तक स्थिति-अनुभाग बंध पड़ता है किन्तु इससे ऊपर वीतराग छद्मस्थ अवस्था में ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में तथा केवलज्ञानी भगवान के तेरहवें गुणस्थान में भी योग के निमित्त से प्रकृति-प्रदेश बंध होता रहता है। फिर भी वहाँ पर स्थिति अनुभाग न पड़ने से वह बंध कार्यकारी नहीं होता है, नाम मात्र का ही है। बंध व्यवस्था को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ पर मात्र साता प्रकृति का ही बंध होता है वह भी एक समय मात्र का बंध है इसीलिए इसे ईर्यापथ आस्रव संज्ञा दी है। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये कषायें ही जीवों को संसार में भ्रमण कराने वाली हैं, उनको हटाने का प्रयत्न करना चाहिए किन्तु जब तक कषायों को हटा नहीं सकते, तब तक पुरुषार्थ के बल से उन्हें घटाने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

प्रश्न—यहाँ पर कषाय से ही स्थिति, अनुभाग बंध माना है अतः बंध में मिथ्यात्व अकिंचित्कर ही रहा ?

उत्तर—ऐसा नहीं समझना, क्योंकि अनंतानुबंधी कषायों के साथ मिथ्यात्व रहता ही रहता है और उस मिथ्यात्व से सहचरित ही अनंतानुबंधी कषायें अनंत संसार का कारण बनती हैं। जब मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तब कषायें भी अनंत संसार के लिए कारण ऐसे स्थिति, अनुभाग बंध को नहीं करा सकती हैं।

उपशम सम्यक्त्व के काल में यदि कदाचित् किसी के अनंतानुबंधी में से किसी एक का उदय आ जाता है तब वह सम्यक्त्व से गिरकर द्वितीय सासादन गुणस्थान में आ जाता है लेकिन इस गुणस्थान का काल मात्र एक समय से लेकर अधिकतम भी छह आवली प्रमाण है, जो कि सेकेण्ड से भी छोटा है। इसके बाद वह जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में आता ही आता है इसलिए अनंतानुबंधी कषायें मिथ्यात्व की सहचारिणी हैं। अथवा यों कहिये मिथ्यात्वरूपी पति के मर जाने के बाद अनंतानुबंधी कषायें अनंत संसार की सृष्टि परम्परा नहीं चला सकती हैं प्रत्युत वह भी पति के पीछे सती हो जाती हैं। इस कारण मिथ्यात्व बंध में अकिंचित्कर नहीं है।

नव पदार्थ के क्रम में अंतर

श्री गौतमस्वामी विरचित पाक्षिक प्रतिक्रमण में—

'से अभिमद जीवाजीव-उवलद्धपुण्णपाव-आसवसंवरणिज्जर-बंधमोक्खमहि-कुसले।[१]।।''

१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. निर्जरा, ८. बंध और ९. मोक्ष। ये क्रम है।

यही क्रम षट्खण्डागम धवला टीका पुस्तक १३ में है।

''जीवाजीव- पुण्ण-पाव-आसव-संवर-णिज्जरा-बंध-मोक्खेहि।
णवहिं पयत्थेहि वदिरित्तमण्णं ण किं पि अत्थि, अणुवलंभादो।।[२]''

अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि इनके सिवा अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता।

यही क्रम समयसार ग्रन्थ में है–

(१५ ज.) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।[३]

---

१. क्रियाकलाप पृ. १०७, मुनिचर्या पृ. २९२। २. षट्खण्डागम (धवला) पृ. १३, पृ. ६४।
३. समयसार पूर्वार्ध पृ. ६३।

अर्थ—भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नवतत्त्व ही सम्यक्त्व हैं। उपर्युक्त समयसार की गाथा ही मूलाचार गाथा २०३ में है।

समयसार ग्रन्थ में इसी क्रम से अधिकार दिये गये हैं। यही क्रम गोम्मटसार जीवकांड में गाथा ६२१ में दिया गया है। देखिए—

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जर बंधा मोक्खो य होंति त्ति[1]।।६२१।।

अर्थ—जीव, अजीव, उनके पुण्य और पाप दो तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ होते हैं। पदार्थ शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए, जैसे जीव पदार्थ, अजीवपदार्थ इत्यादि।।६२१।।

पंचास्तिकाय ग्रंथ में भी ९ पदार्थ का क्रम इसी प्रकार है–

जीवा-जीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा[2]।।१०८।।

गाथार्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष इस प्रकार नव पदार्थों के नाम हैं।

भावसंग्रह में आचार्य श्री देवसेन जी ने भी ९ पदार्थ का यही क्रम रखा है–

ते पुण जीवाजीवा–पुण्णं पावो य आसवो य तहा।
संवर णिज्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णव होंति[3]।।२८५।।

आगे श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा क्रम रखा है। यथा—

''जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।।४।।

सूत्रार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

किन्हीं विद्वान ने पाक्षिक प्रतिक्रमण में श्री गौतमस्वामी की रचना में पाठ बदलकर ऐसा कर दिया है—

''से अभिमदजीवाजीव-उवलद्धपुण्णपाव-आसवबंधसंवरणिज्जरमोक्खमहिकुसले।''

अर्थात् आस्रव के बाद तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार बंध को ले लिया है। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है क्योंकि प्रतिक्रमण की टीका में व समयसार आदि में मूलपाठ का ही क्रम रखा है। क्या कोई समयसार में अधिकारों के भी क्रम में परिवर्तन कर सकते हैं ? नहीं कर सकते हैं। समयसार में–श्री अमृतचंद्रसूरि व श्री जयसेनाचार्य ने भी इसी क्रम से अधिकारों की टीका की है, पहले जीवाजीवाधिकार, पुण्यपापाधिकार पुनः आस्रव, पुनः संवर, निर्जरा पुनः बंध और मोक्ष अधिकार लिये हैं।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के अनुसार ही उनके टीकाकार आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी, आ. श्री अकलंकदेव, आचार्य श्री विद्यानंद महोदय, श्री श्रुतसागरसूरि आदि ने उसी क्रम से टीका, भाष्य आदि लिखे हैं।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड–(जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका) पृ. ८६१। २. पंचास्तिकाय, पृ. २८०–२८१। ३. भावसंग्रह पृ. १८४।

द्रव्यसंग्रह में भी यही क्रम है उसमें पुण्य-पाप को अंत में ले लिया है। कहने का अभिप्राय यहाँ यही है कि इन किन्हीं की भी रचना में पाठ बदलने का अतिसाहस हमें व आपको नहीं करना चाहिये।

नव पदार्थ के क्रम में अन्तर का चार्ट

श्री गौतमस्वामी आदि कृत (पाक्षिक प्रतिक्रमण, समयसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार)	**श्री उमास्वामी आचार्यकृत** (तत्त्वार्थसूत्र एवं टीकाग्रंथ)	**श्री नेमिचंद्र आचार्य कृत** (द्रव्यसंग्रह)
१. जीव	१. जीव	१. जीव
२. अजीव	२. अजीव	२. अजीव
३. पुण्य	३. आस्रव	३. आस्रव
४. पाप	४. बंध	४. बंध
५. आस्रव	५. संवर	५. संवर
६. संवर	६. निर्जरा	६. निर्जरा
७. निर्जरा	७. मोक्ष	७. मोक्ष
८. बंध	८. ०	८. पुण्य
९. मोक्ष	९. ०	९. पाप

प्रारम्भ के नव को तत्त्व व पदार्थ समयसार टीका में दोनों नाम आये हैं तत्त्वार्थसूत्र में टीकाकारों ने आस्रव में ही पुण्य-पाप को गर्भित किया है एवं द्रव्यसंग्रह में गाथा ३७ में मोक्षतत्त्व का वर्णन करके पुनः गाथा ३८ में पुण्य-पाप को लिया है।

अन्यत्र ग्रन्थों में श्री उमास्वामी के क्रमानुसार सात को तत्त्व कहकर पुण्य-पाप मिलाने से इन्हें नव पदार्थ संज्ञा दी है।

प्रातःकाल जिनमुखावलोकन

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय, दृष्टव्यमस्ति यद् मंगलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ! तवैव वक्त्रं, त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्।।१।।

''णिस्संकिय-णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।
अवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।।''

अमृतवर्षिणी टीका-

सम्यग्दृष्टि के आठ अंग

(१) निःशंकित अंग का लक्षण

जिनदेव प्ररूपित तत्त्व यही , है ऐसा ही है अन्य नहीं।
नहिं अन्य रूप हो सकता है, ऐसा अचलित श्रद्धान सहीत।।
ऐसी अकंप असिधारावत्, सन्मारग में संशय विरहित।
रुचि होती जब वो ही श्रद्धा, कहलाती अंग सुनिःशंकित।।

अर्थ—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य कुछ भी नहीं है और अन्य रूप भी नहीं है। तलवार की धार पर रखे हुए जल के सदृश ऐसा अचलित श्रद्धान करना और मोक्ष मार्ग में संशय रहित रुचि का होना निःशंकित अंग है।

(२) निःकांक्षित अंग का स्वरूप

जो सुख कर्मों के परवश हैं, और अन्त सहित क्षण भंगुर हैं।
दुःखों से व्यवहित हो जाते, औ पाप हेतु ये बीज कहें।।
जो ऐसे सांसारिक सुख की, काक्षा किंचित् नहिं करते हैं।
इस आस्था के श्रद्धानी जन, निःकांक्षित अंग को धरते हैं।।

अर्थ—जो सुख कर्मों के आधीन है, अन्त सहित है, दुःखों से मिश्रित है और पाप का बीज है ऐसे सांसारिक सुखों में नित्य बुद्धि से कांक्षा नहीं करना निःकांक्षित अंग है।

(३) निर्विचिकित्सा अंग की परिभाषा

नरतन स्वभाव से अशुचिरूप, मलमूत्रादिक का पिंड कहा।
यह रत्नत्रय गुण से पवित्र, हो जाता है आश्चर्य अहा।।
इस रत्नत्रय युत मुनि शरीर में ग्लानि जो नहिं करते हैं।
वे निर्विचिकित्सा अंग सहित, बस गुण में प्रीति धरते हैं।।

अर्थ—यह मानव शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है क्योंकि यह मल मूत्रादि का पिंड है। फिर भी यह रत्नत्रय गुण से पवित्र हो जाता है। अतः रत्नत्रय से युत मुनि के शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना और उनके गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है।

(४) अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण

मिथ्यात्व मार्ग दुःखों का पथ, इस मारग में जो चलते हैं।
उस कुपथ और कूपथिकों का, अनुमोदन कभी न करते हैं।।
नहिं उनका गुण कीर्तन करते, नहिं उनकी संगति करते हैं।
वे जन अमूढ़दृष्टि नामक सम्यक्त्व अंग को धरते हैं।।

अर्थ—मिथ्यात्व दुःखों का मार्ग है, इस मार्ग में चलने वाले भी दुःख पथ में ही चलते हैं। उन कुपथ और कुपथिकों को मन से सहमति नहीं देना शरीर से उनकी सराहना नहीं करना और वचनों से भी उनकी प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग है।

(५) उपगूहन अंग का लक्षण

यह मोक्षमार्ग है स्वयं शुद्ध जिनदेव कथित शाश्वत निश्चित।
बस बूढ़ अशक्त जनों से ही, हो जाता मलिन कभी किंचित्।।
उनके दोषों को जैसे हो, वैसे जननीवत ढकते हैं।
वे ही उपगूहन अंग सहित, सम्यक्दर्शन गुण लभते हैं।।

अर्थ—मोक्षमार्ग स्वयं शुद्ध है। मूढ़, अज्ञानी या असमर्थजनों के निमित्त से कभी इसमें कुछ दोष लग जाने से निंदा हो जाती है। सो जैसे बने वैसे माता के समान उनके दोषों को ढक देना उपगूहन अंग है।

(६) स्थितिकरण अंग की परिभाषा

यदि कोई सम्यग्दर्शन से, च्युत होते हों या चारित से।
जो धर्म प्रेमवश उनको फिर, उसमें वापस स्थिर करते।।
वे बुद्धिमान स्थितीकरण सम्यक्त्व अंग को भजते हैं।
वे ही अपनी आत्मा को भी निज में स्थिर कर सकते हैं।।

अर्थ—यदि कोई सम्यग्दर्शन से या सम्यक् चारित्र से च्युत हो रहा हो, तो धर्म प्रेमवश उसे वापस फिर उसी में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है। इस तरह स्थिर करने वाले बुद्धिमान पुरुष ही अपनी आत्मा में अपने को स्थिर कर लेते हैं।

(७) वात्सल्य अंग का लक्षण

सहधर्मी जन के प्रति नितप्रति, सद्भाव सहित प्रीती करते।
छल कपट रहित हो यथायोग्य, भक्ती विनयादिक भी करते।।

गोवत्स प्रीति सम सहज प्रीति करके वत्सल गुण धरते हैं।
वात्सल्य अंगधारी भविजन, ही धर्म प्रेम कर सकते हैं।।

अर्थ—सहधर्मीजनों के प्रति जो हमेशा ही छल कपट रहित होकर सद्भावना रखते हुए प्रीति करते हैं और यथायोग्य उनके प्रति विनय, भक्ति आदि भी करते हैं वे ही वात्सल्य अंग के धारी होते हैं।

(८) प्रभावना अंग का स्वरूप

अज्ञान अन्धेरा सब जग में, सब तरफ व्याप्त हो रहा अरे।
दृग होते भी अज्ञानी को, हा ! सचमुच अन्धे सदृश करे।।
जैसे हो वैसे उसे दूर कर, जो स्वधर्म विस्तरते हैं।
जिन शासन का माहात्म्य प्रकाशन कर प्रभावना करते हैं।।

अर्थ—अज्ञानरूपी अंधकार सर्व जगत में व्याप्त हो रहा है। जिससे नेत्र सहित भी अज्ञानी जीव अंधे के सदृश हो रहे हैं। जैसे होवे वैसे उस अज्ञान अंधकार को दूर कर अपने जैनधर्म के माहात्म्य का प्रकाश फैलाना प्रभावना अंग है।

(९) अंगहीन सम्यग्दर्शन की असमर्थता

इन आठ अंग में एक अंग भी, कम हो यदि तो वह सम्यक्।
भव संतति का छेदन करने में, नहिं समर्थ हो सकता सच।।
इक अक्षर से भी न्यून मंत्र, क्या विष की व्यथा मिटा सकता।
अतएव अंग वसु पूर्ण करो, तब दर्शन मुक्ति दिला सकता।।

अर्थ—इन आठ अंगों में से यदि एक अंग भी न हो तो वह सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा का नाश करने में समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि एक अक्षर से न्यून मंत्र क्या विष की वेदना को दूर कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, अतः उन आठ अंगों से पूर्ण ही सम्यक्त्व मुक्ति को प्राप्त कराने वाला है।

आठ अंग में प्रसिद्ध भव्यों की कथायें

(१) अंजन चोर की कथा (निःशंकित अंग में)

काश्मीर देश के अन्तर्गत विजयपुर के राजा अरिमंथन के ललितांग नाम का एक सुन्दर पुत्र था। इकलौता बेटा होने से माता–पिता के अत्यधिक लाड़–प्यार से वह विद्याध्ययन नहीं कर सका और दुर्व्यसनी बन गया। युवा होने पर प्रजा को अत्यधिक त्रास देने लगा, तब राजा ने उसे देश से निकाल दिया।

वह चोर–डाकुओं का सरदार बन गया और अंजनगुटिका विद्या सिद्ध करके दूसरों से अदृश्य होकर मनमाने अत्याचार करने लगा जिसके कारण अंजन चोर नाम से प्रसिद्ध हो गया।

किसी समय राजगृह नगर में रात्री में राजघराने से रत्नहार चुरा कर भागा। तब कोतवालों ने उसकी विद्या नष्ट करके उसका पीछा किया, वह श्मशान में पहुँच गया। वहाँ पर एक वट वृक्ष में सौ सींकों के एक छींके पर एक सेठ बैठा था। वह बार–बार चढ़–उतर रहा था। चोर ने पूछा, यह क्या है? सेठ ने कहा—"मुझे जिनदत्त सेठ ने आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने को दी है। किन्तु मुझे शंका है कि यदि विद्या सिद्ध नहीं हुई तो मैं नीचे शस्त्रों पर गिरकर मर जाऊंगा।"

अंजन चोर ने कहा—भाई ! तुम शीघ्र ही इसके सिद्ध करने का उपाय मुझे बता दो क्योंकि जिनदत्त सेठ मुनिभक्त हैं। उनके वचन कभी असत्य नहीं होंगे। सेठ ने विधिपूर्वक सब बता दिया। उसने शीघ्र ही ऊपर चढ़कर महामंत्र का स्मरण करते हुए एक साथ सभी डोरियाँ काट दी। नीचे गिरते हुए अंजन चोर को, बीच में ही आकाशगामिनी विद्या देवी ने आकर विमान में बैठा लिया और बोलीं—आज्ञा दीजिए मैं क्या करूं ? अंजन चोर ने कहा कि मुझे जिनदत्त सेठ के पास पहुँचा दो। विद्या देवता ने सुमेरु पर्वत पर पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर उसने, चैत्यालयों की वंदना करते हुए जिनदत्त से मिलकर नमस्कार करके, सारी बातें बता दीं।

अनंतर सम्पूर्ण पापों को छोड़कर देवर्षि नामक मुनिराज के पास दैगंबरी दीक्षा ले ली। तपश्चर्या के बल से चारण ऋद्धि प्राप्त कर ली। पुनः केवलज्ञान प्राप्त कर अन्त में कैलाश पर्वत से मोक्ष पधार गये। निःशंकित अंग के प्रभाव से अंजन निरंजन (सिद्ध) बन गये।

(२) अनंतमती की कथा (निःकांक्षित अंग में)

चम्पापुर के सेठ प्रियदत्त और सेठानी अंगवती के अनंतमती नाम की एक सुन्दर कन्या थी। एक समय आष्टान्हिक पर्व में सेठ ने धर्मकीर्ति मुनिराज के पास पत्नी सहित आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत

लिया। उसी समय विनोदवश अपनी पुत्री को भी ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया। युवावस्था में ब्याह के आयोजन में अनंतमती ने व्रतपालन की दृढ़ता रखते हुए ब्याह से इन्कार कर दिया।

किसी समय अनंतमती अपनी सहेलियों के साथ बगीचे में झूला झूल रही थी कि एक विद्याधर उसके रूप पर मुग्ध होकर उसको (अनंतमती को) लेकर भागा लेकिन अपनी पत्नी के आ जाने से वह अनंतमती को भयंकर वन में छोड़कर चला गया।

वन में भील ने उसे ले जाकर शील भंग करना चाहा, किन्तु वन देवी ने अनंतमती के शील की रक्षा की। पुनः इस भील ने अनंतमती को पुष्पक सेठ को सौंप दी। सेठ ने भी हार कर वेश्या को दे दी। वेश्या ने भी इसे सिंहाराज नृप को दे दिया। राजा ने भी जब इसका शील भंग करना चाहा तब पुनः वन देवी ने रक्षा की। अनंतर राजा ने इसे वन में भेज दिया। धीरे–धीरे अनंतमती अयोध्या में पद्मश्री आर्यिका के पाच पहुँच गयी। कुछ दिन बाद वहाँ पिता से मिलाप हुआ, किन्तु अनंतमती ने वापस घर न जाकर आर्यिका दीक्षा ले ली। तपश्चरण के प्रभाव से समाधिपूर्वक मरण करके वह बारहवें स्वर्ग में देव हो गयी।

(३) उद्दायन राजा की कथा (निर्विचिकित्सा अंग में)

वत्स देश के रौरवकपुर के राजा उद्दायन बहुत ही धर्मनिष्ठ थे। उनकी रानी का नाम प्रभावती था। एक समय सौधर्म इन्द्र ने अपनी सभा में सम्यक्त्व गुण का वर्णन करते हुए निर्विचिकित्सा अंग में राजा उद्दायन की बहुत ही प्रशंसा की। इस बात को सुनकर एक वासव नामक देव यहाँ परीक्षा के लिए आ गया। उसने कुष्ठ रोग से गलित अत्यन्त दुर्गन्धि युक्त दिगम्बर मुनि का रूप बना लिया और आहारार्थ निकल पड़ा।

उसकी दुर्गन्धि से तमाम श्रावक भाग खड़े हुए, किन्तु राजा उद्दायन ने रानी सहित उसे बड़ी भक्ति से पड़गाहन कर विविधत् आहार दान दिया। आहार के तत्काल बाद उस मायावी मुनि ने वमन कर दिया। उसकी दुर्गन्ध से सारे नौकर चाकर पलायमान हो गये, किन्तु राजा और रानी बड़ी विनय से मुनिराज की सुश्रूषा करते रहे तथा अपने दान की निन्दा करने लगे। तब देव ने प्रगट होकर राजा की स्तुति–भक्ति करते हुए सौधर्म इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा का हाल सुनाया। अनंतर स्वस्थान को चला गया।

कालांतर में राजा विरक्त होकर मुनि बन गये और कर्मनाश कर मोक्ष चले गये।

(४) रेवती रानी की कथा (अमूढ़दृष्टि अंग में)

दक्षिण मथुरा में दिगम्बर गुरु गुप्ताचार्य के पास क्षुल्लक चन्द्रप्रभ रहते थे। उन्होंने आकाशगामिनी आदि विद्या को नहीं छोड़ने से मुनिपद नहीं लिया था। एक दिन वे तीर्थ वंदना के लिए उत्तर मथुरा

आने लगे तब गुरु से आज्ञा लेकर पूछा—भगवन् ! किसी को कुछ कहना है ? गुरु ने कहा—वहाँ पर विराजमान सुव्रत मुनिराज को नमोऽस्तु और रेवती रानी को आशीर्वाद कहना। तीन बार पूछने पर भी गुरु ने यही कहा। तब क्षुल्लक महाराज वहाँ आकर सुव्रत मुनिराज को नमोऽस्तु कहकर, वहीं पर ठहरे हुए भव्यसेन मुनिराज के पास गये। उनकी चर्या को दूषित देखकर उनका अभव्यसेन नाम रखकर आ गये।

पुनः रेवती रानी की परीक्षा के लिए अपनी विद्या से पूर्व दिशा में ब्रह्म का रूप बनाया। सब नगरवासी आ गये किन्तु रानी नहीं आई। पुनः उसने दक्षिण दिशा में जाकर श्रीकृष्ण का रूप प्रकट किया, अनंतर पश्चिम दिशा में जाकर पार्वती सहित महादेव का रूप बनाया। इस पर भी रेवती रानी के नहीं आने पर क्षुल्लक ने विद्या के बल से उत्तर दिशा में अरिहंत भगवान का समवसरण तैयार कर दिया। तब राजा वरुण ने कहा–प्रिये ! अब तो चलो, जिनेन्द्र भगवान का समवसरण आया है। रानी ने कहा–राजन् ! चौबीस तीर्थंकर तो हो चुके अब पच्चीसवें कहां से आयें यह कोई मायावी का जाल है।

अनंतर क्षुल्लक विद्या के बल से रोगी क्षुल्लक बनकर रानी के यहाँ आये। रानी ने विनयपूर्वक सुश्रुषा आदि की और आहार दान दिया। क्षुल्ल्क ने वमन कर दिया। तब रानी ने भक्ति से सफाई आदि की। तब क्षुल्लक जी विद्या को समेट कर वास्तविक रूप में गुरु के आशीर्वाद को सुनाकर, रानी की प्रशंसा करते हुए चले गये।

(५) जिनेन्द्रभक्त सेठ की कथा (उपगूहन अंग में)

गौड़ देश के अन्तर्गत ताम्रलिप्ता नगरी में एक जिनेन्द्रभक्त सेठ रहते थे। उनके घर में सातवीं मंजिल पर पार्श्वनाथ चैत्यालय था जिसमें रत्नमयी प्रतिमा के ऊपर छत्र में बहुमूल्य वैडूर्यमणि रत्न लगा हुआ था। एक दिन चोरों के सरदार ने कहा कि सेठ के यहाँ का वैडूर्यमणि कौन ला सकता है ? उनमें से एक सूर्यक नाम के चोर ने हामी भर ली। पुनः वह चोर मायावी क्षुल्लक बनकर वहाँ पहुँच गया और खूब उपवास आदि करते हुए सेठ जी के चैत्यालय में रहने लगा। किसी समय सेठ जी धन कमाने के लिए बाहर जाने लगे तब क्षुल्लक जी की इच्छा न होते हुए भी उनको चैत्यालय की रक्षा का भार सौंप दिया। सेठ जी चले गये और उस दिन गांव के बाहर ही डेरा डाल दिया। इधर आधी रात में क्षुल्लक जी वैडूर्यमणि लेकर भागे। रत्न की चमक से नौकरों ने उनका पीछा किया तब वे दौड़ते हुए गांव के बाहर उन्हीं सेठ के डेरे में घुस गये।

चोर–चोर–चोर का हल्ला सुनते ही सेठजी ने क्षुल्लक जी को देखा, तब नौकर से बोले–अरे भाई ! मैने तो क्षुल्लक जी से यह रत्न यहाँ मंगवाया था, तुम लोग इन्हें चोर क्यों कह रहे हो ? बेचारे नौकर चुपचाप चले गये।

इसके बाद सेठ जी ने क्षुल्लक जी को खूब फटकारा और कहा–पापी तू धर्मात्मा बनकर ऐसा पाप करते हुए नरकों में जायेगा। पुनः रत्न लेकर उसे भगा दिया।

देखो ! यदि सेठ जी बात बनाकर उस क्षुल्लक के दोष को नहीं छिपाते तो नौकर, धर्म और धर्मात्माओं की हंसी उड़ाते। इसीलिए किसी के दोष को ढक लेना चाहिए और उसे एकान्त में सुधारने की कोशिश करनी चाहिए।

(६) मुनि वारिषेण की कथा (स्थितिकरण अंग में)

किसी समय वारिषेण मुनिराज पलासकूट ग्राम में आहारार्थ आए। मंत्रीपुत्र पुष्पडाल ने उन्हें आहार दिया और उनको पहुँचाने के लिए कुछ देर तक साथ चलने लगा। मुनिराज उसे अपने स्थान तक साथ ले आए। पुनः बचपन के मित्र होने से वैराग्य का उपदेश देकर दीक्षा दिला दी। किन्तु पुष्पडाल मुनिराज अपनी स्त्री को नहीं भुला सके। धीरे–धीरे बारह वर्ष बीत गये।

किसी समय ये दोनों साधु राजगृही आ गए। तब पुष्पडाल अपनी स्त्री से मिलने के लिए निकले। मुनिराज वारिषेण उनके अन्तरंग को समझकर साथ ही चल पड़े और वे सीधे अपने राजघराने में पहुँच गए। रानी चेलना ने वारिषेण पुत्र को घर आया देख कुछ शंकित होते हुए दो प्रकार के आसन लगा दिए। वारिषेण मुनिराज काष्ठासन पर बैठ गए और बोले माता ! सभी मेरी स्त्रियों को बुलाओ। वे सब आ गई, तब मुनिराज ने कहा–मित्र ! ये मेरी बत्तीस स्त्रियाँ हैं और यह वैभव है। तुम इसे ले लो, इसका उपभोग करो। उसी समय पुष्पडाल को वास्तविक वैराग्य हो गया।

उसने कहा—प्रभो ! आपने मोक्ष सुख के लिए इस अतुल वैभव को तृणवत् त्यागा है और मैं मूढ़ एक स्त्री के मोह को नहीं छोड़ सका। अनन्तर वन में पहुँचकर वारिषेण ने उन्हें यथोचित प्रायश्चित्त से शुद्धकर वापस मुनिपद में स्थिर कर दिया। तब पुष्पडाल ने भी घोर तपश्चरण करके अपने आपको पवित्र बना लिया।

(७) विष्णुकुमार मुनि की कथा (वात्सल्य अंग में)

हस्तिनापुर के राजा महापद्म अपने बड़े पुत्र पद्मराज को राज्य देकर, छोटे पुत्र विष्णुकुमार के पास मुनि हो गये। राजा पद्म के चार मंत्री थे—बलि, वृहस्पति, नमुचि और प्रहलाद।

किसी समय इन्होंने शत्रु राजा को जीतकर राजा पद्म से 'वर' प्राप्त किया था और उसे धरोहर रूप में राजा के पास रख दिया था। एक समय अकंपनाचार्य सात सौ मुनियों के साथ आकर वहां बगीचे में ठहर गये। मंत्री जिनधर्म के द्वेषी थे। उन्होंने राजा से अपना वर देने को कहा और उसमें सात दिन का राज्य मांग लिया। राजा को वर देना पड़ा। फिर क्या था, इन दुष्टों ने मुनियों को चारों तरफ से घेरकर बाहर से यज्ञ का बहाना करके आग लगा दी।

उधर मिथिलानगरी में रात्रि में श्रवण नक्षत्र कंपित होते देख श्रुतसागर आचार्य के मुख से हाहाकार शब्द निकला। पास में बैठे हुए क्षुल्लक जी ने सारी बात पूछी और उपसर्ग दूर होने का उपाय समझकर, धरणीभूषण पर्वत पर आए। वहाँ विष्णुकुमार मुनि से कहा—भगवन् ! आपको विक्रिया ऋद्धि है आप शीघ्र ही जाकर उपसर्ग दूर कीजिये।

मुनि विष्णुकुमार वहां आये और राजा पद्म से (भाई से) सारी बातें अवगत कर मुनिवेष छोड़कर बलि के पास वामन का रूप लेकर पहुँचे, जहाँ बलि राजा दान दे रहा था। बलि ने इनसे भी कुछ मांगने को कहा। वामन ने कहा—मुझे तीन पैर धरती दे दो। उसने कहा—आप अपने पैरों से ही नाप लें। बस ! वामन विष्णुकुमार ने अपनी विक्रिया से एक पैर सुमेरूपर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा। तीसरा पैर उठाया किन्तु उसके रखने को जगह ही नहीं थी। इतने में सर्वत्र हाहाकार मच गया, पृथ्वी कांप गई। देवों के विमान परस्पर में टकरा गये। चारों तरफ से क्षमा करो, क्षमा करो, ऐसी आवाज आने लगी।

देवों ने आकर बलि को बांधकर विष्णुकुमार मुनि की पूजा की और सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर किया। विष्णुकुमार मुनि ने मुनियों के प्रति वात्सल्य करके उनका उपकार किया। अन्त में जाकर प्रायश्चित्त आदि लेकर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया। उसी दिन से रक्षा की स्मृति में श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को प्रतिवर्ष रक्षाबंधन पर्व मनाया जाता है।

(८) वज्रकुमार मुनि की कथा (प्रभावना अंग में)

मथुरा के राजा पूतिगंध की दो रानियाँ थी। उर्विला रानी सम्यग्दृष्टि थी और दूसरी बुद्धदासी रानी बौद्ध धर्मानुयायी थी। हमेशा रानी उर्विला आष्टान्हिक पर्व में रथयात्रा करके धर्म प्रभावना करती थी।

एक बार बुद्धदासी ने कहा—महाराज ! पहले मेरा रथ निकलेगा। राजा ने मोहवश यह बात मान ली। तब रानी उर्विला ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और क्षत्रियगुफा में विराजमान सोमदत्त तथा वज्रकुमार मुनि के पास पहुँचकर प्रार्थना करे लगी–भगवन् ! धर्म की रक्षा कीजिए।

मुनिराज ने उसे आश्वासन दिया और उसी समय दर्शन के लिए आए हुए दिवाकरदेव आदि विद्याधरों को प्रेरणा दी। तब गुरु की आज्ञा से उन विद्याधरों ने रानी उर्विला के रथ में अरहंत भगवान की प्रतिमा विराजमान करके आकाश मार्ग से खूब प्रभावना पूर्वक विशेष जुलूस के साथ रथ निकाला।

इस अतिशय को देखकर राजा पूतिगंध, बुद्धदासी आदि सभी जैन बन गये। सर्वत्र जैनधर्म की जय जयकार हो गई। वज्रकुमार मुनि ने जैनधर्म की प्रभावना कराके अपने यश को अमर कर दिया।

''भयवदा महदि महावीरेण.....
पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि
वारसविहं गिहत्थधम्मं उवदेसियाणि।''

अमृतवर्षिणी टीका–

श्रावक के १२ व्रत

अणुव्रत का स्वरूप

हिंसा औ झूठ तथा चोरी, मैथुन परिग्रह ये पाँच कहे।
इन पापों का स्थूल त्याग, इसका ही अणुव्रत नाम रहे।।
जो अणुव्रत को धारण करते, वे देव गती ही पाते हैं।
नारक तिर्यंच मनुष गति में, अणुव्रत धारी नहिं जाते हैं।।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत है। जो अणुव्रतों को धारण करते हैं वे नियम से देवगति में ही जन्म लेते हैं। नरक तिर्यंच और मनुष्य गति में जन्म नहीं ले सकते हैं।।५२।।

पाँच अणुव्रत

(१) अहिंसा अणुव्रत का लक्षण

मन वचन काय को कृतकारित, अनुमति से गुणते नव होते।
नव कोटी से संकल्प सहित, त्रस का जो घात नहीं करते।।
स्थूलरूप त्रस हिंसा से, वे विरत हुये अणुव्रत धरते।
श्री गणधर देव उन्हीं के तो, श्रावक का पहला व्रत कहते।।

अर्थ—मन–वचन–काय को कृत–कारित–अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद होते हैं। जो इन नव कोटि से संकल्प पूर्वक त्रसजीवों की अहिंसा नहीं करते हैं। वे स्थूलरूप से त्रसहिंसा से विरत होने से अहिंसा अणुव्रती कहलाते हैं। गणधर देव इसे ही श्रावक का पहला व्रत कहते हैं।।५३।।

(२) सत्याणुव्रत का स्वरूप

स्थूल झूठ नहिं आप स्वयं, बोले नहिं पर से बुलवावे।
ऐसा भी सत्य न बोले जो, पर को विपदाकृत हो जावे।।
वह सत्य अणुव्रत को पाले, ऐसा गणधर मुनि कहते हैं।
इस सत्यव्रतिक को सभी लोग, विश्वास पात्र ही कहते हैं।।

अर्थ—स्थूल झूठ न स्वयं बोलना, न दूसरों से बुलवाना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जो दूसरों को विपत्ति देने वाला हो जावे, उसे गणधर देव सत्य अणुव्रत कहते हैं। जो मनुष्य सत्यव्रती होते हैं वे सभी के विश्वास पात्र रहते हैं।।५५।।

(३) अचौर्याणुव्रत का लक्षण

परकीय वस्तु जो रखी हुई, या गिरी पड़ी या भूली हो।
बिन दिये उसे नहिं खुद लेता, नहिं अन्य किसी को देता जो।।
वह ही अचौर्य अणुव्रत पाले, वह सब जन का विश्वासी हो।
पर धन के त्याग रूपव्रत से, वह नवनिधियों का स्वामी हो।।

अर्थ—पर की वस्तु रखी हुई, गिरी हुई या भूली हुई हो ऐसी पर वस्तु को बिना दिए न स्वयं लेना, न दूसरों को देना अचौर्य अणुव्रत कहलाता है। इस व्रत के धारी सर्वजन के विश्वासी होते हैं और पर धन त्याग व्रत के प्रभाव से वे नवनिधियों के भी स्वामी हो जाते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वरूप

जो पापभीरु हो पर महिला से, कामभोग नहिं स्वयं करे।
पर से दुश्चरित न करवावें, निज स्त्री में संतोष धरें।।
वे ही कुशील त्यागी नर हैं, वे शील धुरंधर व्रत धारें।
महिलायें भी पर पुरुष त्याग, करके दो कुल यश विस्तारें।।

अर्थ—जो पाप के डर से हर स्त्री के साथ काम भोग न स्वयं करते हैं न ऐसा दुष्चरित्र अन्य से ही करवाते हैं, अपनी स्त्री में ही संतोष रखते हैं वे कुशील त्यागी मनुष्य शीलधुरधंर व्रती ब्रह्मचर्य अणुव्रत के धारी होते हैं। ऐसे ही महिलायें भी परपुरुष के त्यागरूप व्रत का पालन करके अपने दोनों कुलों का यश फैलाने वाली होती है।

(५) परिग्रह परिमाण अणुव्रत का लक्षण

जो क्षेत्र वास्तु हीरण्य स्वर्ण, धन धान्य दास दासी होते।
औ कुप्य भांड ये दश परिग्रह, इनका जो परीमाण करते।।
फिर उससे अधिक नहीं चाहें, परिग्रह परिमाण व्रती वे हैं।
वे घर में रहकर संतोषी, अतएव सुखी भी वे ही हैं।।

अर्थ—खेत, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य, कपास वगैरह और भांड–बर्तन आदि इन दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करके फिर उससे अधिक नहीं चाहना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इस व्रत के धारी घर में रहकर ही संतोषी होते हैं अतः वे ही सुखी हैं।

पंचाणुव्रत धारण का फल

ये पांच अणुव्रत निधिस्वरूप, यदि निरतिचार पाले जाते।
नर पशु नरक गति से विरहित, निश्चित स्वर्गों में पहुँचाते।।
फिर वहां दिव्य वैक्रियिक काय, अणिमादि आठ ऋद्धी धरते।
अवधिज्ञानी सुर हो करके, बहुसागर तक सुख अनुभवते।।

अर्थ—निधिस्वरूप ये पांच अणुव्रत यदि निरतिचार पाले जाते हैं तो ये नरक, पशु और मनुष्य गति से रहित देवपद को प्राप्त कराते हैं। फिर वहां वे देव दिव्य वैक्रियिक शरीर, अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियां और अवधिज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं तथा कई सागर तक दिव्यसुखों का उपभोग करते हैं।

पंचाणुव्रतधारियों में जगत्प्रसिद्ध होने वालों के नाम

मातंग नाम चांडाल अहिंसा, अणुव्रत में सुरमान्य हुआ।
धनदेव सत्य में वारिषेण, अस्तेय अणुव्रतवान हुआ।।
नीली ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत, बल से सुर अतिशय प्राप्त किया।
औ जयकुमार ने परिग्रह का, परिमाण किया जगमान्य हुआ।।

अर्थ—अहिंसा अणुव्रत पालन कर यमपाल चांडाल देवों द्वारा मान्यता को प्राप्त हुआ है। सत्य अणुव्रत में धनदेव ने, अचौर्य अणुव्रत में वारिषेण ने नाम पाया है। नीलीसती ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालन कर देवों द्वारा अतिशय प्राप्त किया हैं और जयकुमार ने परिग्रह का परिमाण करके जगत में अपना नाम धन्य किया है।

पांच पापों में प्रसिद्ध व्यक्ति

हिंसा में धनश्री झूठ–कपट, में सत्यघोष बदनाम हुवा।
चोरी करके अपसर तपसी, निज तप को भी बदनाम किया।।
यमदण्ड नाम का कोतवाल, पर रमणी सेवन पाप किया।
श्मश्रुनवनीत सु लुब्धदत्त, परिग्रह से दुर्गतिवास किया।।

अर्थ—हिंसा पाप में धनश्री, झूठ में सत्यघोष पुरोहित बदनाम हुये हैं। चोरी पाप में अपसर नामा तापसी ने अपने तप को कलंकित किया है, यमदण्ड नामक कोतवाल ने परस्त्री सेवन के पाप से अपयश पाया है और श्मश्रुनवनीत इन उपनाम को धारण करने वाला लुब्धदत्त सेठ परिग्रह के पाप से दुर्गति में गया है।

तीन गुणव्रत

(१) दिग्विदिक् गुणव्रत का लक्षण

दिश विदिशा की मर्यादा कर, जीवन पर्यंत नियम कर ले।
इसके बाहर नहिं जाऊँगा ऐसा निश्चित जो प्रण कर ले।।
वह सूक्ष्म पाप से भी बचता, इस मर्यादा के बाहर में।
जो जन इस दिग्व्रत का धारी, वह शांति लाभ करता जग में।।

अर्थ—दशों दिशाओं की सीमा करके जीवन भर उसके बाहर नहीं जाना। मैं जीवन भर इस मर्यादा के बाहर नहीं जाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर लेना दिग्व्रत है। वह दिग्व्रती मर्यादा के बाहर में सूक्ष्म पाप से भी बच जाता है। अतः घर में रहते हुए भी शान्ति लाभ करता है।

(२) अनर्थदण्ड विरति गुणव्रत का स्वरूप

दश दिश में जो मर्यादा की, उसके ही अन्दर अन्दर में।
मन वच तन से जो पाप सदा, होते हैं बिना प्रयोजन में।।
उनका ही नाम अनर्थदण्ड, उनका जो रुचि से त्याग करें।
इसका ही अनर्थदण्ड विरति, व्रत इस विध श्रीगणधर उचरें।।

अर्थ—दशों दिशाओं में जो मर्यादा की है उसके भीतर–भीतर में बिना प्रयोजन ही मन–वचन–काय से जो पाप होते रहते हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं। उनका जो रुचि से त्याग करते हैं गणधरदेव उसे अनर्थदण्ड विरति व्रत कहते हैं।

(३) भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत का स्वरूप

परिग्रह परिमाण अणुव्रत में जीवनभर नियम किया जो भी।
उसके अन्दर पंचेन्द्रिय के, विषयों का नियम करो फिर भी।।
यह रागासक्ति घटाने के, हेतू व्रत ग्रहण किया जाता।
अतएव प्रयोजन है जितना, उतने को रख सब छुट जाता।।

अर्थ—परिग्रह परिमाण व्रत में जीवन भर के लिए जो नियम किया था, राग आसक्ति को घटाने के लिए उसी के भीतर भी पंचेन्द्रियों के विषयभूत वस्तुओं का नियम करते रहना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। इस व्रत के प्रयोजन से अतिरिक्त वस्तुओं का त्याग हो जाता है।

भोग और उपभोग के लक्षण

जो भोगे जाकर छुट जाते, वे भोग शब्द से कहलाते।
ये भोजन, गंध, माल्य आदी, जो पुनः भोग में नहिं आते।।

जिस वस्तु का नर भोग करे, औ पुनः भोगने में आवे।
ऐसे वस्त्राभूषण आदी, उपभोग नाम जग में पावे।।

अर्थ—जो एक बार भोगकर छोड़ दी जाती है वह भोग कहलाती है और जो भोगकर पुनः भोगने में आती है वह उपभोग है। जैसे, भोजन, गंध आदि भोग हैं और वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग हैं।

चार शिक्षाव्रत

(१) सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण

सामायिक हेतु समय निश्चित, करके पांचों ही पापों का।
मन वचनकाय कृतकारित, औ अनुमति से त्याग करें सबका।।
बस उसी काल में सामायिक, शिक्षाव्रत होता श्रावक को।
श्रीगणधर आदि महामुनिगण, प्रतिपादन करते हैं भवि को।।

अर्थ—सामायिक के लिए समय निश्चित करके पाँचों ही पापों का मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से त्याग कर देने से उसी काल में श्रावक को सामायिक शिक्षाव्रत होता है, ऐसा श्री गणधरदेव ने कहा है।।९७।।

(२) प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का लक्षण

जब अशन खाद्य और लेह्य पेय, चउविध अहार का त्याग करे।
उपवास यही और एक बार, भोजन प्रोषध यह नाम धरे।।
तेरस-पूनो एकाशन कर, चौदस का जब उपवास करे।
तब होता प्रोषधोपवासी, ऐसी विधि अष्टमी को भि करे।।

अर्थ—अशन, खाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना 'उपवास' है और एक बार भोजन करना 'प्रोषध' है। तेरस को एकाशन करके चौदस को उपवास, पुनः पूनो को एकाशन करना प्रोषधोपवास है, ऐसे ही अष्टमी के लिए समझना।

(३) अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रत का लक्षण

गुण के निधान मुनिराजों को, बस स्वपर धर्म की वृद्धि हेतु।
जो दान दिया जाता वह, अतिथी संविभाग व्रत है विशेष।।
यश मंत्र प्रती-उपकार आदि, से अनपेक्षित हो भक्ती से।
निज शक्ति विभव के अनूसार, उपकार करे गुरुभक्ती से।।

अर्थ—गुणों के निधान और तपरूपी धन को धारण करने वाले ऐसे मुनियों को धर्म के लिए जो दान देना वह अतिथि संविभाग व्रत है। यश, मंत्र आदि प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना अपने वैभव के अनुसार जो गृहत्यागी मुनियों की भक्ति और उनको दान आदि देना वही अतिथि संविभाग नामक शिक्षाव्रत है।

दान का लक्षण

पड़गाहन उच्चस्थान पाद, प्रक्षालन पूजन नमस्कार।
मन वचन काय शुद्धी भोजन, शुद्धी ये नवधा भक्तिसार।।
जो सात गुणों से युत श्रावक, रुचि से नवधाभक्ति पूर्वक।
देते संयमियों को अहार, उसको ही दान कहा गुणभृत्।।

अर्थ—पड़गाहन, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये नवधाभक्ति कहलाती है। श्रद्धा-तुष्टि-भक्ति-विज्ञान-अलोभ-क्षमा और सत्त्व इन सात गुणों से युक्त श्रावक मुनियों को नवधाभक्ति पूर्वक जो आहार देते हैं उसी का नाम दान है।

(४) सल्लेखना शिक्षाव्रत का लक्षण

जिसका प्रतिकार न हो सकता, ऐसा उपसर्ग यदी आवे।
ऐसा अकाल पड़ जावे या, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे।।
अथवा हो रोग असाध्य कठिन, जिससे नहिं धर्म की रक्षा है।
तब करिये सल्लेखना ग्रहण, जो धर्म हेतु तनु त्यजना है।।

अर्थ—जिसको किसी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता ऐसा उपसर्ग यदि आ जावे, ऐसा अकाल पड़ जावे, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे या कठिन असाध्य रोग हो जावे, ऐसे समय में धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है उसका नाम सल्लेखना है।

सल्लेखना की आवश्यकता

तप का फल यह ही है समझो, जब अंत समाधीमरण मिले।
ऐसा कहते सर्वज्ञदेव, इससे सब धार्मिक कार्य फलें।।
इसलिए सर्वशक्ती पूर्वक, भविजन समाधि के लिए सदा।
अतिशय प्रयत्न कर चौथा शिक्षाव्रत धारो गुरुवचन मुदा।।

अर्थ—सर्वज्ञदेव तप का फल अंत समय समाधिमरण की प्राप्ति को ही कहते हैं, क्योंकि समाधिमरण से ही सब धार्मिक कार्य फलित होते हैं, इसलिए सर्वशक्तिपूर्वक समाधिमरण के लिए सतत प्रयत्न करके चौथा शिक्षाव्रत धारण करना है।

श्रावक के १२ व्रतों में अणुव्रत सभी ग्रंथों में समान हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत में अन्तर हैं जिन्हें यहां चार्ट के माध्यम से दिखा रहे हैं–

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत में अन्तर

क्र.	ग्रंथ के नाम	रचयिता के नाम	तीन गुणव्रत	चार शिक्षाव्रत
१.	पाक्षिक प्रतिक्रमण	श्री गौतमस्वामी	१. दिग्विदिग्व्रत २. अनर्थदण्डविरति व्रत ३. भोगोपभोग परिमाण व्रत	१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. अतिथि संविभाग ४. सल्लेखना
२.	चारित्र पाहुड़	श्री कुंदकुंदस्वामी	१. दिग्विदिग्व्रत २. अनर्थदण्डत्याग व्रत ३. भोगोपभोग परिमाण व्रत	१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. अतिथि संविभाग ४. सल्लेखना
३.	उमास्वामी श्रावकाचार	आचार्य श्री उमास्वामी	१. दिग्व्रत २. अनर्थदण्डत्यागव्रत ३. भोगोपभोग परिमाण व्रत	१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. भोगोपभोग संख्यान ४. अतिथि संविभाग
४.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी	१. दिग्व्रत २. अनर्थदण्डविरति व्रत ३. भोगापभोग परिमाण व्रत	१. देशावकाशिक २. सामायिक ३. प्रोषधोपवास ४. वैय्यावृत्य
५.	प्राकृत भावसंग्रह	श्री देवसेन सूरि	१. दिग्व्रत २. अनर्थदण्डविरति व्रत ३. भोगोपभोग संख्यान	१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. अतिथि संविभाग ४. सल्लेखना
६.	वसुनन्दि श्रावकाचार	आ. श्री वसुनन्दि	१. दिग्व्रत २. देशव्रत ३. अनर्थदण्डत्यागव्रत	१. भोगविरति २. परिभोग निवृत्ति ३. अतिथि संविभाग ४. सल्लेखना
७.	चारित्रसार	श्री चामुण्डराय	१. दिग्विरति २. देशविरति ३. अनर्थदण्डविरति	१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. उपभोग परिभोग परिमाण ४. अतिथि संविभाग

नोट–श्री गौतमस्वामी, श्री कुंदकुंद स्वामी, श्री देवसेन सूरि के अनुसार ३ अणुव्रत, ४ शिक्षाव्रत में समानता है और अन्य आचार्यों के गुणव्रत, शिक्षाव्रत में अन्तर हैं।

पाँच अणुव्रत में प्रसिद्ध जनों की कथायें

(१) यमपाल चांडाल की कथा (अहिंसाणुव्रत में)

काशी के राजा पाक–शासन ने एक समय अपनी प्रजा को महामारी कष्ट से पीड़ित देखकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'नंदीश्वर पर्व में आठ दिन पर्यंत किसी जीव का वध न हो। इस राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला प्राणदण्ड का भागी होगा।' वहीं का धर्म नाम का एक सेठपुत्र राजा के बगीचे में जाकर राजा के खास मेढे को मारकर खा गया। जब राजा को इस घटना का पता चला तब उन्होंने उसे शूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया।

शूली पर चढ़ाने हेतु कोतवाल ने यमपाल चांडाल को बुलाने के लिए सिपाही भेजे। सिपाहियों को आते देखकर चांडाल ने अपनी स्त्री से कहा कि प्रिये ! मैंने सर्वोषधि ऋद्धिधारी दिगम्बर मुनिराज से जिनधर्म का पवित्र उपदेश सुनकर यह प्रतिज्ञा ली है कि मैं चतुर्दशी के दिन कभी जीव हिंसा नहीं करूंगा। अतः तुम इन नौकरों को कह देना कि मेरे पति दूसरे ग्राम गये हुए हैं। ऐसा कहकर वह एक तरफ छिप गया, किन्तु स्त्री ने लोभ में आकर हाथ से उस तरफ इशारा करते हुए ही कहा कि वे बाहर गये हैं। स्त्री के हाथ का इशारा पाकर सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और राजा के पास ले गये।

राजा के सामने भी यमपाल ने दृढ़तापूर्वक सेठपुत्र को मारने से इन्कार कर दिया। राजा ने क्रोध में आकर हिंसक सेठपुत्र और यमपाल चांडाल इन दोनों को ही मगरमच्छ से भरे हुए तालाब में डलवा दिया। उस समय पापी सेठपुत्र को तो जलचर जीवों ने खा लिया और यमपाल के व्रत के प्रभाव से देवों ने आकर उनकी रक्षा की। उसको सिंहासन पर बिठाया एवं उसका अभिषेक करके स्वर्गीय वस्त्र अलंकारों से उसे सम्मानित किया। राजा भी इस बात को सुनते ही वहां पर आये और यमपाल चांडाल का खूब सम्मान किया।

(२) धनदेव की कथा (सत्याणुव्रत में)

जिनदेव और धनदेव दो व्यापारियों ने यह निर्णय किया कि परदेश में धन कमाकर पुनः आधा–आधा बांट लेंगे। बाद में अधिक धन देखकर जिनदेव झूठ बोल गया। तब राजा ने न्याय करके सत्यवादी धनदेव को सारी सम्पत्ति दे दी और सभा में उसका सम्मान किया तथा जिनदेव को अपमानित करके देश से निकाल दिया। इसलिए हमेशा सत्य बोलना चाहिए।

(३) वारिषेण की कथा (अचौर्याणुव्रत में)

राजगृही के राजा श्रेणिक की रानी चेलना के सुपुत्र वारिषेण उत्तम श्रावक थे। एक बार चतुर्दशी को उपवास करके रात्री में श्मशान में नग्नरूप में खड़े होकर ध्यान कर रहे थे। इधर विद्युत चोर रात्री में रत्नहार चुराकर भागा। सिपाहियों ने पीछा किया। तब वह चोर भागते हुए वन में पहुँचा। वहाँ ध्यानस्थ वारिषेण कुमार के सामने हार डालकर आप छिप गया। नौकरों ने वारिषेण को चोर घोषित कर दिया। राजा ने भी बिना विचारे प्राण दण्ड की आज्ञा दे दी।

किन्तु धर्म का माहात्म्य देखिये। वारिषेण के गले पर चलाई गई तलवार फूलों की माला बन गई। आकाश से देवों ने जय–जयकार करके पुष्प बरसाये। राजा श्रेणिक ने यह सुनकर वहां आकर क्षमा याचना करते हुए अपने पुत्र से घर चलने को कहा। किन्तु वारिषेण कुमार ने पिता को सांत्वना देकर कहा कि अब मैं करपात्र में ही आहार करूंगा। अनन्तर सूरसेन मुनिराज के पास दिगम्बर दीक्षा ले ली। इसलिए अचौर्यव्रत का सदा पालन करना चाहिए।

(४) सती नीली की कथा (ब्रह्मचर्याणुव्रत में)

ललाट देश के भृगुकच्छ नगर में जिनदत्त सेठ की पुत्री नीली सौंदर्य और गुणों से प्रसिद्ध थी। एक दिन सागरदत्त नामक एक वैश्य पुत्र ने उसे देखकर मुग्ध हो उसके साथ विवाह करना चाहा। पिता के द्वारा विदित होने पर कि यह जिनदत्त अपनी कन्या जैन को ही देगा। तब पिता पुत्र दोनों ही स्वार्थवश जैन बन गये। नीली का विवाह कर पुनः वे बुद्धभक्त हो गये। वे दोनों नीली को भी जैनधर्म से च्युत कर बौद्धधर्मी बनाना चाहते थे। अतः बार–बार वे नीली को प्रेरणा दिया करते थे। एक दिन श्वसुर समुद्रदत्त ने बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराने के लिये नीली से कहा। उसने उन्हें उन्हीं के जूते का चूर्ण कर भोजन में मिलाकर उन्हें खिला दिया। जब उन साधुओं के वमन करने से भेद खुला तब नीली के श्वसुर और ननद आदि उस पर कुपित हुये। समय पाकर नीली की ननद ने नीली पर व्यभिचार का आरोप लगा दिया। तब नीली ने चतुराहार त्याग कर मन्दिर में कायोत्सर्ग धारण कर लिया।

उसके शील के प्रभाव से नगर–देवता ने शहर के मुख्य–मुख्य फाटक कीलित कर दिये और स्वप्न दे दिया कि 'महाशीलवती' महिला के चरण स्पर्श से ये फाटक खुलेंगे। अन्त में नीली ने अपने बांये पैर के अंगूठे के स्पर्श से उन कीलित किवाड़ों को खोलकर राजा, प्रजा आदि सभी से सम्मान प्राप्त किया और शील की महिमा को प्रगट किया।

(५) जयकुमार की कथा (परिग्रह प्रमाण अणुव्रत में)

हस्तिनापुर के राजा जयकुमार परिग्रह का प्रमाण कर चुके थे। एक बार सौधर्म इन्द्र ने स्वर्ग में जयकुमार के व्रत की प्रशंसा की। इस बात की परीक्षा के लिये वहाँ से एक देव ने आकर स्त्री का रूप धारण कर जयकुमार के पास अपनी स्वीकृति करने हेतु प्रार्थना की और विद्याधर के राज्य का प्रलोभन दिया। जयकुमार ने अपने व्रत की दृढ़ता रखते हुए सर्वथा उपेक्षा कर दी। तब इसने अनेक उपसर्ग किये और कहा कि आप विद्याधर का राज्य और अपना जीवन चाहते हैं तो मुझे स्वीकार करो। किन्तु जयकुमार की निस्पृहता को देखकर देव अपने रूप को प्रकट कर जयकुमार की स्तुति करके स्वर्ग की सारी बातें सुनाकर चला गया। अतः परिग्रह का प्रमाण अवश्य करना चाहिये।

पांच पाप में प्रसिद्ध जनों की कथायें

(१) धनश्री की कथा (हिंसा पाप में)

ललाट देश में भृगुकच्छ नाम का नगर है। वहाँ पर लोकपाल राजा राज्य करता था। वहीं पर धनपाल नामक वैश्य की पत्नी का नाम धनश्री था। उसके एक गुणपाल और एक सुन्दरी पुत्री ऐसे दो संतान थी। धनश्री ने कुंडल नाम के एक वैश्य पुत्र को, पुत्र के सदृश पालन–पोषण कर बड़ा किया था। पति धनपाल के मर जाने के बाद धनश्री उस कुंडल में आसक्त हो गई। 'गुणपाल पुत्र ने मेरा दुराचार जान लिया है', ऐसा समझकर उसने रात्रि में कुंडल से कहा कि प्रातः गुणपाल गाय चराने जाये तब उसे तुम मार डालना। यह बात सुन्दरी पुत्री ने सुन ली। उसने पिछली रात्रि में अपने भाई को सब हाल बता दिया। गुणपाल प्रातः गायों को लेकर वन में गया तब उसने एक लकड़ी को अपना वस्त्र उढ़ा दिया और आप झाड़ के नीचे छिप गया। जब कुंडल ने आकर उस लकड़ी पर वार किया कि गुणपाल ने पीछे से आकर उसे पकड़ कर उसके हाथ से तलवार छीन ली और उस कुंडल को मार डाला।

घर आने पर माता के द्वारा कुंडल कहां है ? ऐसा पूछा जाने पर तलवार दिखायी कि इसे पता है। माता ने कुपित होकर पुत्र के हाथ से शस्त्र छीन कर उसे मार डाला। पुत्री सुन्दरी ऐसा दृश्य देख चिल्लाई, तब कोतवाल ने आकर धनश्री को बांध लिया और राजा के समक्ष ले गये। राजा ने उसके कान, नाक आदि कटवा कर उसे गधे पर चढ़ाकर शहर से बाहर निकाल दिया। धनश्री इस दुर्दशा को प्राप्त कर हिंसा के पाप से क्रूर परिणामों से मरकर दुर्गति में चली गई।

(२) सत्यघोष की कथा (झूठ पाप में)

भरत क्षेत्र के सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम रामदत्ता था और पुरोहित का नाम श्रीभूति थी। वह पुरोहित अपनी जनेऊ में एक कैंची बांधे रखता था और लोगों से कहता था कि 'यदि मेरी जिह्वा झूठ बोल दे तो मैं उसको काट डालूं।' लोग विश्वास के साथ उसके पास अपना धन धरोहर में रखा करते थे और वह कुछ देकर बहुत कुछ हड़प लेता था। किन्तु लोग कुछ कह नहीं पाते थे और उसका नाम सत्यघोष प्रसिद्ध हो गया था। एक समय एक समुद्रदत्त व्यापारी वहां आकर उसके पास बहुकीमती पांच रत्न रखकर जहाज से समुद्र के पार द्रव्य कमाने चला गया। जब वह बहुत धन कमाकर वापस आ रहा था कि जहाज के डूब जाने से जैसे–तैसे प्राण बचाकर आ पाया। तब उसने सत्यघोष से अपने रत्न मांगे। उसने कहा कि यह पागल है मुझे झूठा बताता है, इसे बाहर कर दो। वह बेचारा समुद्रदत्त पागलवत् होकर रानी के महल के पास के वृक्ष पर

चढ़कर पिछली रात्रि में जोर–जोर से चिल्लाता रहता था कि मेरे पांच रत्न सत्यघोष ने हड़प लिये हैं नहीं देता है। मेरा न्याय करो।' लगभग छह महीने ऐसा बोलते सुनकर रानी ने कहा–राजन्! यह पागल नहीं है इसके भेद का पता लगाने के लिये आप मुझे आज्ञा दीजिये।

राजा की आज्ञानुसार रानी ने उस पुरोहित के साथ जुआ खेलकर उसकी अंगूठी और जनेऊ जीतकर–दासी के हाथ से उसकी पत्नी के पास भेजकर, वे पांचों रत्न मंगा लिये। सुबह राजा ने अपने रत्नों में उन्हें मिलाकर उस पागल सदृश समुद्रदत्त को अपने रत्न पहचानने को कहा। उसने उन सभी में से आपके रत्न पहचान लिये। तब राजा ने पुरोहित के लिये तीन दण्ड निर्धारित किये। तीन थाली गोबर खाना, मल्लों की मुक्कियाँ खाना अथवा सब धन दे देना। उसने क्रम से तीनों दण्ड भोगे और अन्त में दुर्ध्यान से मरकर राजा के भंडार पर सर्प हो गया। वहां से भी मरकर बहुत काल तक दुर्गति में भ्रमण करता रहा।

(३) अपसर तापसी की कथा (चोरी पाप में)

कौशांबी पुरी के राजा सिंहरथ की रानी का नाम विजया था। वहां पर एक तपस्वी था जो भूमि का स्पर्श न करते हुये छींके पर बैठकर पंचाग्नि तप करता रहता था। उस नगर में प्रतिदिन बहुत चोरियाँ हो रही थीं। एक कुशल ब्राह्मण एक समय सायंकाल में उस तपस्वी के आश्रम में पहुंच गया। बहुत कुछ मना करने पर भी, उसने कहा मैं अंधा हूँ। लोगों ने उसे रात्रि में रहने दिया। तब उसने रात्रि में देखा कि यह तापसी गांव में जाकर अपने साथियों के साथ चोरी करके बहुत सा धन लाया और गुफा में एक गहरा कुंआ बना रखा था, उसमें सब धन रख रहा था। प्रातः उस ब्राह्मण ने यह सारी घटना कोतवाल को सुना दी। कोतवाल ने उस तापसी को पकड़कर चोर घोषित कर राजा के द्वारा दण्डित कराया।

(४) यमदण्ड की कथा (कुशील पाप में)

नाशिक नामक नगर में कनकरथ राजा की रानी का नाम कनकमाला था। कोतवाल का नाम यमदण्ड था। उसकी माता व्यभिचारिणी थी। एक बार यह माता यमदण्ड की पत्नी अर्थात् अपनी पुत्र बहू के वस्त्राभूषण लेकर, कहीं एकांत स्थान में किसी संकेतित जार के लिये पहुँची। दैवयोग से यह यमदण्ड रात्रि में वहां पहुंचा। उस माता ने रात्रि में उसे न पहचान कर उसके साथ व्यभिचार किया और अपने पास के वस्त्राभूषण उसे दे दिए। उसने दिवस में घर आकर वे वस्त्राभूषण अपनी स्त्री को दे दिये। तब स्त्री ने उससे कहा कि मैंने यह सब सासु को दिये थे। यमदंड ने समझ लिया कि जिसके साथ मैंने व्यभिचार किया है वह मेरी माँ है। फिर भी वह विरक्त न होकर प्रतिदिन रात्रि में वहीं जाकर उसके साथ कुकृत्य करता रहा। यमदण्ड की पत्नी के द्वारा यह समाचार धोबिन को मिला, उसने

मालिन को कहा और मालिन ने रानी से बताया। रानी ने राजा से कहकर गुप्तचर से इसका पता लगाकर उसे दण्डित किया। जिससे वह मरकर दुर्गति में चला गया।

(५) श्मश्रुनवनीत की कथा (परिग्रह पाप में)

अयोध्या में भवदत्त सेठ के पुत्र का नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह व्यापार के लिए विदेश में गया। बहुत धन कमाकर आ गया था कि मार्ग में उसे चोर डाकुओं ने लूट लिया। तब वह अति निर्धन होकर भटक रहा था। एक जगह पीने के लिए तक्र मांगा। पीने के बाद उसकी मूंछों में कुछ मक्खन लग गया। उस मक्खन को निकाल कर उसने एक पात्र में रख लिया, ऐसे ही वह प्रतिदिन मूंछों में लगा मक्खन निकाल कर संचित करता रहा। तभी से उसका नाम श्मश्रुनवनीत हो गया। जब एक सेर प्रमाण घी हो गया तब उसने उस घी को घड़े में भरकर और उसे पैर के पास रखकर लेट गया। सर्दी का दिन था। अग्नि को भी पास में ही रखकर लेटा था और सोच रहा था कि इस घी को बेचकर मैं बहुत सा धन प्राप्त करुंगा और धीरे–धीरे अच्छा व्यापारी बनकर मंत्री, महामंत्री बन जाऊंगा। पुनः राजा बन जाऊंगा। पुनः क्रम से चक्रवर्ती बन जाऊंगा। सात तल के राजभवन में शयन करूंगा। मेरी पटरानी मेरे पैर दबायेगी, पादमर्दन करना ठीक से नहीं आयेगा तब मैं उसे प्रेम से पैर से ताड़ित करूंगा। ऐसा सोचते–सोचते वह लुब्धदत्त दरिद्री अपने आपको चक्रवर्ती समझते हुए पैर ऊपर उठाकर पटक देता है कि उसका पैर घी के घड़े में लग जाता है। फिर क्या था, घी उलट गया और पास रखी हुई अग्नि में पड़ गया। उस भभकती अग्नि से निकल नहीं सका तब स्वयं भी जल कर मर गया और परिग्रह की अति आसक्ति से मरकर दुर्गति में चला गया।

धर्म एक सर्वश्रेष्ठ समुद्र है

चारुगुणसलिलपउरं संजमउत्तुंगउम्मिसंघायं।
णिम्मलतवपायालं समिदि महामच्छ संछण्ण।।
जमणियमदीवपउरं वरगुत्तिगंभीर सीलमज्जादं।
णिव्वाणरयणणिवहं धम्मसमुद्दं णमंसामि।।

अर्थ–सुन्दर गुणों रूप जल की प्रचुरता से संयुक्त, संयम रूप उन्नत ऊर्मि समूहों से सहित, निर्मल तपरूप पातालों से परिपूर्ण, समितियों रूपी महामत्स्यों से व्याप्त, यम-नियम रूप प्रचुर द्वीपों (जलजन्तु विशेषों) से संयुक्त, श्रेष्ठ गुप्तियों एवं गंभीर शीलरूप मर्यादा से सहित और निर्वाणरूप रत्नसमूह से सम्पन्न ऐसे धर्मरूप समुद्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

–जम्बूद्वीपपण्णत्ति-आचार्य पद्मनंदि

''तत्थ पढमे सामाइयं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

यहां विशेष अर्थ का विवेचन करते हैं—

प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत—

श्रावकों को प्रातःकाल देवपूजापूर्वक सामायिक करना चाहिये।

देवपूजा सहित सामायिक—

पूजामुख विधि करके विधिवत् पंचामृत अभिषेक करे, अनंतर नवदेवता पूजा आदि पूजायें करके पूजा अन्त्यविधि करे। यही श्रावक–श्राविकाओं की प्रातःकालीन सामायिक है। भावसंग्रह (संस्कृत) ग्रंथ में यही विधि बतलाई गई है। वह श्रावकों के सामायिक के प्रकरण में ली गई है और वहाँ एक पंक्ति आई है कि–

''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।''

देवपूजा के बिना श्रावकों की सामायिक क्रिया दूर ही है अर्थात् पूर्ण नहीं होती है। अतः इस विधि के अनुसार पूजा करके सामायिक कर सकते हैं।

''तदिये अतिथिसंविभागो।''

अमृतवर्षिणी टीका–

तृतीय अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत—

यहां विशेष अर्थ का विवेचन करते हैं—

तृतीय अतिथिसंविभागव्रत में दान के चार भेद माने हैं—

आहार दान औषधी दान, और शास्त्रदान आवास दान।
ये अतिथी संविभाग व्रत के, चउ भेदरूप हैं चार दान।।
प्रासुक भोजन औषधियों से, श्रावकजन मुनि को स्वस्थ करे।
पिच्छी शास्त्रादी दे उनको, वसती दे निज को धन्य करें।।

अर्थ—आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान अतिथिसंविभाग व्रत के ये चार भेद कहे हैं श्रावक मुनि को प्रासुक भोजन और शुद्ध औषधियों को देकर स्वस्थ करें तथा पिच्छी कमंडलु, शास्त्र आदि देकर व वसतिका देकर अपने जीवन को धन्य कर लेवें।

चार दान में प्रसिद्धजनों की कथायें–

(१) राजा श्रीषेण की कथा (आहार दान में)

रत्नपुर नगर के राजा श्रीषेण अपनी रानी सिंहनंदिता और अनिंदिता के साथ सुखपूर्वक राज्य संचालन कर रहे थे। उनके इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन दो पुत्र थे। किसी एक दिन राजा ने घर पर आये हुए आदित्यगति और अरिञ्जय नाम के दो चारण मुनियों का पड़गाहन कर उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दान दिया। पात्र विशेष होने से देवों ने पंचाश्चर्य वृष्टि की। राजा ने उस आहार दान के प्रभाव से उत्तरकुरु के उत्तम भोगभूमि की आयु बांध ली। किसी समय अनन्तमती नाम की एक साधारण महिला के लिये इन्द्रसेन ओर उपेन्द्रसेन दोनों भाई आपस में युद्ध करने लगे। राजा के रोकने पर भी वे नहीं माने तब राजा ने दुःखी होकर विषपुष्प सूंघ कर मरण प्राप्त कर लिया। किन्तु पूर्व के आहारदान के प्रभाव से वे उत्तरकुरु भोगभूमि में चले गये। कालांतर में यही श्रीषेण सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ और पांचवे चक्रवर्ती हुये हैं।

(२) वृषभसेना की कथा (औषधि दान में)

किसी समय मुनिदत्त योगिराज महल के पास एक गढ्ढे में ध्यान में लीन थे। नौकरानी ने उन्हें हटाना चाहा। जब वे नहीं उठे तब उसने सारा कचरा इकट्ठा करके मुनि पर डाल दिया। प्रातः राजा ने वहां से मुनि को निकाल कर विनय से सेवा की। उस समय नौकरानी नागश्री ने भी पश्चात्ताप करके मुनि के कष्ट को दूर करने हेतु उनकी औषधि की और मुनि की भरपूर सेवा की। अन्त में मरकर यह वृषभसेना हुई, जिसके स्नान के जल से सभी प्रकार के रोग और विष नष्ट हो जाते थे। आगे चलकर वह राजा उग्रसेन की पट्टरानी हो गई। किसी समय रानी के शील में आशंका होने से राजा ने उसे समुद्र में गिरवा दिया। किन्तु रानी के शील के माहात्म्य से देवों ने सिंहासन पर बिठाकर उसकी पूजा की।

(३) कौंडेश की कथा (ज्ञानदान में)

कुरुमरी गांव के एक ग्वाले ने एक बार जंगल में वृक्ष की कोटर में एक जैन ग्रन्थ देखा। उसे घर ले जाकर उसकी खूब पूजा करने लगा। एक दिन मुनिराज को उसने वह ग्रन्थ दान में दे दिया। वह ग्वाला मर कर उसी गांव के चौधरी का पुत्र हो गया। एक दिन उन्हीं मुनि को देखकर जातिस्मरण हो जाने से उन्हीं से दीक्षित होकर मुनि हो गया। कालांतर में वह जीव राजा कौंडेश हो गया। राज्य सुखों को भोगकर राजा ने मुनि दीक्षा ले ली। ग्वाले के जन्म से जो शास्त्र दान किया था उसके प्रभाव से वे

मुनिराज थोड़े ही दिनों में द्वादशांग के पारगामी श्रुतकेवली हो गये। वे केवली होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसलिए ज्ञानदान सदा ही देना चाहिए।

(४) सूकर की कथा (अभयदान में)

एक गांव में एक कुम्हार और नाई ने मिलकर एक धर्मशाला बनवाई। कुम्हार ने एक दिन एक मुनिराज को लाकर धर्मशाला में ठहरा दिया। तब नाई ने दूसरे दिन मुनि को निकाल कर एक संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। इस निमित्त से दोनों लड़कर मरे और कुम्हार का जीव सूकर हो गया तथा नाई का जीव व्याघ्र हो गया।

एक बार जंगल की गुफा में मुनिराज विराजमान थे। पूर्व संस्कार से वह व्याघ्र उन्हें खाने को आया और सूकर ने उन्हें बचाना चाह। दोनों लड़ते हुए मर गये। सूकर के भाव मुनि रक्षा के थे, अतः वह मरकर देवगति को प्राप्त हो गया और व्याघ्र हिंसा के भाव से मरकर नरक में चला गया।

स्वाध्याय का माहात्म्य

निरस्त सर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।
प्ररूढजन्मांकुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योगः।।
गुणाः पवित्राः शमसंयमाय्य विबोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति।
कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूल बंधाः।।

अर्थ–जिस स्वाध्याय के द्वारा प्राणीवर्ग की समस्त इन्द्रियों और कषायों को प्रवृत्ति से रहित किया जाता है और जो बढ़ते हुए भवांकुर के सुखाने के लिए सूर्य सदृश है, ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई योग–ध्यान नहीं है अर्थात् स्वाध्याय करते समय पाँचों इन्द्रियों का अशुभ व्यापार छूट जाता है और कषायों की प्रवृत्ति भी नहीं दिखती है, मन केवल अर्थ के चिन्तन में शांत रहता है तथा संसार की परम्परा घट जाती है। आज के युग में इस स्वाध्याय के अतिरिक्त और ध्यान क्या किया जा सकता है?

कषायों की मंदतारूप प्रशम भाव और संयम आदि जितने भी पवित्र गुण हैं वे सब यदि ज्ञान से रहित हैं तो क्षणमात्र में चलायमान हो जाते हैं। जिन वृक्षों का मूल जड़–बंधन विनष्ट हो गया है, ऐसे पत्र, पुष्पों से परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खड़े रह सकते हैं? अर्थात् जैसे जड़ के उखड़ जाने से हरे-भरे वृक्ष भी गिर जाते हैं वैसे ही ज्ञान के बिना शम-संयम आदि गुण अधिक काल नहीं टिक पाते हैं। इसलिए सतत ही जैन आगम का स्वाध्याय करना चाहिए।

–श्री अमितगतिसूरि

''महु–मंस–मज्ज–जूआ, वेसादिविवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वयजुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।''

अमृतवर्षिणी टीका—

श्रावक के अष्टमूलगुण एवं सप्तव्यसन त्याग का वर्णन—

अर्थ—मधु, मांस, मद्य, जुआ और वेश्या आदि व्यसन, इनको त्याग करने वाला, पाँचों अणुव्रतों से युक्त तथा सात शिक्षाव्रतों से परिपूर्ण गृहस्थ होता है।

मधु, मांस और मद्य का त्याग करना। दर्शन प्रतिमा के लक्षण में पंच उदुंबर फलों का त्याग करना भी कहा है। ये ही तीन मद्य, मांस, मधु एवं पंच उदुंबर फलों का त्याग करना ही श्रावकों के लिये प्रारंभ में आठ मूलगुण कहलाते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है—

हिंसा त्याग करने की कामना वाले पुरुषों को प्रथम ही यत्नपूर्वक शराब, मांस, शहद और ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकर ये पाँचों उदुम्बर फल छोड़ देने चाहिए।।६१।।

ऊमर, कठूमर अर्थात् अंजीर, पाकर, बड़ और पीपल के फल त्रस जीवों की योनि या खानि हैं, इस कारण उनके भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।।।७२।।

पुनश्च कहते हैं–

अष्टावनिष्टदुस्तर–दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः[1]।।७४।।

दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थान इन आठ पदार्थों को परित्याग करके निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

रात्रिभोजन त्यागव्रत—

रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित अर्थात् जिसका निवारण न हो सके, ऐसी होती है, इसलिए हिंसा के त्यागियों को रात्रि में भोजन करना भी त्याग करना चाहिए।।१२९।।

अन्य श्रावकाचारों में भिन्न–भिन्न प्रकार से भी आठ मूलगुण कहे हैं–१. मद्यत्याग, २. मांस त्याग, ३. मधु त्याग, ४. रात्रि भोजन त्याग, ५. पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, ६. जीव दया का पालन करना, ७. जल छानकर पीना और ८. पंच परमेष्ठी को नमस्कार करना। ये आठ मूलगुण हैं। जो गुणों

---

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ के ये 61, 72, 74 व 129 श्लोक के अर्थ हैं।

में मूल हैं उन्हें मूलगुण कहते हैं, जैसे—मूल (जड़) के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है, वैसे ही इन आठ मूलगुणों के बिना श्रावक नहीं कहला सकता है।

इसमें रात्रिभोजन त्याग, जीवदया का पालन, पानी छानकर पीना और देवदर्शन करना ये प्रारंभिक श्रावक—पाक्षिक श्रावक के नियम में भी आ जाते हैं।

इसी प्रकार सात व्यसन का त्याग भी श्रावकों के लिये अनिवार्य है। **''जूआ वेसादि विवज्जनासीलो''** वाक्य से सप्तव्यसन का त्याग आ जाता है।

१. जुआ खेलना, २. मांस खाना, ३. मदिरा पीना, ४. वेश्या सेवन करना, ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना और ७. परस्त्री सेवन करना, ये सात व्यसन हैं।

इन सातों व्यसनों का त्याग करना चाहिये।

इसी गाथा में तृतीय और चतुर्थ चरण में है–

''पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।''

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम श्रावक मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग करे, सात व्यसनों का त्याग करे। पुनश्च–

पाँच अणुव्रत धारण एवं सात व्रतों का ग्रहण—

पांच अणुव्रत धारण करें एवं तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत इन सात व्रतों को ग्रहण करें।

वर्तमान में भी जैन गृहों में यही परम्परा देखी जा रही है। सर्वप्रथम सवा महीने या डेढ़ महीने के बालक को मंदिर में ले जाकर साधु–साध्वी या विद्वानों से बालक को आठ मूलगुण दिलाये जाते हैं। अर्थात् प्रसूता महिला को नवजात बालक सहित जब प्रथम बार ४० या ४५ दिन के बाद जिनमंदिर में ले जाते हैं तब सर्वप्रथम बालक के कान में महामंत्र—णमोकार मंत्र सुनाकर उसे मद्य, मांस, मधु आदि आठ वस्तुओं का त्याग देते हैं एवं आठ वर्ष तक उसके पालन कराने की जिम्मेदारी माता को देकर बालक को 'जैन' बनाते हैं। पश्चात् आठ वर्ष के बाद पांच अणुव्रत आदि देने की परम्परा है।

सात क्षेत्र में धन का सदुपयोग

चैत्ये चैत्यालये शास्त्रे चतुःसंघेषु सप्तसु।
सुक्षेत्रेषु व्ययः कार्यो नो चेल्लक्ष्मीर्निरर्थिका।।

अर्थ-जिन प्रतिमा के बनवाने में, जिनमंदिर के निर्माण कराने में, शास्त्रों के लिखवाने या जीर्णोद्धार कराने में तथा मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका इन चतुर्विध संघ में दान देने में इन सात स्थानों में श्रावकगण अपनी लक्ष्मी का व्यय करें, वरना उनकी लक्ष्मी व्यर्थ है, निरर्थक है।

''जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा ''अट्ठदह'' भवण–वासिय–वाणविंतर–जोइसिय–सोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्त–उवरिम–अण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उव्वज्जंति।''

अमृतवर्षिणी टीका–

व्रती श्रावक कहाँ–कहाँ जन्म नहीं लेते ?

जो इन व्रतों को श्रावक–श्राविकायें व क्षुल्लक–क्षुल्लिकायें धारण करते हैं। 'अट्ठदह' का अर्थ स्पष्ट नहीं है अथवा पहले विशेषार्थ में मैंने संभावित–संघ परम्परा में मान्य अर्थ दिया है। वे उन अठारह स्थानों में तथा भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिषी देवों तथा सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। वे ऊपर के सौधर्म आदि से लेकर सोलह स्वर्ग तक के देवों में—महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

यहां जो सौधर्म व ईशान स्वर्ग की देवियों का वर्णन है उसका स्पष्टीकरण यह है कि सम्यग्दृष्टी श्रावक या श्राविकायें स्वर्ग में स्त्री पर्याय में—देवियों में जन्म नहीं लेते हैं।

देवियों की उत्पत्ति सौधर्म–ईशान स्वर्ग तक ही होती है। आगे के सोलह स्वर्गों तक के देव–इंद्र आदि अपनी–अपनी नियोगिनी देवियों की उत्पत्ति जानकर उन्हें अपने–अपने स्वर्गों में ले जाते हैं। इसलिये यह समझना कि–सोलह स्वर्गों तक की भी देवियों में सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि जन्म नहीं लेते हैं।

देवियों की उत्पत्ति के स्थान—

दक्खिणउत्तरदेवी सोहम्मीसाण एव जायंते।
तहिं सुद्धदेविसहिया छच्चउलक्खं विमाणाणं।।५२४।।
तद्देवीओ पच्छा उवरिमदेवा णयंति सगठाणं।
सेसविमाणा छच्चदुवीसलक्ख देवदेविसम्मिस्सा[1]।।५२५।।

विशेषार्थ—आरण स्वर्ण पर्यन्त दक्षिण कल्पों की समस्त देवांगनाएँ सौधर्म कल्प में और अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तरकल्पों की समस्त देवांगनाएँ ऐशान कल्प में ही उत्पन्न होती हैं। उत्पत्ति के बाद उपरिम कल्पों के देव अपनी–अपनी नियोगिनी देवांगनाओं को अपने–अपने स्थानों पर ले जाते हैं। सौधर्म कल्प में ६००००० (छह लाख) विमान और ईशान कल्प में ४००००० (४ लाख) विमान शुद्ध हैं। अर्थात् इनमें मात्र देवांगनाओं की ही उत्पत्ति होती है और इन्हीं कल्पों में क्रम से २६००००० (२६ लाख) और २४००००० (२४ लाख) विमान देव–देवियों से संमिश्र हैं अर्थात् उनमें देव और देवांगना दोनों की उत्पत्ति होती है।।५२४–५२५।।

---

1. त्रिलोकसार पृ. 449–452।

देवों के भेद

देवों के चार भेद हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिर्वासी और कल्पवासी।

इनमें से भवनवासी, व्यंतर एवं ज्योतिर्वासी देवों को 'भवनत्रिक' कहा जाता है। भवनवासी तथा व्यंतरदेव अधोलोक एवं मध्यलोक में रहते हैं, ज्योतिर्वासी देव मध्यलोक में रहते हैं तथा वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं।

भवनवासी देव

भवनवासी देवों के स्थान—पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के ३ भाग हैं। उसमें से खरभाग में राक्षस जाति के व्यंतर देवों को छोड़कर सात प्रकार के व्यंतर देवों के निवास स्थान हैं और भवनवासी के असुरकुमार जाति के देवों को छोड़कर नव प्रकार के भवनवासी देवों के स्थान हैं। रत्नप्रभा के पंकभाग नाम के द्वितीय भाग में असुरकुमार जाति के भवनवासी एवं राक्षस जाति के व्यंतरों के आवास स्थान हैं।

भवनवासी देवों के भेद—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार।

भवनवासी देवों के भवनों का प्रमाण—असुरकुमार के ६४ लाख, नागकुमार के ८४ लाख, सुपर्णकुमार के ७२ लाख, वायुकुमार के ९६ लाख और शेष देवों के ७६-७६ लाख भवन हैं अतः ७६,००००० × ६=४,५६,००००० + ६४,००००० + ८४,००००० + ७२,००००० + ९६,००००० =७,७२,००००० (सात करोड़ बहत्तर लाख) भवन हैं।

व्यन्तर देव

व्यंतर देवों के सात भेद—रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में व्यंतर देवों के सात भेद रहते हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच। पंक भाग में राक्षस जाति के व्यंतरों के भवन हैं। सभी व्यन्तरवासियों के असंख्यात भवन हैं। उनमें तीन भेद हैं—भवन, भवनपुर और आवास। खर भाग, पंक भाग में भवन हैं। असंख्यातों द्वीप समुद्रों के ऊपर भवनपुर हैं और सरोवर, पर्वत, नदी, आदिकों के ऊपर आवास होते हैं।

मेरु प्रमाण ऊँचे मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक में व्यन्तर देवों के निवास हैं। इन व्यन्तरों में से किन्हीं के भवन हैं, किन्हीं के भवन और भवनपुर दोनों हैं एवं किन्हीं के तीनों ही स्थान होते हैं। ये सभी आवास प्राकार (परकोटे) से वेष्टित हैं।

ज्योतिर्वासी देव

ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनके विमान चमकीले होने से इन्हें ज्योतिष्क देव कहते हैं, ये सभी विमान अर्धगोलक सदृश हैं। ये सभी देव मेरुपर्वत को

११२१ योजन (४४,८४००० मी.) छोड़कर नित्य ही प्रदक्षिणा के क्रम से भ्रमण करते हैं। इनमें चन्द्र, सूर्य और ग्रह ५१०–४८/८१ योजन प्रमाण गमन क्षेत्र में स्थित परिधियों के क्रम से पृथक्–पृथक् गमन करते हैं परन्तु नक्षत्र और तारे अपनी–अपनी परिधिरूप मार्ग में ही गमन करते हैं।

ये ज्योतिषी देवों के विमान पृथ्वी से ७९० योजन की ऊँचाई से आकाश में भ्रमण करते रहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एवं १६ स्वर्ग आदि—

मध्यलोक के ऊपर ७ राजु ऊँचा ऊर्ध्वलोक है। वस्तुतः मध्यलोक की नगण्य ऊँचाई (१ लाख ४० योजन) ऊर्ध्वलोक से ही ली गई है। ऊर्ध्वलोक में १६ स्वर्ग (८ जोड़े), ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमान हैं तथा सबसे ऊपर सिद्धशिला अवस्थित है।

कल्पवासी देव

१६ स्वर्गों के नाम—सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

बारह कल्प—सौधर्म–ईशान युगल के २ इन्द्र, सनत्कुमार–माहेन्द्र युगल के २ इन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर युगल का १ इन्द्र, लांतव–कापिष्ठ युगल का १ इन्द्र, शुक्र–महाशुक्र युगल का १ इन्द्र, शतार–सहस्रार युगल का १ इन्द्र, आनत–प्राणत युगल के २ इन्द्र और आरण–अच्युत युगल के २ इन्द्र ऐसे १२ इन्द्र होते है। इनके स्थानों की 'कल्प' संज्ञा होने से १२ कल्प कहलाते हैं।

सोलह स्वर्गों तक ही श्रावक–श्राविका और क्षुल्लक, क्षुल्लिका समाधिपूर्वक मरणकर देव होते हैं। इससे ऊपर वस्त्रधारी नहीं जाते हैं, दिगम्बर मुनि ही जाते हैं।

कल्पातीत—बारह कल्प (१६ स्वर्ग) के ऊपर ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर विमान हैं, इनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि भेद न होने से ये कल्पातीत कहलाते हैं। यहाँ के सभी देव अहमिंद्र कहलाते हैं।

नौ ग्रैवेयक—अधस्तन ३, मध्यम ३ और उपरिम ३ ऐसे नौ ग्रैवेयक हैं।

नौ अनुदिश—अर्चि, अर्चिमालिनी, वैर, वैरोचन ये चार दिशा में होने से श्रेणीबद्ध एवं सोम, सोमरूप, अंक और स्फटिक ये चार विदिशा में होने से प्रकीर्णक एवं मध्य में आदित्य नाम का विमान हैं, ऐसे ये ९ अनुदिश संज्ञक हैं।

पाँच अनुत्तर—विजय, वैजयन्त, जयंत और अपराजित ये चार विमान चार दिशा में एवं 'सर्वार्थसिद्धि' नाम का विमान मध्य में है।

सप्तपरमस्थान में सज्जाति एवं सद्गृहस्थ परमस्थान

सज्जातिः सद्गृहित्वं च, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, परनिर्वाणमित्यपि।।६७।।[१]

(१) सज्जाति, (२) सद्गृहस्थ श्रावक के व्रत, (३) पारिव्राज्य मुनियों के व्रत, (४) सुरेन्द्रपद, (५) साम्राज्य चक्रवर्ती पद, (६) अरहन्तपद और (७) निर्वाणपद ये सात परमस्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परमस्थानों को प्राप्त कर लेता है।

इन्हें कर्त्रन्वय क्रिया भी कहते हैं। इन सप्त परमस्थानों का कर्त्रन्वय क्रियाओं के नाम से आदिपुराण में सुन्दर विवेचन देखा जाता है।

(१) सज्जाति—इन क्रियाओं में कल्याण करने वाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो निकट भव्य को मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होने पर होती है। दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करने वाले मनुष्य के सज्जाति नाम का परमस्थान होता है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध जाति रूपी सम्पदा सज्जाति है। इस सज्जाति से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम वंशों को प्राप्त होता है। पिता के वंश की जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि जाति कहलाती है। कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है[२]।

आर्यखण्ड की विशेषता से सज्जातित्व की प्राप्ति, शरीरादि योग्य सामग्री मिलने पर प्राणियों के अनेक प्रकार के कल्याण उत्पन्न करती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही वर्णित की गई है क्योंकि पुरुष के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूल कारण यही एक सज्जाति है।

संस्काररूप जन्म से जो सज्जाति का वर्णन है वह दूसरी सज्जाति है उसे पाकर भव्यजीव द्विजन्मा कहलाता है अर्थात् प्रथम उत्तम वंश में जन्म यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की द्विज यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न, संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जाति व्यवस्था को माने बिना सज्जातित्व नहीं बन सकता। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं। जिनमें शुक्लध्यान के लिए कारण ऐसे जाति, गोत्र आदि कर्म पाये

---

१. आदिपुराण, पर्व ३८, श्लोक ६७।

२. स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये। विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते।।८३।।
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।।८५।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः।।८६।। (आदिपुराण पर्व ३९)

जाते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं। उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेहक्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता है, क्योंकि वहाँ उस जाति में कारणभूत नाम और गोत्र सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परम्परा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में मनुष्यों का वर्ण—विभाग इस प्रकार बतलाया गया है[१]।

कृतयुग की आदि में जब प्रजा भगवान के सामने अपनी आजीविका की समस्या लेकर आई, तब भगवान ने उसे आश्वासन देकर विचार किया।

पूर्व और पश्चिमविदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जैसे असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह क्रियाओं की तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर, नगर आदि की रचना है वह सब यहाँ पर भी होनी चाहिए। अनन्तर भगवान के स्मरण मात्र से देवों के साथ सौधर्म इन्द्र वहाँ आया और उसने शुभ मुहूर्त में जगद्गुरु भगवान की आज्ञानुसार मांगलिक कार्यपूर्वक अयोध्या के बीच में जिनमंदिर की रचना की। पुनः सर्व ग्राम, नगर आदि की रचना कर प्रजा को बसाकर चला गया[२]।

पुनः भगवान ने असि, मसि आदि षट्कर्मों का उपेदश देकर क्षत्रिय, वैश्य शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की।

उस समय प्रजा अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर अन्य आजीविका नहीं करती थी इसीलिए उनके कार्यों में कभी संकर मिलावट नहीं होती थी। उनके विवाह, जाति संबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे[३]।

अर्थात् इस कर्मभूमि की आदि में भगवान वृषभदेव ने अपने अवधिज्ञान के बल से विदेह क्षेत्र की अनादिनिधन कर्मभूमि की व्यवस्था को देखकर ही उसी के सदृश यहाँ सब व्यवस्था बनाई थी। अतः जैसे इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग की व्यवस्था सादि है, भोगभूमि में या प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पंचम तथा छठे काल में मोक्ष नहीं होता है, वैसे ही यह वर्ण व्यवस्था भी सादि है फिर भी इसके बिना मोक्ष नहीं है।

---

१. जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः। येषु ते स्युश्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।।४९६।।
अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया विदेहे जाति संततेः। तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवा विच्छिन्नसंभवात्।।४९४।।
शेषायोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः। एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।।४९५।।
(उत्तरपुराण, पर्व ७४)

२. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता। साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।१४३।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीना संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः।।१४४।।
(आदिपुराण पर्व १६)

३. आदिपुराण पर्व १६, पृ ३६२, ३६३

स्वयं कुन्दकुन्द भी कहते हैं—

देश, कुल, जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिए हमेशा मंगलमयी होवें[१]।

जाति व्यवस्था को स्वीकार करने पर ही जाति से शुद्ध यह विशेषण सार्थक होता है।

सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य भी कहते हैं—

दुर्भाव, अशुद्धि, सूतक-पातक दोष से युक्त, रजस्वला स्त्री और जातिसंकर आदि दोष से दूषित लोग यदि दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं तथा जो कुपात्र में दान देते हैं वे भी कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं[२]।

जाति व्यवस्था मानने पर ही जातिसंकर दोष बनेगा अन्यथा नहीं। उपासकाध्ययन में भी कहा है—

जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर सन्तान की शुद्धि देखी जाती है, वैसे ही आप्त के निर्दोष होने पर उनका कहा हुआ आगम निर्दोष माना जाता है[३]।

द्रव्य, दाता और पात्र की विशुद्धि होने पर ही विधि शुद्ध हो सकती है क्योंकि सैकड़ों संस्कारों से भी शूद्र, ब्राह्मण नहीं हो सकता है।[४]

उत्तरपुराण में एक कथा आती है कि जब सत्यभामा ब्राह्मणी को यह मालूम हुआ कि यह मेरा पति कपिल, ब्राह्मण न होकर दासी पुत्र है तो वह ब्रह्मचर्य व्रत लेकर राजा की शरण में गई। राजा ने भी सोचा कि पापी और विजातीय मनुष्यों को संसार में न करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसीलिए राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्यों का ही संग्रह करते हैं[५]। ऐसा विचार करते हुए राजा ने उस मायावी कपिल को दण्डित किया।

ऐसे ही गुणभद्रसूरि ने बताया है कि एक समय एक मुनि वेश्या के दरवाजे की तरफ से निकले, तब वेश्या ने विनय से निवेदन किया, हे मुने! मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है। इस तरह अपने कुल

---

१. देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता। तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।
(श्री कुन्दकुन्दकृत आचार्य भक्ति)

२. दुब्भावअसुयसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं। कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।९१४।।
(त्रिलोकसार)

३. पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते। तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता।।९६।।
(उपासकाध्ययन, पृ. २६)

४. सद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता। यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत्।।३०८।।
(उपासकाध्ययन, पृ. १३९)

५. पापिष्ठानां विजातीनां नाकार्यं नाम किंचन। एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम्।
(उत्तरपुराण, पृ. १६१)

की निंदा करती हुई वह पूछती है—भगवन्! उत्तम कुल और रूपादि इस जीव को किन कार्यों से मिलते हैं ? तब मुनि ने कहा—हे भद्रे! मद्य, मांस आदि के त्याग करने से उतम कुल आदि की प्राप्ति होती है[१]।

इसीलिए सोमदेवसूरि कहते हैं—

मनुष्यों की क्रियाएं शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त और आगम निर्दोष नहीं है तो उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि क्रियाएँ शुद्ध होने पर भी विजातीय लोगों से कुलीन सन्तानरूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती[२]।

अतः आचार्य आदेश देते हैं कि—

धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही संबंध करना चाहिए। अन्य कुजातियों की स्त्रियों से, बंधु-बांधवों की तथा व्रती स्त्रियों से भी संबंध नहीं करना चाहिए[३]।

यही कारण है कि जीवंधर कुमार ने गायों को जीतने के बाद ग्वाल सरदार की कन्या गोविन्दा को स्वयं न वरण कर अपने मित्र पद्मास्य को ही उसके योग्य समझा और उसके साथ विवाह कराया[४]।

श्री रविषेणाचार्य कहते हैं—

१. कुल, २. शील, ३. धन, ४. रूप, ५. समानता, ६. बल, ७. अवस्था, ८. देश, ९. विद्यागम ये नौ गुण वर के कहे गये हैं। तथापि उत्तम पुरुष इन सभी गुणों में एक कुल को ही श्रेष्ठ गुण मानते हैं परन्तु वही कुल गुण जिस वर में न हो, भला उसे कन्या कैसे दी जा सकती है[५]?

यही कारण है कि जब सुग्रीव की भार्या सुतारा के महल में साहसगति विद्याधर कृत्रिम सुग्रीव का रूप बनाकर घुस आया और सच्चे (असली) सुग्रीव के आ जाने के बाद जब मंत्री लोग सत्य और मायावी का निर्णय नहीं कर सके, तब उन लोगों ने विचार किया कि—

---

१. दानयोग्यकुला नाहमस्मीत्यात्मानमुच्छुचा। निंदन्ती वाढमप्राक्षीत् मुने कथय जन्मिनाम्।।२६०।।
कुलरूपादयः केन जायंते संस्तुता इति। मद्यमांसादिकत्यागादित्युदीर्य मुनिश्च सः।।२६१।।
(उत्तरपुराण, पर्व ५९)

२. आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु। नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते।।१७८।।
(उपासकाध्ययन, पृ. ६१)

३. धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः। यज्जात्यैव पराजातिबंधुलिंगिस्त्रिस्त्यजेत्।।४०६।। (उपासका.)

४. गद्यचिंतामणि।

५. कुल शीलं धनं रूपं समानत्व बलं वयः। देशो विद्यागमश्चेति यद्युप्युक्ता वरे गुणाः।।१४।।
तथापि तेषु सर्वेषु संतोऽभिजनेककम्। वरिष्ठमनुसंध्यन्ते शेषेषु तु मनः समम्।।१५।।
स च न ज्ञायते यस्य वरस्य प्रथमो गुणः। कथं प्रदीयते तस्मै कन्या मान्या समंततः।।१६।।
(पद्मपुराण पर्व १०१)

लोक में गोत्रशुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है इसीलिए उसके बिना बहुत भारी राज्य से भी प्रयोजन नहीं है। निर्मल गोत्र पाकर ही शीलादि आभूषणों से भूषित हुआ जाता है। इसलिए इस निर्मल अंतःपुर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए[१]।

इसीलिए तो भारतीय संस्कृति में विधवा विवाह का सर्वथा निषेध है। जब चन्द्रनखा को खरदूषण ने हरण कर लिया तब रावण के कुपित होने पर मन्दोदरी कहती है—

यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी, उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा[२]।

जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरत सम्राट के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिए तैयार हो गये। उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं—

मैं सुलोचना को भी नहीं चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा ? तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा[३]।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में कुल की शुद्धि देखकर सजाति में ही विवाह किये जाते थे। विधवा विवाह, पुनर्विवाह आदि प्रथाएं निषिद्ध थीं। सजातीय भार्या को ही धर्मपत्नी की संज्ञा दी जाती है। राजाओं के जो अन्य विजातीय स्त्रियाँ भी रहती थीं वे केवल भोगपत्नी मानी जाती थीं। क्योंकि 'सज्जाति' से उत्पन्न सन्तान ही दान, पूजन करने के लिए अधिकारी है और 'सज्जाति' को ही दिगम्बरी दीक्षा का विधान है। आचार ग्रंथों में तो ऐसा कथन है ही, श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित 'जैनेन्द्र व्याकरण' का भी सूत्र है[४]—

जो वर्ण से अर्हत् रूप के योग्य नहीं है इत्यादि इससे स्पष्ट है कि तीन वर्ण ही दीक्षा के योग्य हैं और अन्तिम वर्ण दीक्षा के अयोग्य है।

जिस प्रकार गुलाब के पौधे की टहनी (कलम) काटकर लगाते हैं तो श्वेत, लाल या गुलाबी जैसे भी गुलाब की टहनी है वैसा ही फूल आता है परन्तु यदि सफेद गुलाब की कलम और लाल गुलाब की कलम दोनों को मिलाकर लगा देते हैं, तो उसमें श्वेत या लाल (गुलाब) फूल न आकर एक तीसरे ही रंग का फूल आ जाता है तथा श्वेत या लाल गुलाब जैसी असली सुगंध भी उसमें नहीं

---

१. अत्यन्तदुर्लभा लोके गोत्रशुद्धिस्तया विना। नितान्तपरमेणापि न राज्येन प्रयोजनम्।।६४।।
संप्राप्य निर्मलं गोत्रं भव्य शीलादिभूषितैः। तस्मादन्तःपुरे यत्नादिदं रक्ष्यं सुनिर्मलम्।।६५।।
(पद्मपुराण पर्व ४७)

२. कथंचिच्च हतेप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता। अन्यस्मै नैव मिश्राण्या केवलं विधवीभवेत्।।३६।।
(पद्मपुराण, पर्व ९)

३. नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयं। परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया।।६५।।
(आदिपुराण, पर्व ४४, पृ. ३९१)

४. 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां।

रहती है। कालान्तर में उस संकर (मिश्रित) गुलाब की कलम भी नहीं लगाई जा सकती है चूँकि उसकी उपजाऊ शक्ति समाप्त हो जाती है।

वैसे ही 'जातिसंकर' से दूषित कुल में मोक्षमार्ग परम्परा नहीं चलती क्योंकि 'सज्जाति' परमस्थान के बिना पारिव्राज्य परमस्थान और मोक्ष मिलना असंभव है।

कुछ लोगों का कहना है कि छठे काल में 'सज्जातित्व' समाप्त हो जावेगा क्योंकि तब विवाह प्रथा रहेगी ही नहीं। पुनः आगे छठे और पंचम काल के बाद चतुर्थ काल के अन्त में कुलकर जन्म लेंगे एवं उन्हीं में तीर्थंकरों का भी जन्म होगा। तो बिना 'सज्जाति' के भी मोक्षमार्ग चलेगा ही।'

इस पर चारित्र चक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने बहुत ही सुन्दर समाधान दिया था। उन्होंने कहा था कि—

छठे काल के अन्त में प्रलय के समय जो बहत्तर जोड़े, देवों द्वारा यहाँ से ले जाये जाकर विजयार्ध की गुफाओं में सुरक्षित किए जावेंगे, 'तिलोयपण्णत्ति' में ऐसा कथन है कि उस समय कुछ और भी मनुष्य सुरक्षित रखे जावेंगे। उन्हीं में से जिनमें 'सज्जाति (बिना विवाह के भी एक स्त्री से संबंध होने की परम्परा) सुरक्षित रह जावेगी उन्हीं में कुलकर' तीर्थंकर आदि जन्म लेवेंगे। उदाहरण के लिए देखिए—

यदि कोई एक बोरी गेहूँ घुने हुए लाकर किसी चतुर महिला को दे देवे और कहे कि इन सर्वथा घुने हुए गेहूँ में से तुम २-४-१० गेहूँ बिना घुने हुए निकाल दो, तो आप ही बतलाइये १०-१२ गेहूँ बिना घुने हुए उस बोरी भर गेहूँ में से ढूंढने पर मिलेंगे या नहीं ? यदि मिल सकते हैं तो पुनः उन्हीं बिना घुने गेहूँ को बोने से परम्परागत अपरिमित गेहूँ हो जाते हैं फिर वैसे ही कई करोड़ों मनुष्यों की संख्या में से १०-२० स्त्री-पुरुष (दंपति) शुद्ध 'सज्जाति' वाले तब भी सुरक्षित रह सकते हैं और उनमें से ही किन्हीं को कुलकर तथा तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य मिल सकता है, ऐसा विश्वास करना चाहिए।

श्रद्धान ही सम्यक्त्व है

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।

अर्थ—जिस कार्य को-चारित्र या अनुष्ठान को करना शक्य है-किया जा सकता है उसे करना चाहिए और जिसको करना शक्य न हो उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)

सद्गार्हस्थ्य परमस्थान

सज्जाति नाम के परमस्थान को प्राप्त करने वाला भव्य 'सद्गृहित्व' परमस्थान को प्राप्त करता है। वह सद्गृहस्थ आर्य पुरुषों के करने योग्य छह कर्मों का पालन करता है। गृहस्थ अवस्था में करने योग्य जो–जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहंत भगवान् द्वारा कहे गये उन–उन समस्त आचरणों का जो आलस्यरहित होकर पालन करता है जिसने श्री जिनेन्द्र देव से उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधर देव ने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज/ आत्मतेज को धारण करता है। अर्थात् प्रथम तो शरीर का जन्म पुनः गुरु के द्वारा व्रतों को ग्रहण करने से संस्कार का जन्म जिसके होते हैं उसे द्विज/द्विजन्मा कहते हैं। वर्तमान में ब्राह्मणों को द्विज संज्ञा है। भरत सम्राट ने भी जैनव्रती श्रावकों को ही ब्राह्मण संज्ञा दी थी, किन्तु यहाँ पर तो उच्चवर्णीय सद्गृहस्थ ही विवक्षित हैं।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि जो असि, मषी आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले जैनद्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसा का दोष लग सकता है परन्तु इस विषय में जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि आजीविका के लिये छह कर्मों के करने वाले जैन गृहस्थों को थोड़ी सी हिंसा की संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रों में उन दोषों[१] की शुद्धि भी तो दिखलाई गई है। उनकी विशुद्धि के अंग तीन हैं– पक्ष, चर्या और साधन। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष कहलाता है। किसी देवता के लिये, किसी मंत्र की सिद्धि के लिये अथवा किसी औषध या भोजन बनवाने के लिये मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी इच्छा न रहते हुये प्रमाद से दोष लग जावे तो प्रायश्चित से उसकी शुद्धी की जाती है तथा अंत में अपना सब कुटुम्ब पुत्र के लिये सौंपकर घर का परित्याग किया जाता है। यह गृहस्थ लोगों की चर्या कही।

आयु के अंत समय में शरीर, आहार और समस्त प्रकार की चेष्टाओं का परित्याग कर ध्यान की शुद्धि से जो आत्मा को शुद्ध करना है वह साधन है। अरहंत देव को मानने वाले जैनों का पक्ष, चर्या और साधन इन तीनों में हिंसा के साथ स्पर्श भी नहीं होता।

चारों आश्रमों की शुद्धता भी श्री अर्हंत देव के मत में ही है। अन्य लोगों ने जो चार आश्रम माने हैं ये विचार किये बिना ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम माने हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होने से प्राप्त होते हैं। ये चारों ही आश्रम अपने–अपने अंतर्भेदों से सहित होकर अनेक प्रकार के हो जाते हैं।[२] मैत्री आदि चारों भावनाओं का लक्षण राजवार्तिक में बहुत ही सुन्दर है–

---

१. जिनसेनाचार्य (आदिपुराण पर्व ३९) २. आदिपुराण पर्व ३९।

१. अनादिकाल से आठ प्रकार के कर्म बंधन से बंधे हुये जीव तीव्र दुःखों के लिये कारणभूत ऐसी चारों गतियों में हमेशा ही दुःख उठाते रहते हैं। इन संसारी प्राणियों को ही यहाँ सत्व संज्ञा है। ऐसे सभी सत्वों में– प्राणीमात्र में मैत्रीभाव रखना अर्थात् मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से दूसरों को दुःख न होने देने की अभिलाषा का नाम मैत्री भावना है। मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी सब जीवों से प्रीति है मेरा किसी से वैर नहीं है ? इत्यादि प्रकार की भावना ही मैत्री है।

२. सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष गुणाधिक हैं। ऐसे गुणीजनों में प्रमोद भाव होता है गुणीजनों को देखकर मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आल्हाद, रोमाञ्च, स्तुति, सद्गुण कीर्तन आदि के द्वारा अंतरंग की भक्ति को, भावों के अनुराग को प्रगट करना प्रमोद भावना है।

३. असाता वेदनीय के उदय से जो शारीरिक या मानसिक दुःखों से संतप्त हैं, क्लिश्यमान कहलाते हैं। ऐसे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रहरूप भाव का होना कारुण्य भावना है। मोह से अभिभूत कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञान से युक्त विषयतृष्णा से जलने वाले, हित–अहित में विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित, दीन, अनाथ, बाल, वृद्ध आदि जीव क्लिश्यमान हैं। उन जीवों के प्रति दया भाव से ओत–प्रोत हो जाना कारुण्य भावना है।

४. तत्वों के उपदेश को जो श्रवण करते हैं और उनकों ग्रहण करने के पात्र हैं उन्हें विनेय कहते हैं। इससे विपरीत अविनेय हैं। इन विरुद्धचित्त वालों में माध्यस्थभाव रखना। जो व्यक्ति ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित हैं, महामोह से अभिभूत हैं और विपरीत दृष्टि– महामिथ्यादृष्टि हैं ऐसे विरुद्धवृत्ति वाले जीवों के प्रति राग–द्वेष न करके माध्यस्थ्यभाव रखना चौथी भावना है। वास्तव में ऐसे अविनेय लोगों के प्रति किया गया धर्म का उपदेश सफल नहीं हो सकता है प्रत्युत कभी–कभी अनर्थ का कारण भी बन जाया करता है अतएव आचार्यों ने ऐसे विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ रहने का आदेश दिया है। जैसे कि रक्षाबंधन कथा में श्रुतसागर मुनि के द्वारा दिया गया तत्त्वों का उपदेश बलि आदि दुर्बुद्धि मंत्रियों के लिये उल्टा हुआ और वे संघ के अहित में तत्पर हो गये।

इस प्रकार से इन मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं को भाने वाला व्यक्ति जब समस्त हिंसा को अर्थात् संकल्पपूर्वक त्रस हिंसा को छोड़ देता है और धर्म के पक्ष में तत्पर हो जाता है तब वह पाक्षिक कहलाता है।

सागारधर्मामृत में इस पाक्षिक श्रावक के लिये मद्य–मांस–मधु और पंच उदुंबर फल इन आठों का त्याग करना अत्यावश्यक बतलाया है। रात्रिभोजन त्याग और अनछना पानी पीने का त्याग भी कहा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का भी स्थूल त्याग करना चाहिये तथा जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन इन सात व्यसनों का त्याग भी होना चाहिये। तभी वह 'पाक्षिक' संज्ञा को प्राप्त होता है।

श्रावक के धर्म– दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं, ऐसा आर्ष में कहा गया है। दान के चार भेद हैं– आहार दान, औषधिदान, शास्त्रदान और वसतिकादान । अंतिम दो दान के ज्ञानदान और अभयदान भी नाम प्रसिद्ध हैं। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि चतुर्विध संघ को ये चारों दान देते हैं। पात्र के भी उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद माने गये हैं।

आदिपुराण में पूजा के पांच भेद बताये हैं–

नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह, आष्टन्हिकमह और ऐंद्रध्वजमह। मह का अर्थ पूजा है। नित्यप्रति जिनेंद्रदेव की जल–गंधादि से अर्चना करना, जिनबिंब–जिनमंदिर बनवाना, मुनिश्वरों की पूजा करके उन्हें आहार देना यह सब नित्यमह है। महामुकुटबद्ध राजा लोग जो बड़े वैभव से पूजा करते हैं वह चतुर्मुख या सर्वतोभद्र है। आष्टान्हिक पर्व में की गई पूजा आष्टान्हिक है। चक्रवर्ती सबकी इच्छा पूर्ण करने वाला ऐसा किमिच्छक दान देते हुये जो पूजा करते हैं वह कल्पद्रुम पूजा है। इंद्रों के द्वारा जो पूजन होती है उसका नाम ऐंद्रध्वज है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना शील है और अष्टमी आदि पर्वों में चतुर्विध आहार का त्याग करना उपवास है। इस उपवास के अनुष्ठान में अनेकों भेद होते हैं। इस श्रावक धर्म का उपदेश जिनेंद्रदेव ने किया है। वह बात सिद्धांतग्रन्थों में कही गई है।

कषाय पाहुड़– टीका जयधवला में शंका– समाधान पूर्वक इसी बात को कहा है–

शंका–"चौबीसों तीर्थंकर सदोष हैं क्योंकि उन्होंने छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत ऐसे श्रावक धर्म का उपदेश दिया है। दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावक धर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिराना–गिरवाना तथा उनकों पकाना–पकवाना आदि 'छहकाय' के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, सम्मार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है[१]।'

शील की रक्षा भी सावद्य है क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है। उपवास भी सावद्य है क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है। अथवा जिनेंद्रदेव श्रावकों को स्थूल अहिंसा का उपदेश देते हैं। अर्थात् 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रस जीवों को ही मत मारो।' ऐसा प्रतिपादन करते हैं इन्हीं सब सावद्य कारणों का

---

१. .....'छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण–संमज्जण–छुहावण–पु (फु)–फुल्लारोहणधूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च।' (जयधवला, पुस्तक १, पृ० १००)

उपदेश देने से जिनेंद्रदेव निर्दोष नहीं हैं।

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आताप में और खुले हुये स्थान में निवास करना, उत्कुटिकासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड़गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण जिनेंद्रदेव निरवद्य नहीं हैं और इसीलिये वे वंदनीय नहीं हैं।"

यहाँ तक शंकाकार ने अपनी शंका रखी है अब आचार्य इसका समाधान देते हैं–

" उपर्युक्त शंकाओं का परिहार करते हैं कि– यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता है।[१] "

"तीर्थंकर का विहार संसार के लिये सुखकर है किंतु उससे पुण्य फलरूप कर्मबंध होता हो ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरम्भ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं। अर्थात् वे दान, पूजा आदि आरंभों का उपदेश देते हैं, उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है[२]।"" जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुये हैं। उनके खुले रहते हुये जो जीव शुभास्रव के द्वार को खोलता है अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कार्यों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है।[३]" " और जब महाव्रती मुनियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है ?"[४]

सद्गार्हस्थ्य परमस्थान के अन्तर्गत ही आगे सूतक-पातक वर्णन दिया है। आगे के पांच परमस्थान सातवीं अध्याय में (गौतम गणधर वाणी-भाग ३ में) दिये गये हैं।

गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के अनमोल वचन

किसी की बड़ी रेखा को मिटाने का प्रयास करने की बजाय आप उसके नीचे उससे भी बड़ी रेखा खींच दीजिए जिससे ऊपर वाली रेखा स्वयं छोटी हो जाएगी। अर्थात् किसी के महान् कार्य को देखकर उससे ईर्ष्या करने या उसका विरोध करने के स्थान पर यदि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सुन्दर कार्यक्रम आयोजित करें तो आपका गौरव बढ़ सकता है।

---

१. 'जयवि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि। (जयधवला, पु० १. पृ० १०१)

२. तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो। वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ ।।५४।। (जयधवला, पु० १, पृ०१०५)

३. पावागमदाराइं अणाइरूवट्टियाइ जीवम्मि। तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंते कउ सदोसो ।।५७।। (जयधवला पु० १, पृ० १०६)

४. घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए। णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं ।।६०।। (जयधवला, पु० १, पृ० १०७)

सूतक-पातक वर्णन

बालक का जन्म होने पर जो घरवालों को और कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि का कार्य वर्जित किया जाता है, उसी का नाम सूतक है एवं किसी के मरण के बाद जो अशौच होता है, उसे पातक संज्ञा है। यह सूचक-पातक आर्षग्रंथों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को सूतक शब्द से जाना जाता है।

जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को ६ दिन का, छठी पीढ़ी वालों को ४ दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को ३ दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है, ऐसे ही मरण का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का, पाँचवी पीढ़ी के लिए ६ दिन का आदि है।

जन्म का सूतक चल रहा है, इसी बीच परिवार में मरण का सूतक आ जाने पर वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के सूतक में जन्म का सूतक आ जाने पर उसी पहले वाले मरण के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही जन्म का सूतक यदि ५-६ दिन का हो चुका है पुनः परिवार में किसी का जन्म हो जाये, तो वह सूतक पहले के साथ ही निकल जाता है। यदि पहले सूतक के अंतिम दिन पुनः किसी का जन्म आदि होवे, तो दो दिन सूतक और मानना चाहिए। यदि दूसरे दिन होवे तो तीन दिन का और मानना चाहिए।

तपस्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और तपस्वियों का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

मंत्री, सेनापति, राजा, दास और दुर्भिक्ष आदि आपत्ति से पीड़ित लोग इनके मरने पर भी सूतक नहीं लगता है। युद्ध में मरने पर भी सूतक नहीं लगता है।

गर्भवती का तीन महीने के अंदर ही यदि गर्भस्राव हो जावे तो उसे ही तीन दिन का अशौच है। तीन महीने से लेकर छह महीने तक का यदि गर्भपात हो जाता है तो जितने महीने का हो, उतने दिन का अशौच है। छह महीने के बाद और आठ महीने तक में यदि गर्भपात होकर नष्ट हो जाता है तो माता को पूरे १० दिन का अशौच है, पिता को स्नानमात्र से शुद्धि है।

नाभि छेदन से पहले यदि बालक मर जाये तो माता को पूर्ण १० दिन का अशौच है, पिता व बंधुओं को तीन दिन का है। १० दिन के पहले यदि मर जावे तो पिता व सबको १० दिन का है। दस

दिन पूर्ण होने पर अंतिम दिन यदि बालक मर जाये तो दो दिन का अशौच और पालना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःमरण होने पर तीन दिन अशौच और पालना चाहिए। १० दिन बाद मरण होने पर माता-पिता व सहोदरों को दस दिन का अशौच है। इतर बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। दांत आने के बाद मरण होने पर पिता, भ्राता को दस दिन का तथा शेष जनों को स्नानमात्र से शुद्धि है। चौल कर्म के बाद बालक के मरने पर पिता-भ्राता को १० दिन का, चार पीढ़ी वालों तक ५ दिन का, आगे की पीढ़ी वालों को एक दिन का है। उपनयन के बाद मरण होने पर चार पीढ़ी वालों तक १० दिन का अशौच है।

पुत्री का मरण यदि चौलकर्म से पहले हो जावे तो बंधुओं को स्नानमात्र से शुद्धि है। व्रतसंस्कार से पहले मरण होने पर एक दिन का अशौच है। विवाह से पहले मरने पर तीन दिन का अशौच है। विवाहित पुत्री का पतिगृह में मरण होने पर माता-पिता को दो दिन का अशौच है। शेष जाति बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। पतिपक्ष वालों को पूर्ण १० दिन का सूतक है। यदि वह स्त्री पिता के घर में मरण पावे या प्रसूत हो तो माता-पिता को तीन दिन का अशौच है और उस पक्ष वालों को एक दिन का अशौच है।

दूर देश के अपने परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का समाचार मिलने पर अवशिष्ट दिन का सूतक पालना चाहिए। जन्मादि होकर १० दिन बाद समाचार मिलने पर तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र करना चाहिए। इस प्रकार यह संक्षिप्त सूतक-पातक विधि[१] कही गई है।

रजस्वला स्त्री का अशौच

महीने-महीने में जो रजःस्राव होता है, उस समय वो स्त्रियाँ रजस्वला कहलाती हैं । उन दिनों में उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। देवता और गुरु का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। अर्धरात्रि के अनन्तर रजस्वला होने पर प्रातःकाल से अशौच गिनना चाहिए। इस तरह रजस्वला स्त्री तीन दिन तक स्नान, अलंकार आदि न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे। चतुर्थ दिवस स्नान कर शुद्ध होकर घर के काम-काज कर सकती है, देवपूजा, गुरुपास्ति आदि कार्यों को पाँचवें दिन कर सकती है।

एक बार रजस्वला होने के बाद बारह दिन के अंदर ही यदि रजोदर्शन हो जाये तो वह स्नान से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारह दिन के पहले रजःस्राव हो जाता है, तो भी स्नानमात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि अठारहवें दिन होता है तो दो दिन का अशौच मानना चाहिए। अठारह दिन के बाद होने पर

---

१. यह सूतक-पातक विधि श्री गुणभद्राचार्य कृत त्रैवर्णिकाचार के आधार से है।

तीन दिन तक अशुद्धि मानी गई है। रजस्वला स्त्रियाँ यदि आपस में एक-दूसरे को स्पर्श कर लेती हैं तो उन्हें चतुर्थ दिवस शुद्ध होकर गुर्वानी के पास प्रायश्चित लेने का विधान है।

जो स्त्रियाँ रजस्वला के दिनों में अशौच का पालन नहीं करती हैं, सभी को छूती रहती हैं या भोजन बनाकर सभी को खिला देती हैं, वे इस लोक में स्वास्थ्य हानि के साथ-साथ धार्मिक परम्परा की हानि करती हैं तथा पाप का संचय करके अगले भव की भी हानि कर लेती हैं अतः महिलाओं को इन तीन दिनों में विवेकपूर्वक अशौच का पालन करना चाहिए।

पुण्य से क्या-क्या मिलता है?

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्,
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः।
पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौच-
त्यागक्षमादि शुभचेष्ठितमूलमिष्टम्।।
पुण्यात् सुरा सुरनरोरग भोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्,
आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिल सौख्यमग्रयम्।।

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं हो सकता। दान देना, इंद्रियों को वश में करना, संयम धारण करना, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र के अभिलषित भोग, लक्ष्मी, दीर्घायु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्री का साम्राज्य, इन्द्रपद जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा अरहंत पद और अंतरहित समस्त सुखदायी श्रेष्ठ निर्वाणपद, इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

-भगवज्जिनसेनाचार्य

सुदं मे आउस्संतो ! (श्रावक धर्म) का सार

श्री गौतमस्वामी ने बारह व्रतों के अन्तर्गत—चार शिक्षाव्रत के अन्तर्गत सल्लेखनाव्रत को लिया है। आगे श्री कुंदकुंददेव ने, देवसेनाचार्य आदि ने भी यही परम्परा अपनाई है।

श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से निर्गत ये वचन चतुर्थकालीन हैं। यही परम्परा शाश्वत व विदेहक्षेत्र में भी होगी यह मानना चाहिये।

इसी प्रकार नव पदार्थों–तत्त्वों का क्रम भी श्रीगौतमस्वामी के अनुसार ही श्री कुंदकुंददेव ने समयसार व मूलाचार में लिया है। षट्खण्डागम में भी यही क्रम है। यह भी चतुर्थकालीन व अनादि है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

जो श्रावक और श्राविकायें प्रथमतः मद्य, मांस, मधु आदि का त्यागकर इन बारह व्रतों का पालन करते हैं। सम्यग्दृष्टि बनकर निःशंकित आदि आठ अंगों को धारण करते हुये आगे प्रतिमाधारी श्रावक क्षुल्लक व क्षुल्लिका बनकर अठारह स्थानों में व भवनत्रिक देवों में तथा सौधर्मादि स्वर्गों की देवियों में जन्म नहीं लेते हैं। नियम से सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक—१६ स्वर्गों तक जन्म लेते हैं। वे ही उत्तम श्रावक उत्तम ऋद्धियुत देवों में—इंद्रों में जन्म लेकर वहां से मनुष्य होकर क्रम से मुनि बनकर कर्मों का नाशकर आत्मा को परमात्मा सिद्ध भगवान बना लेते हैं। यहाँ ऐसा कथन है।

यहाँ पर जो भव्यात्मा नव पदार्थों में व उनके प्रतिपादक भगवंतों में व तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म में अस्थिमज्जा के समान अन्वयरूप—तन्मयरूप धर्म में प्रगाढ़ प्रीति रखते हैं। वे ही सच्चे श्रावक व श्राविका परम्परा से मुक्ति को प्राप्त करते हैं, यहाँ ऐसा अभिप्राय है।

इति श्रीगौतमस्वामीप्रणीत–श्रीगौतमगणधरवाण्यां गणिनीज्ञानमती-
विरचित–अमृतवर्षिणीटीकायां सुदं मे आउस्संतो !
श्रावकधर्मनामा तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

सप्तपरमस्थान स्तुति

गणिनी ज्ञानमती

दोहा

गुणरत्नाकर वृषभजिन, भव्यकुमुद भास्वान।
सप्तपरमपद पाय के, भोगें सुख निर्वाण।।१।।

नरेन्द्र छंद

सज्जाती सद्गृहस्थ पद अरु, पारिव्राज्य सुरनाथा।
वर साम्राज्य परम अर्हत्पद, परिनिर्वाण विधाता।।
सप्तपरमस्थान भुवन में, सर्वोत्तम कहलाते।
मन वच तन से नमूं इन्हें मैं, निज पद पूरण वास्ते।।२।।

शंभु छंद

शुभजाति गोत्र वरवंश तिलक, जो सज्जाती के जन्मे हैं।
जो उभय पक्ष की शुद्धि सहित, औ उच्चगोत्र में जन्मे हैं।।
वे प्रथम परम पद सज्जाती, पाकर छहपद के अधिकारी।
वह सज्जाती स्थान सदा, भव भव में होवे गुणकारी।।३।।
धर्मार्थ काम त्रय वर्गों को, जो बाधा रहित सदा सेते।
पंचाणुव्रत और सप्तशील, धारण कर सद्गृहस्थ होते।।
वे ही भव भोगों से विरक्त, जिन दीक्षा धर मुनि बनते हैं।
प्राव्राज्य तृतीय परम पद पा, निज आतम अनुभव करते हैं।।४।।
विधिवत् संन्यास मरण करके, देवेन्द्र परम पद पाते हैं।
स्वर्गों के अनुपम भोग भोग, फिर चक्रीश्वर बन जाते हैं।।
सोलहकारण भावन भाकर, तीर्थंकर पद को पाते हैं।
छठवें आर्हन्त्य परम पद को, पाकर शिवमार्ग चलाते हैं।।५।।
सब कर्म अघाती भी विनाश, निर्वाण रमापति हो जाते।
जो काल अनन्तानन्तों तक, सुखसागर में गोते खाते।।
इन सप्त परमस्थानों को, क्रम से भविजन पा लेते हैं।
जो सप्तपरमपद व्रत करते, वे अन्तिमपद वर लेते हैं।।६।।

दोहा

सप्तपरमस्थानप्रद, तीर्थंकर भगवान।
ज्ञानमती आर्हन्त्य हितु, नमूं नमूं सुखखान।।७।।

जिनेन्द्र स्तोत्र

गणिनी ज्ञानमती

-दोहा-

परम चिदंबर चित्पुरुष, चिच्चिंतामणि देव।
नमूँ नमूँ नित भक्ति से, करूँ सतत तुम सेव।।१।।

-रोला छंद-

जय जय श्री जिनदेव, विषय कषाय विजेता।
जय जय तुम पद सेव, करते श्रुत के वेत्ता।।
प्रभु तुमने छह द्रव्य, गुणपर्याय समेता।
दिव्यज्ञान से देख, बतलाते शिवनेता।।२।।

जीव तत्त्व हैं तीन, भेद कहे शुभ कामा।
बहिरातम अंतर आतम औ परमात्मा।।
प्रभु मैं दीन अनाथ, मैं दुखिया संसारी।
जन्म मरण के दुःख, मैं भरता अतिभारी।।३।।

मेरा होवे जन्म, मेरा ही मरणा हो।
मुझ में इष्ट वियोग, आदिक दुख भरना हो।।
मेरे धन जन मित्र, ये परिवार घनेरे।
मैं इनका प्रतिपाल, ये सब हैं नित मेरे।।४।।

यह बहिरात्म स्वरूप, दर्शन मोह जनित है।
इसके वश हे नाथ! मैं दुख सहा अधिक है।।
निश्चय से मैं एक, चिच्चैतन्य स्वरूपी।
परमानंद स्वरूप, अविचल अमल अरूपी।।५।।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सिद्धस्वरूप हमारा।
कर्मकलंक विहीन, सकल जगत् से न्यारा।।
ये वर्णादिक रूप, पुद्गल के गुण मानें।
रागादिक भी भाव, औपाधिक ही मानें।।६।।

क्षायोपशमिक सुज्ञान, वे भी कर्म जनित हैं।
परम शुद्ध चिद्भाव, मेरा ज्ञान अमित है।।
मैं भगवान स्वरूप, जनम मरण विरहित हूँ।
चिन्मय ज्योति स्वरूप, केवलज्ञान सहित हूँ।।७।।

टंकोत्कीर्ण सुएक, ज्ञायक भाव हमारा।
सब प्रदेश में व्याप्त, सब कुछ जानन हारा।।
यद्यपि मैं व्यवहार, नय से कर्म सहित हूँ।
जनम मरण दुख पूर्ण, नाना व्याधि सहित हूँ।।८।।

फिर भी निश्चय नीति, तत्त्वस्वरूप प्रकाशे।
नय व्यवहार सदैव, धर्म तीर्थ को भाषे।।
दोनों नय सापेक्ष, वस्तु स्वरूप बतावें।
सम्यग्दृष्टि जीव, द्वय नय आश्रय पावें।।९।।

अविरत सम्यग्दृष्टि, जघन्य अंतर आत्मा।
पंचम से ग्यारंत, मध्यम अंतर आत्मा।।
बारहवें गुणस्थान, मुनिवर क्षीणकषायी।
उत्तम अंतर आत्म, जड़ से मोह नशायी।।१०।।

श्री अर्हंत जिनेंद्र, कहें सकल परमात्मा।
नित्य निरंजन सिद्ध, रहें निकल परमत्मा।।
इस विध जीव सुतत्त्व, बाकी पाँच अजीवा।
पुद्गल धर्म अधर्म, नभ औ काल सदीवा।।११।।

करिये कृपा जिनेद्र! बहिरात्मत्व तजूँ मैं।
अंतर आतम होय, पद परमात्म भजूँ मैं।।
जब तक निजपद नाहिं, तब तक भक्ति तुम्हारी।
'ज्ञानमती' हो पूर्ण! कभी न हजेऊँ दुखारी।।१२।।

एकादश प्रतिमा

मंगल स्तोत्र

–गणिनी ज्ञानमती

–अनुष्टुप् छंद–

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धा कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्।।१।।

मंगलं जिनधर्मः स्यात्, जिनवाणी च मंगलम्।
जिनार्चा जिनगेहाश्च, कुर्वन्तु मम मंगलम्।।२।।

त्रैलोक्यशिखराग्रे या, भाति सिद्धशिला शुभा।
अनंतानंतसिद्धेभ्यो, भृता कुर्यात् सुमंगलम्।।३।।
मंगलं स्यान्महावीरो, श्रीगौतमश्च मंगलम्।
जिन शासनमाचंद्रं, स्थेयात् कुर्याच्च मंगलम्।।४।।

–उपेन्द्रवज्रा छंद–

त्रिलोकं त्रिकालोद्भवं द्रव्यसर्वं। अनंतैर्गुणैः सर्वपर्याययुक्तः।।
विजानाति रागच्युतो यः प्रशास्ता। स देवः प्रकुर्यात् सदा मंगलं मे।।५।।

सुचन्द्रांशु–गंधाम्बुतः शीतला या। भवव्याधि–शान्त्यै सुपीयूषवाक् सा।।
सरित्सप्त–भंग्यात्मका मां पुनातु। सुवाणी च कुर्यात् सदा मंगलं मे।।६।।

कषायादि–भोगादि–शून्यो गुरुर्यः। विवस्त्रो विशस्त्रोऽनुकम्पापरश्च।।
भवाब्धेस्तरन् तारयन् यश्च जीवान्। निमग्नान् स कुर्यात् सदा मंगलं मे।।७।।

समुद्धृत्य जीवान् जगद्दुःखतो यः। धरत्युत्तमे धाम्नि धर्मः य एव।।
श्रितानां त्रिलोकेश–संपत्प्रदाता। सुधर्मः प्रकुर्यात् सदा मंगलं मे।।८।।

गुरोर्देशनां प्राप्य चित्ते निदध्याम्। क्रुधादीन् परित्यज्य विद्याफलं च।।
लभेयास्तु सर्वैः क्षमावत्सलत्वं। कुरु ''ज्ञानमत्याशु'' धीः मंगलं मे।।९।।

एकादश प्रतिमा

(अध्याय ४)

(प्राकृत, संस्कृत श्लोक एवं पद्यानुवाद)

(श्रावक प्रतिक्रमण से)

श्रीगौतमस्वामी उवाच—

दंसण–वय–सामाइय–पोसह–सच्चित्त–रायभत्ते ये।
बंभारंभ–परिग्गह–अणुमण–मुद्दिट्ठ देसविरदे या।।१।।

–शंभु छंद–(पद्यानुवाद)

दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध, सचित्तत्याग निशिभुक्ति त्यजी।
ब्रह्मचर्य व आरम्भ परिग्रह अनुमति उद्दिष्टत्यागि ये देशव्रती।।

(१)

पंचुंबर–सहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्त–विसुद्धमई सो दंसण–सावओ भणियो।।१।।

पंचोदम्बरसहितानि सप्तापि व्यसनानि यो विवर्जयति। सम्यक्त्वविशुद्धमतिः स दर्शनश्रावको भणितः।।१।।

जो पंच उदुंबर फल तजता, अरु सप्त व्यसन को तजता है।
सम्यक्त्व शुद्धमति वह श्रावक, दर्शनप्रतिमायुत होता है।।१।।

(२)

पंच य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावयाइं चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि।।२।।

पंच च अणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि। शिक्षाव्रतानि चत्वारि जानीहि द्वितीये स्थाने।।२।।

अणुव्रत सुपांच गुणव्रत त्रय अरु शिक्षाव्रत चार कहे जाते।
इन बारहव्रत को व्रतप्रतिमा–धारी श्रावक धारण करते।।२।।

(३)

जिणवयण–धम्म–चेइय–परमेट्ठि–जिणालयाणं णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।।३।।

जिनवचन धर्म–चैत्य–परमेष्ठि–जिनालयानां नित्यमपि। यद्वंदनं त्रिकालं करोति सामायिकं तत्खलु।।३।।

जिनवचन धर्म प्रतिमा जिनगृह परमेष्ठी पाँच इनको नित ही।
जो त्रयकालिक वंदन करते उनके सामायिक प्रतिमा ही।।३।।

(४)

उत्तम–मज्झ–जहण्णं तिविहं पोसह–विहाण–मुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं।।४।।

उत्तममध्यजघन्यं त्रिविधं प्रोषधविधानमुद्दिष्टम्। स्वकशक्त्या मासे चतुर्षु पर्वषु कर्तव्यम्।।४।।

उत्तम मध्यम जघन्य त्रयविध भाषित प्रोषध निजशक्ति से।
प्रति महिने चारों पर्वों में करते वे प्रोषध व्रत धरते।।४।।

(५)

जं वज्जिजदि हरिदं तय–पत्त–पवाल–कंद–फल–बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सच्चित्त–णिव्वत्तिमं ठाणं।।५।।

यद्विवर्जयति हरितं त्वक्पत्रप्रवालकन्दफलबीजम्। अप्रासुकं च सलिलं सचित्तनिवर्तिकं स्थानम्।।५।।

जो हरित छाल पत्ते कोंपल फल कंद बीज को हैं तजते।
प्रासुक कर हरित व जल लेते वे सचित्त त्याग प्रतिमा धरते।।५।।

(६)

मण–वयण–काय–कदकारिदाणुमोदेहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जदि गुणम्मि सो सावओ छट्ठो।।६।।

मनोवचनकायकृतकारितानुमोदैः मैथुनं नवधा। दिवसे यो विवर्जयति गुणे स श्रावकः षष्ठः।।६।।

मन वचन काय कृत कारित अनुमति नवविध से जो मैथुन को।
दिन में तजते वे भव्य दिवा–मैथुन विरती प्रतिमाधर हों।।६।।

(७)

पुव्वुत्त–णवविहाणं णि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहादि–णिवित्ती सत्तम–गुणबंभचारी सो।।७।।

पूर्वोक्तनवविधानमपि मैथुनं सर्वदा विवर्जयन्। स्त्रीकथादिनिवृत्तिः सप्तमगुणब्रह्मचारी सः।।७।।

इन नवविध भी मैथुन को जो, तजकर ब्रह्मचर्य पूर्ण धरते।
स्त्री विकथादिरहित होकर, वे सप्तम प्रतिमाधारी बनते।।७।।

(८)

जं किं पि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेदि।
आरंभ-णिवित्तमदी सो अट्ठम-सावओ भणिओ।।८।।

यत्किमपि गृहारंभं बहु स्तोकं वा सदा विवर्जयति। आरंभनिर्वृत्तमतिः सोऽष्टमश्रावको भणितः।।८।।

जो अल्प बहुत या कुछ भी गृह, आरम्भ सदा हैं तज देते।
आरंभ त्याग अष्टमप्रतिमाधारी वे ही श्रावक होते।।८।।

(९)

मोत्तूण वत्थमित्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करदि वियाण सो सावओ णवमो।।९।।

मुक्त्वा वस्त्रमात्रं परिग्रहं यो विवर्जयति शेषम्। तत्रापि मूर्छां न करोति विजानीहि स श्रावको नवमः।।९।।

जो वस्त्रमात्र परिग्रह रखकर अवशेष परिग्रह तजते हैं।
जो है उसमें नहिं ममत करें, वे नवमी प्रतिमा धरते हैं।।९।।

(१०)

पुट्ठो वापुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं सग्गिह-कज्जे।
अणु-मणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दसमो।।१०।।

पृष्टो वाऽवृष्टो वा निजकैः परैः सद्गृहकार्ये। अनुमननं यो न करोति विजानीहि स श्रावको दशमः।।१०।।

जो स्वपर जनों द्वारा पूछे या नहिं पूछे गृह कार्यों में।
अनुमति नहिं देते वे अनुमतित्यागी प्रतिमाधारी श्रुत में।।१०।।

(११)

णवकोडीसु विसुद्धं भिक्खा-यरणेण भुंजदे भुंजं।
जायण-रहियं जोग्गं एयारस सावओ सो दु।।११।।

नवकोटीषु विशुद्धं भिक्षाचरणेन भुनक्ति भोजनं। याचनारहितं योग्यं एकादश श्रावकः स तु।।११।।

नवकोटिशुद्ध याचना रहित आहार योग्य परघर में जो।
भिक्षावृत्ति से ग्रहण करें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी वो।।११।।

(१२)

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।।१२।।

एकादशे स्थाने उत्कृष्टः श्रावकः भवेद्द्विविधः। वस्त्रैकधरः प्रथमः कोपीनपरिग्रहो द्वितीयः।।१२।।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी उत्तम श्रावक दो विध जानो।
कौपीन दुपट्टाधर क्षुल्लक कौपीनमात्र ऐलक मानो।।१२।।

(१३)

तव–वय–णियमा–वासय–लोचं कारेदि पिच्छ गिण्हेदि।
अणुवेहा–धम्मझाणं करपत्ते एयठाणम्मि।।१३।।

तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति। अनुप्रेक्षाधर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने।।१३।।

तप व्रत नियमावश्यक व लोच करते ऐलक पिच्छी धरते।
करपात्राहारी एक बार अनुप्रेक्षा धर्मध्यान करते।।१३।।

सूक्तिवचन

(1) सूई का काम करो, कैंची का नहीं।
(2) जिनवचन की श्रद्धा में पत्थर की तरह अचल रहो,
तिनके की तरह हल्के–फुल्के नहीं।

–चारित्र चूड़ामणि प्रथम पट्टाचार्य वीरसागर जी महाराज

ग्यारह प्रतिमाओं के नाम एवं लक्षण

अमृतवर्षिणी टीका–

ग्यारह प्रतिमाओं के नाम—(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) प्रोषधोपवास (५) सचित्तत्याग (६) रात्रिभुक्ति व्रत अथवा रात्रिभुक्ति त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरंभ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

(१) दर्शन प्रतिमा—जो संसार शरीर भोगों से विरक्त, शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी, पंचपरमेष्ठी के चरण कमलों की शरण ग्रहण करने वाला और सच्चे मार्ग पर चलने वाला है, वह दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है। वह श्रावक पंच उदुम्बर और सप्तव्यसनों का तथा रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्यागी होता है।

(२) व्रत प्रतिमा—जो शल्यरहित होकर निरतिचार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है, वह व्रत प्रतिमाधारी कहलाता है। इस प्रतिमा में सामायिक व्रत में दो समय सामायिक और विधिवत् देवपूजन करना आवश्यक है।

(३) सामायिक प्रतिमा—जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और कृत्रिम–अकृत्रिम जिनालयों की प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल इन तीनों कालों में कम से कम दो घड़ी तक विधिपूर्वक वन्दना करना सामायिक प्रतिमा कहलाती है।

(४) प्रोषधोपवास प्रतिमा—प्रत्येक महीने की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी, ऐसे चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपाकर धर्मध्यान में लीन होते हुए प्रोषध को अथवा उपवास को अवश्य करना प्रोषध प्रतिमा का लक्षण है। प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना होता है।

उत्कृष्ट प्रोषध प्रतिमा में सप्तमी और नवमी को एक बार शुद्ध भोजन और अष्टमी को उपवास होता है। जघन्य में अष्टमी को एक बार भोजन होता है। मध्यम में कई भेद हो जाते हैं।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा—कच्चे फल–फूल, बीज, पत्ते आदि नहीं खाना, इन्हें छिन्न–भिन्न करके, लवण आदि मिलाकर या गरम आदि करके प्रासुक बनाकर खाना, पानी भी प्रासुक करके पीना सचित्तत्याग प्रतिमा कहलाती है।

(६) रात्रिभुक्ति व्रत प्रतिमा—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना, इन नौ प्रकारों से जो श्रावक दिन में मैथुन का त्याग करते हैं वे दिवाभुक्त त्यागी अर्थात् रात्रिभुक्ति व्रत प्रतिमाधारी हैं। अथवा रत्नकरण्ड श्रावकाचार से–

रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा—जो दयालु श्रावक रात्रि में अन्न, खाद्य, लेह्य, पेय इन चारों आहारों का त्याग[१] कर देता है, वह रात्रिभुक्ति त्यागी छठी प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन को सर्वथा त्याग करता हुआ स्त्री कथा आदि से भी निवृत हो जाता है वह सातवें प्रतिमारूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है।

(८) आरंभ त्याग प्रतिमा—हिंसा के कारण–नौकरी, खेती, व्यापार आदि गृहकार्यसंबंधी सब तरह की क्रियाओं का त्याग करने वाला श्रावक आरंभ–त्यागी प्रतिमाधारी कहलाता है। इस प्रतिमा में दान, पूजन आदि धर्मकार्य संबंधी आरंभ कार्य कर सकते हैं। घर में रहकर भी धर्म साधन कर सकते हैं, घर छोड़कर भी कर सकते हैं।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा—जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता है उसे परिग्रहत्याग नवमीं प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा—स्वजनों से और परजनों से पूछा गया अथवा नहीं पूछा गया जो श्रावक अपने गृहसम्बन्धी कार्य में अनुमोदना नहीं करता है, उसे अनुमति त्याग दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।

(११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—जो अपने घर को छोड़कर मुनियों के संघ में जाकर गुरु के पास दीक्षा लेकर तपश्चरण करता है और भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करता है, निमंत्रण से भोजन नहीं करता है, खंड वस्त्र धारण करता है, वह उद्दिष्ट त्यागी प्रतिमाधारी कहलाता है।

इस ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद हैं—क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक एक लंगोटी और खंड वस्त्र (चादर) रखते हैं। सिर और दाढ़ी–मूँछ की हजामत कैंची से या उस्तरा से करा लेते हैं अथवा केशलोंच भी कर लेते हैं। पिच्छी आदि उपकरण से स्थान आदि का प्रतिलेखन करते हैं, एक बार बैठकर थाली में भोजन करते हैं। भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं अथवा गुरुओं के आहारार्थ निकल जाने पर उनके पीछे–पीछे आहार के लिए चले जाते हैं। ऐलक एक लंगोटी मात्र रखते हैं, नियम से केशलोंच करते हैं और करपात्र में आहार लेते हैं। इतना ही इन दोनों में अंतर है।

विशेष—ऐलक के बाद लंगोटी को भी त्याग करके तिलतुषमात्र परिग्रह को भी नहीं रखने वाले मुनि कहलाते हैं। ये २८ मूलगुणधारी साधु या आचार्य, उपाध्याय भी होते हैं। महिलाओं में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लिका कहलाती है। ग्यारह प्रतिमा के अनन्तर आर्यिकाएं होती हैं। इनकी

---

१. यद्यपि पहली प्रतिमा में ही रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग हो जाता है, फिर भी पुत्र–पौत्रादि कुटुम्बीजन अथवा अन्य लोगों के निमित्त से कारित और अनुमोदना संबंधी जो दोष लगता था, उनका यहाँ त्याग हो जाता है।

चर्या मुनियों के समान है, अन्तर इतना है कि ये दो साड़ी मात्र परिग्रह रखती हैं और बैठकर आहार करती हैं, अतः वे उपचार से महाव्रती कहलाती हैं। यद्यपि इनके पास साड़ी रहती है और ऐलक के पास एक लंगोटी मात्र है फिर भी ऐलक लंगोटी छोड़ सकता है किन्तु छोड़ता नहीं है। वह उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकता है। अतएव ऐलक आर्यिका से पद में छोटा माना जाता है और वह आर्यिकाओं को वंदामि करता है।

पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमाधारीपर्यंत जघन्य श्रावक हैं। सातवीं से नवमीं तक मध्यम तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

पहली प्रतिमा से ही श्रावकों को भोजन में केश, चिंवटी आदि आ जाने से अन्तराय करना चाहिए।

श्रावकों की त्रेपन क्रियायें श्रीकुंदकुंददेव ने वर्णित की है।

गुणवयतवसमपडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।१३७।।

८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता, ११ प्रतिमा, ४ प्रकार का दान, १ जलगालन, १ रात्रि भोजन त्याग, ३ दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस प्रकार श्रावक की त्रेपन क्रियाएं हैं। ८ + १२ + १२ + १ + ११ + ४ + १ + १ + ३ = ५३ ।

(रयणसार गा. १३७)

कौन से तीर्थंकर किस आसन से मोक्ष गए

वृषस्य वासुपूज्यस्य नेमेःपर्यङ्कबन्धतः।
कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धि; शेषजिनेशिनाम्।।२८०।।

भगवान् वृषभनाथ,वासुपूज्य और नेमिनाथ पर्यंक आसन से तथा शेष तीर्थंकर कायोत्सर्ग आसन से स्थित हो मोक्ष गए हैं ।।२८०।।

(हरिवंशपुराण, सर्ग–६०, पृ. ७२६)

''सम्मत्तविसुद्धमई, सो दंसणसावयो भणियो।''

अमृतवर्षिणी टीका–

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक

सम्यक्त्व की जिनकी मति विशुद्ध है—जो सम्यग्दृष्टी है वही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण

यहाँ धवला आदि ग्रंथों के आधार से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये बाह्य कारण व अंतरंग कारण का वर्णन विस्तार से करके सम्यग्दर्शन के भेदों का वर्णन किया जा रहा है।

यहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति यह कार्य है, उसके लिये गुरु उपदेश आदि बहिरंग कारण हैं तथा दर्शनमोहनीय आदि का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना सो अंतरंग कारण या करण है। .

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव संज्ञी, पंचेन्द्रिय और पर्याप्त हो तो वह चारों गतियों में भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्रकट कर सकता है।

धवला की छठी पुस्तक में सम्यक्त्व के कारणों का बहुत ही सुंदर विवेचन है। उसी को यहाँ देखिये—

(१) नरकगति में सम्यग्दर्शन के कारण–

नारकी मिथ्यादृष्टि जीव तीन कारणों से प्रथम[१] सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।।७।।

शंका—यह प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्तिरूप कार्य तीन कारणों से किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि मुद्गर, लकड़ी, दंड, स्तम्भ, शिला, भूमि व घटरूप विरोधरहित कारणों से खप्पड़ों की उत्पत्तिरूप कार्य देखा जाता है। ऐसा ही यहाँ समझना।

शंका—वे तीन कारण कौन से हैं ?

समाधान—कितने ही नारकी जीव जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

शंका—धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व हो जावे सो ठीक है किन्तु जातिस्मरण कारण समझ में नहीं आया, चूँकि सभी नारकी जीव विभंगज्ञान के द्वारा एक, दो या तीन आदि भवों को जानते हैं, इसलिये सभी के जातिस्मरण होता है पुनः सभी के सम्यक्त्व प्रकट हो जाना चाहिये ?

---

१. प्रथमोपशम सम्यक्त्व।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, सामान्यरूप से भवस्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु यदि किसी ने पूर्वभव में धर्मबुद्धि से कुछ अनुष्ठान किये थे और वे वास्तविक धर्मरूप न होने से उनका फल नहीं मिल सका ऐसा जानकर ही कदाचित् किसी को सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया हो तो वह जातिस्मरणनिमित्तक कहलाता है और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जीवों के होती नहीं है क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्वभवों का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है। अतः इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

शंका—नारकी जीवों के धर्मश्रवण किस प्रकार संभव है क्योंकि वहाँ तो ऋषियों के गमन का अभाव है ?

समाधान—कोई-कोई सम्यग्दृष्टि देव किसी नारकी को अपने पूर्वभव का सम्बंधी जान लेते हैं और यदि उसको धर्म में लगाना चाहते हैं तो वे वहाँ नरकों में जाकर धर्मोपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा देते हैं।

शंका—वेदना का अनुभवन सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुभवन तो सब नारकियों के साधारण होता है। यदि वह अनुभवन कारण हो तो सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जावेंगे ?

समाधान—वेदना सामान्य तो सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है, उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है अर्थात् पूर्वभव में मैंने अमुक पाप किया जिसके फलस्वरूप मुझे आज यहाँ इस नरक में यह घोर वेदना मिल रही है ऐसा भाव हो जाने से उस पाप और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है पुनः सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है परन्तु अन्य जीवों की वेदना वहाँ सम्यक्त्व का कारण नहीं बनती है।

ऊपर की तीन पृथ्वियों के नारकी जीवों के लिये ये तीन कारण होते हैं। किन्तु नीचे की चार पृथ्वियों में कितने जीव जातिस्मरण से और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व उत्पत्ति करते हैं, चूँकि वहाँ देवों के गमन का अभाव होने से धर्मश्रवण कारण असंभव है।

शंका—वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी जीव ही अन्य दूसरों को धर्मश्रवण क्यों नहीं करा देते ?

समाधान—भवसम्बन्ध से या पूर्ववैर के संबंध से परस्पर विरोधी हुये नारकी जीवों के अनुगृह्य-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असम्भव है अर्थात् नारकी परस्पर में एक दूसरे के प्रति उपकार का भाव ही नहीं कर पाते हैं ऐसा कुछ उस नरक पर्याय का ही प्रभाव है।

(२) तिर्यंचगति में सम्यग्दर्शन के कारण–

तिर्यंचों में एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है तथा सम्मूर्च्छन तिर्यंचों के भी प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। अतः गर्भ से जन्म लेने वाले पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही इस सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

वे बहुत से दिवस पृथक्त्व के व्यतीत हो जाने पर तीन कारणों से सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्बों के दर्शन करके।

शंका—जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण किस प्रकार से है ?

समाधान—जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।[१]

कहा भी है—

''दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।।[२]''

जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघातरूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

(३) मनुष्यों में सम्यग्दर्शन के कारण–

मनुष्यों में गर्भज पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही इस प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, सम्मूर्च्छन और अपर्याप्तक नहीं। ये मनुष्य आठ वर्ष की उम्र से लेकर किसी भी काल में तीन कारणों से सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, उसके नीचे के काल में नहीं।

कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

शंका—जिनमहिमा को देखकर भी कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं।[३] इसलिए चार कारण कहना चाहिए ?

---

१. कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिम्बदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। (धवला पृ.६, पृ. ४२७)। २. धवला पु. ६, पृ. ४२७।।

३. लद्धिसंपण्णरिसिदंसणं पि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे ? ण, एदस्सं वि जिणबिम्बदंसणे अंतब्भावादो। उज्जयंतचंपा-पावाणयरादि दंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं। कुदो ? तत्थतणजिणबिम्बदंसणजिणणिव्वुइगमणकहणेहि विणा पढमसम्मत्तगहणाभावा। णइसग्गियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण-जिणबिम्बदंसणेहि विणा उप्पज्जमाण-णइसग्गियपढमसम्मत्तस्स।

समाधान—जिनमहिमादर्शन का जिनबिम्बदर्शन में अंतर्भाव हो जाता है अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के आकाश में गमन करने की शक्ति न होने से उनके चतुर्विध देवनिकायों के द्वारा किये जाने वाले नंदीश्वरद्वीपवर्ती जिनेन्द्र प्रतिमाओं के महामहोत्सवों का देखना सम्भव नहीं है, इसलिए उनके जिनमहिमादर्शनरूप कारण का अभाव है। किन्तु मेरुपर्वत पर किये जाने वाले जिनेन्द्र महोत्सवों को विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं, इसलिये उपर्युक्त अर्थ नहीं कहना चाहिए, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। अतएव पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है।

शंका—लब्धिसम्पन्न ऋषियों का दर्शन भी तो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता है, पुनः इस कारण को यहाँ पृथक्रूप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि लब्धिसंपन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिनबिम्ब दर्शन में ही अंतर्भाव हो जाता है।

ऊर्जयंत पर्वत तथा चंपापुर व पावापुर आदि के दर्शन को भी जिनबिम्ब दर्शन के भीतर ही ग्रहण कर लेना चाहिये। क्यों ? क्योंकि उक्त प्रदेशवर्ती जिनबिम्बों के दर्शन तथा जिन भगवान के मोक्षगमन के कथन के बिना प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थसूत्र में नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व का भी कथन किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुये सम्यक्त्व में ही अंतर्भाव कर लेना चाहिए क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला निसर्गज नामक प्रथम सम्यक्त्व असंभव है।[१]

भावार्थ—निसर्गज सम्यक्त्व के लिये भी जातिस्मरण अथवा जिनबिम्बदर्शन निमित्त होना ही चाहिये, अन्यथा यह सम्यक्त्व भी प्रगट नहीं हो सकता। हाँ! इसमें धर्मोपदेश की अपेक्षा नहीं है। धर्मोपदेश निमित्त से हुआ सम्यक्त्व अधिगमज कहलायेगा।

(४) देवगति में सम्यग्दर्शन के कारण–

देवों में पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि देव अंतर्मुहूर्त काल से लेकर ऊपर कभी भी प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, अंतर्मुहूर्त से पहले नहीं। देव चार कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं—कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिनमहिमा देखकर और कितने ही देवों की ऋद्धि देखकर।

शंका—यहाँ जिनबिम्बदर्शन को कारणरूप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—क्योंकि जिनबिम्बदर्शन का जिनमहिमादर्शन में ही अंतर्भाव हो जाता है। कारण कि जिनबिम्ब के बिना जिनमहिमा की उपपत्ति (व्यवस्था) बनती नहीं है।

---

१. असंभवादो। (धवला पु. ६, पृ. ४३०)

शंका—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमायें जिनबिम्ब के बिना की गई देखी जाती हैं, इसलिए जिनमहिमादर्शन में जिनबिम्बदर्शन का अविनाभाव नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमाओं में भी भावी जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है अथवा इन महिमाओं में उत्पन्न होने वाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्बदर्शन निमित्तक नहीं है, किन्तु जिनगुणश्रवण निमित्तक है।

शंका—देवर्द्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं। तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरणनिमित्तक होती है। किन्तु जब सौधर्मेन्द्र आदिक देवों की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से संयुक्त संयम पालन करने के फल से प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से इन वाहन आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तक होता है। इससे जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन ये दोनों कारण एक नहीं हो सकते तथा जातिस्मरण वहाँ पर उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अंतर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है किन्तु देवर्द्धिदर्शन उत्पन्न होने के समय से अंतर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है इसलिये भी उन दोनों कारणों में एकत्व नहीं है।

ये सम्यक्त्व के चार कारण भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी और प्रथम स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्गपर्यंत के देवों में होते हैं। आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गों के देवों में देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर शेष तीन कारण ही होते हैं।

शंका—यहाँ देवर्द्धिदर्शन कारण क्यों नहीं होता ?

समाधान—उन चार स्वर्गों में महर्द्धि से संयुक्त ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, अतः वहाँ यह कारण नहीं होता है और उन्हीं कल्पों में स्थित देवों की महर्द्धि का देखना वहाँ सम्यक्त्व में निमित्त नहीं हो सकता क्योंकि उसी ऋद्धि को बार-बार देखने से विस्मय नहीं होता अथवा वहाँ शुक्ल लेश्या के सद्भाव के कारण महर्द्धि के दर्शन से कोई संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होते।

नव ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देवों में कितने ही देव जातिस्मरण से और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, इन दो कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। यहाँ जिनमहिमा दर्शन कारण नहीं है, क्योंकि यहाँ के देव नंदीश्वरादि के महोत्सव देखने नहीं जाते।

शंका—ग्रैवेयकवासी अहमिन्द्रों में धर्मश्रवण किस प्रकार सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर संलाप होने पर अहमिन्द्रत्व से विरोध नहीं आता अतएव वह संलाप ही धर्मोपदेशरूप से सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण हो जाता है।

अनुदिशों से लगाकर सवार्थसिद्धि तक के देव सभी नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

जिस महान् परमागम ग्रंथ षट्खंडागम के सूत्रों का भगवान महावीर स्वामी की वाणी से सीधा संबंध है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। उस ग्रंथ के सूत्रों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए ये निमित्तकारण माने गये हैं। ये निमित्तकारण अकिंचित्कर भी नही हैं क्योंकि इनमें से किसी एक निमित्त के बिना सम्यक्त्वोत्पत्ति असम्भव है। धवलाकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि निसर्गज सम्यक्त्व में भी जातिस्मरण अथवा जिनबिम्बदर्शन इन दोनों में से कोई एक कारण अवश्य ही चाहिये अन्यथा निसर्गज प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव है–''**जाइस्सरणजिणबिम्बदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गिय-पढमसम्मत्तस्स असम्भवादो।**'' इसमें जो 'असंभवादो' पद है उस पर विद्वानों को लक्ष्य देना चाहिये।

लब्धिसंपन्न मुनिराजों को 'जिनबिम्बदर्शन' कारण में गर्भित करना भी बहुत ही महत्त्व की बात है। इससे जिनमुद्राधारी महर्षियों की महत्ता का स्पष्टीकरण सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार से अचेतन पर्वत, भूमि, नगर आदि जो कि जिनकल्याणक से पवित्र हो चुके हैं उनकी महिमा भी अचिन्त्य है तभी तो इसमें कहा है कि—''**उज्जयंतचंपा-पावाणयरादिदंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं**'' ऊर्जयंत पर्वत, चंपापुरी, पावापुरी नगरी आदि का दर्शन भी जिनबिम्ब दर्शन में ही गर्भित है। यह तीर्थदर्शन भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन बहिरंग कारणों के मिलने पर ही अंतरंग में दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम आदि होता है अन्यथा नहीं, चूँकि जब निसर्गज सम्यक्त्व में भी बाह्य कारण के बिना 'असंभवादो' शब्द कह दिया है तो फिर इससे और अधिक निमित्तकारणों की विशेषता के लिये क्या प्रमाण हो सकेगा ?

श्री कुंदकुंददेव भी सम्यक्त्व के अंतरंग और बहिरंग हेतु को बताते हुए कहते हैं—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।

जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष (महर्षि) सम्यक्त्व के लिये बाह्य निमित्त हैं और दर्शनमोहनीय का क्षय, क्षयोपशम आदि अंतरंग हेतु है।

द्वादशांग या उसके अंशरूप सूत्र तथा उन सूत्रों के जानने वाले महर्षिगण—आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तो बाह्य हेतु हैं एवं दर्शनमोहनीय का क्षय आदि अंतरंग हेतु हैं। इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम आध्यात्मिक महर्षि श्री कुंदकुंददेव भी सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये बहिरंग निमित्तकारण और अंतरंग निमित्तकारण को मानते हैं। चूँकि इन अंतरंग-बहिरंग निमित्तों के बिना सम्यक्त्व असंभव है।

शंका—जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य कारणों में इतनी सामर्थ्य हो जावे कि वे दर्शनमोह आदि सात प्रकृतियों का उपशम आदि करा देंवे, यह कुछ समझ में नहीं आता है ?

समाधान—यह बात तो 'षट्खंडागम' ग्रंथ के सूत्रों से ही स्पष्ट है और आगम को प्रमाण सिद्ध करने के लिये युक्ति आदि की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि आगम तो स्वयं सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निर्गत होने से सर्वोपरि प्रमाण है।

फिर भी युक्ति से भी इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। देखो! बाह्य वातावरण—जलवायु आदि का अंतरंग पर कितना प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ जल, वायु, औषधि आदि से स्वास्थ्य लाभ होता है और गंदे जल, वायु या अपथ्य सेवन आदि से मलेरिया, हैजा आदि अनेकों रोगों के प्रकोप उत्पन्न हो जाते हैं। फूलों के बगीचे में प्रवेश करने से बिना इच्छा के भी फूलों की सुगंधि नाक में प्रवेश कर जाती है तथा मिट्टी के तेल, पेट्रोल आदि की दुर्गन्धि से प्रायः बहुत से लोगों को वमन तक हो जाता है।

इष्ट वस्तु के वियोग आदि से चिन्ता होकर मन में क्षोभ बना रहता है, प्रिय वस्तु के संयोग से हृदय आनंद से विभोर हो जाता है।

अचेतन वस्तुयें अचेतन पर भी अपना विशेष प्रभाव डाल देती हैं। चुंबक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। विष मारणशक्ति को रखते हुये भी कुछ उचित वस्तुओं के मिश्रण से रसायन बन जाता है। जब ऐसे-ऐसे अगणित उदाहरण लोकव्यवहार में देखे जाते हैं तब पुनः जिनबिम्बदर्शन आदि बाह्य कारण अंतरंग के दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जावें इसमें क्या आश्चर्य है ?

आचार्यदेव ने तो बलपूर्वक कहा है कि 'जिनबिम्बदर्शन' में मिथ्यात्व जैसे कर्म के नष्ट कर देने की सामर्थ्य है, उसे क्यों न माना जाय ?

शंका—तब तो जिनबिम्ब के दर्शन करने वाले सभी को सम्यक्त्व हो जाना चाहिये ?

समाधान—यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि कारण के होने पर कार्य होता है; नहीं भी होता है, किन्तु कारण के बिना कार्य का होना असंभव है। अतः ये सब बाह्य कारण ही हैं न कि करण।

हाँ, जिनबिम्बदर्शन' निरर्थक नहीं हो सकता है इससे कदाचित् सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं भी हुई तो भी अनंत-अनंत जन्म के संचित पापकर्म समूह का नाश होकर महान् पुण्य कर्म का संचय होना पाया ही जाता है। कहा भी है—

अनंतानंत- संसार- संततिच्छेद- कारणम्।
जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम।।
एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः।।

जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण अनंत-अनंत संसार की परम्परा को समाप्त करने में समर्थ है, वही मेरे लिये शरण है।

यह एक जिनभक्ति ही विद्वानों के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य को परिपूर्ण करने में और मुक्तिलक्ष्मी को देने में समर्थ है।

ऐसे ही अन्य जो भी कारण हैं वे दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जाते हैं इसलिये श्री पुष्पदंत आचार्य ने इन्हें सूत्र में कहा है।

औपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण

सबसे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को उपशम सम्यक्त्व ही उत्पन्न होता है। कषायपाहुड़ नामक परमागम में कहते हैं—"दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिए। वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है। इंद्रक, श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, व्यंतर देवों में, समस्त ज्योतिषी देवों में, सौधर्म स्वर्ग से लेकर नव ग्रैवेयक तक के सर्व विमानवासी देवों में, आभियोग्य अर्थात् वाहन आदि कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उनसे भिन्न किल्विषक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होता है"[१] ।।९५-९६।।

भावार्थ—'सर्वद्वीप और समुद्रों में' इस वाक्य से ऐसा समझना कि अढ़ाई द्वीपवर्ती संख्यात या असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य और तिर्यंचों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता है किन्तु आगे के द्वीप- समुद्रों में यदि यहाँ के तिर्यंचों को कोई पूर्वभव का वैरी देव उठाकर डाल देवे, तो उन जीवों के सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये पाँचलब्धि

धवलाकार सम्यक्त्व के लिए पाँच प्रकार की लब्धियों का निरूपण करते हैं—"क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय ही होती है।"[२]

(१) क्षयोपशमलब्धि—पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनंतगुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है।

भावार्थ—कर्मों के मैलरूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशमलब्धि होती है।

---

१. कषायपाहुड़ गाथा ९५, ९६। २. धवला पु. ६, पृ. २०३।

(२) विशुद्धिलब्धि—प्रतिसमय अनंतगुणित हीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बंध का निमित्तभूत और असाता आदि कर्मों के बंध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है।

भावार्थ—पहली क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम उसकी जो प्राप्ति वह विशुद्धिलब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

(३) देशनालब्धि—छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

विशेषार्थ—लब्धिसार में कहते हैं कि—"छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ मिलना देशनालब्धि है अथवा उनके द्वारा उपदेशित पदार्थों के धारण करने का लाभ होना यह तृतीय लब्धि है। आचार्य, उपाध्याय आदि छह द्रव्यादि का उपदेश करने वाले हैं उनका जो मिलना है वही देशना की प्राप्ति है अथवा चिर अतीत काल में उपदेशित पदार्थ के धारण करने का लाभ होना वह देशनालब्धि होती है। गाथा में 'तु' शब्द है उससे यह अर्थ समझना कि उपदेश करने वालों से रहित नरक आदि पर्यायों में पूर्वभव में सुनकर धारण किया हुआ जो तत्त्वों का अर्थ है उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा यहाँ सूचित किया गया है[१]।"

(४) प्रायोग्यलब्धि—सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंतःकोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पाँचवीं करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर 'अनुभाग को घात करके द्विस्थानीय अवस्थान करना, ऐसा जो कहा है उसका अभिप्राय यह है कि घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता, दारु, अस्थि और शैल सदृश चार प्रकार की होती है। अघातिया कर्मों में दो विभाग हैं—पुण्यप्रकृतिरूप और पापप्रकृतिरूप।

पुण्यप्रकृतियों की अनुभाग शक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत के समान होती है और पापरूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति नीम, कांजीर, विष और हलाहल के समान हीनाधिकता लिये हुए होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रायोग्यलब्धि के द्वारा घातिया कर्मों के अनुभाग

---

१. छद्दव्वणवपयत्थोपदेसयरसूरिपहुदिलाहो जो।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु।।६।।

टीका.....सप्ततत्त्वान्यत्रैवांतर्भूतानि तेषामुपदेशकराः आचार्योपाध्यायादयः, तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति तु शब्देनोपदैशकरहितेषु नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते। (लब्धिसार)

को घटाकर लता और दारु इन दो स्थानों में तथा अघातिया कर्मों की पापरूप प्रकृतियों के अनुभाग को नीम और कांजीर इन दो स्थानों में अवस्थित करता है। इसी को द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं[१]।

लब्धिसार में कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन लब्धि से संयुक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धि को बढ़ाता हुआ आयु के बिना सात कर्मों की अंतःकोड़ाकोड़ी मात्र स्थिति अवशेष कर देता है।....पूर्व में अनुभाग था उसमें अनंत का भाग देने से बहुत भागमात्र अनुभाग को छेदकर अवशेष रहे अनुभाग में प्राप्त करा देता है। इस कार्य को करने की योग्यता की प्राप्ति ही प्रायोग्यलब्धि है। '**विशुद्ध्यया प्रशस्तप्रकृतीनामनुभागखंडनं नास्ति**[२]।' चूँकि विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का अनुभाग खंडन नहीं होता है।

संक्लेश परिणाम वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के जिस समय कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध हो रहा है और उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग प्रदेश का सत्त्व है उस समय उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता नहीं है। ऐसे जघन्य स्थितिबंध आदि तो क्षपक श्रेणी में होते हैं अतः वहाँ तो क्षायिक सम्यक्त्व है पुनः इस सम्यक्त्व की बात ही नहीं उठती। अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सन्मुख होता हुआ यह मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्धि की वृद्धि करता हुआ प्रायोग्यलब्धि के पहले समय से लेकर पूर्वस्थिति बंध के संख्यातवें भाग ऐसी अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण आयु के बिना सात कर्मों की स्थिति बाँधता है। इस प्रायोग्यलब्धि में बहुत सी प्रक्रियाएँ होती हैं उन्हें लब्धिसार तथा धवला ग्रंथ आदि से विस्तारपूर्वक समझना चाहिये।

शंका—सूत्र में केवल काललब्धि ही कही गई है, उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रतिसमय अनंतगुणा हीन अनुभाग की उदीरणा का होना, अनंतगुणित क्रम द्वारा वृद्धिंगत विशुद्धि का होना और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का होना उसी एक काललब्धि में सम्भव है। अर्थात् उक्त चारों लब्धियों की प्राप्ति एक काललब्धि के ही आधीन है[३]।

प्रायोग्यलब्धि में प्रकृति बंधापसरण के ३४ स्थान

चतुर्थ प्रायोग्यलब्धि में ही प्रकृति बंधापसरण के चौंतीस स्थान क्रम से होते हैं। उन चौंतीस स्थानों में कौन-कौन सी प्रकृतियों का व्युच्छेद होता है, उनके नाम देखिये—

१. नरकायु का बंधापसरण,

२. तिर्यंचायु,

---

१. इन चार लब्धियों का वर्णन धवला पु.६, पृ.२०४ के आधार से है।

२. लब्धिसार टीका, गाथा ७। ३. धवला पु. ६, पृ. २०५।

३. मनुष्यायु,
४. देवायु,
५. नरकगति व नरकगत्यानुपूर्वी,
६. संयुक्तरूप से सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण,
७. संयुक्त सूक्ष्म, अपर्याप्त प्रत्येक,
८. संयुक्त बादर, अपर्याप्त साधारण,
९. संयुक्त बादर, अपर्याप्त प्रत्येक,
१०. संयुक्त द्वीन्द्रिय जाति अपर्याप्त,
११. संयुक्त त्रींद्रिय अपर्याप्त,
१२. संयुक्त चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त,
१३. संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त,
१४. संयुक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त,
१५. संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त साधारण,
१६. संयुक्त सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक,
१७. संयुक्त बादर पर्याप्त साधारण,
१८. संयुक्त बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आतप स्थावर,
१९. संयुक्त द्वीन्द्रिय पर्याप्त,
२०. संयुक्त त्रीन्द्रिय पर्याप्त,
२१. संयुक्त चतुरिन्द्रिय पर्याप्त,
२२. संयुक्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त,
२३. संयुक्त तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत,
२४. नीच गोत्र,
२५. अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय,
२६. हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन,
२७. नपुंसकवेद,
२८. वामन संस्थान, कीलकसंहनन,
२९. कुब्जकसंस्थान, अर्द्धनाराचसंहनन,
३०. स्त्रीवेद,
३१. स्वातिसंस्थान, नाराचसंहनन,
३२. न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन,

३३. मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिकआंगोपांग, वज्रवृषभनाराचसंहनन,

३४. अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, अरति, शोक, असाता का बंधापसरण।

ये ३४ बंधापसरण मनुष्य और तिर्यंचों के होते हैं। नारकी व देवों के यथायोग्य कोई-कोई होते हैं सब नहीं।

इन बंधापसरणों में व्युच्छेद को प्राप्त हुई प्रकृतियाँ उपशम सम्यक्त्व होने तक नहीं बंधती हैं। इनमें से बहुत सी प्रकृतियाँ ऐसी भी हैं जो कि आगे के गुणस्थानों में बंधती हैं। जैसे—अस्थिर, अशुभ, असाता आदि छठे तक बंधती हैं, छठे के अंत में उनकी व्युच्छित्ति होती है।

यहाँ खास बात समझने की यही है कि इस प्रायोग्यलब्धि में परिणाम इतने निर्मल हो जाते हैं कि इन उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध रुक जाता है।

यह लब्धि भव्य और अभव्य दोनों में समान है अर्थात् अभव्य भी यहाँ तक स्थिति को पा सकते हैं किन्तु करणलब्धि उनके नहीं हो सकती है।

(५) करणलब्धि—इस प्रकार स्थिति और अनुभागों के कांडक घात को बहुत बार करके **'गुरु के उपदेश के बल से'**[१] अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके भव्य जीवों के योग्य अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है अर्थात् करण नाम परिणामों का है।

इस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

१. अधःप्रवृत्तकरण—जिस भाव में वर्तमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के साथ संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःकरण कहते हैं। इस अधःकरण का काल अंतर्मुहूर्त है और परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं।

२. अपूर्वकरण—जिस काल में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिये हुये अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, उन परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण के विभिन्न समयों में वर्तमान जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते, किन्तु विसदृश या असमान और अनंतगुणी विशुद्धता से युक्त पाये जाते हैं। अधःप्रवृत्तकरण की अपेक्षा इसका काल अल्प है किन्तु परिणाम उससे असंख्यात लोकगुणित हैं।

३. अनिवृत्तिकरण—इसमें एक समयवर्ती जीव के एक ही परिणाम पाया जाता है और एक समयवर्ती अनेक जीवों के भी एक सदृश ही परिणाम पाये जाते हैं। एक कालवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति, भेद या विसदृशता नहीं पायी जाती है इसीलिये उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसके परिणामों की संख्या इसके काल के समयों के समान ही है क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण काल के समय-समय में एक-एक ही परिणाम होते हैं।

---

१. धवला पु. ६, पृ.२०६।

इन तीनों करणों का काल अन्तर्मुहूर्त है तथा प्रत्येक का काल भी अंतर्मुहूर्त है चूँकि अंतर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं। अनिवृत्तिकरण का काल थोड़ा है उससे अपूर्वकरण का काल संख्यातगुणा है, उससे संख्यातगुणाकाल अधःप्रवृत्तकरण का है। पहले अधःप्रवृत्तकरण में गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात नहीं होता है। यहाँ पर समय-समय में अनंतगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है। साता आदि शुभ प्रकृतियों का प्रतिसमय अनंतगुणा चार स्थानरूप अनुभाग बँधता है तथा असाता आदि अशुभ प्रकृतियों का समय-समय प्रति अनंतवें भागहीन अनुभाग बँधता है।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के गुणश्रेणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं। अंतिम अनिवृत्तिकरण काल के समाप्त होते ही अनादि मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों का उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। पुनः उसके प्रथम समय में ही मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। यथा—

'यन्त्र अर्थात् घरटी-चक्की से दले हुए कोदों की तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणामरूप यंत्र से मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य द्रव्यप्रमाण क्रम से असंख्यात गुणा, असंख्यातगुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है।[१]

भावार्थ—जैसे कोदों-धान्य विशेष दलने पर तंदुल, कण और भूसी ऐसे तीन रूप हो जाता है उसी तरह मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य भी उपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्र के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन स्वरूप परिणमन करता है। इस कारण एक मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म के ही तीन भेद कहे हैं।

''सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति के अनंतर और पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है किन्तु अप्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजितव्य है[२]।'

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जो प्रथम ही उपशम सम्यक्त्व का लाभ होता है उसके अंतर्मुहूर्त काल के बाद नियम से मिथ्यात्व का उदय आ जाने से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के बाद कोई नियम नहीं है। सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर यदि मिथ्यात्व का उदय आयेगा तो वह मिथ्यात्व में जायेगा, यदि मिश्र प्रकृति का उदय आ जावे तो तृतीय गुणस्थान में जायेगा और यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जावे तो वेदक सम्यग्दृष्टि हो जावेगा। कदाचित् सम्यक्त्व के काल में ही अनंतानुबंधी में से किसी का उदय आ जाने से सासादन भी हो जावेगा।

---

१. जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।
मिच्छं दव्व तु तिधा, असंखगुणहीण-दव्वकमा।।२६।।(गो.क.)

२. सम्मत्तपढमलंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं।
लम्भस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि।।१०५।। (कषायपाहुड़ सुत्त, पृ. ६३५)

उपशम सम्यक्त्व का जघन्य व उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त ही है।

यह सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त के बाद समाप्त होकर पुनः संख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमियाँ मनुष्य या तिर्यंचों में उसी भव में नहीं हो सकता है चूँकि इसका अंतराल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण

अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

इसमें भी पूर्वोक्त पाँच लब्धियाँ कारण हैं ही हैं किन्तु सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होना यह मुख्य कारण है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी अधःप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं अथवा अनिवृत्तिकरण को छोड़कर दो करण भी होते हैं, कदाचित् बिना करण के भी हो जाता है। जातिस्मरण आदि बाह्य कारण तो सभी के लिये होते ही हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व के कारण

"दर्शनमोहनीय का क्षपण करने के लिए आरम्भ करता हुआ यह जीव कहाँ पर आरंभ करता है?

अढ़ाई द्वीप समुद्रों में स्थित पंद्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन, केवली और तीर्थंकर होते हैं वहाँ उस काल में आरंभ करता है[१] ।।११।।"

कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में दर्शनमोहनीय का क्षय करना प्रारंभ करता है किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियों में से किसी में भी हो सकती है।

धवला टीकाकार ने सूत्र के 'जिन' शब्द से चतुर्दशपूर्वधारियों को अर्थात् श्रुतकेवलियों को लिया है। 'केवली' पद से तीर्थंकर नामकर्म के उदय से रहित सामान्य केवलियों को लिया है और 'तीर्थंकर' पद से साक्षात् तीर्थंकर को लिया है। इनमें से किसी के पादमूल में मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार से प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से तीन करण आदि क्रियायें होती हैं उसी प्रकार से सर्वप्रथम यह जीव अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करणों को करके अनंतानुबंधी का विसंयोजन करता है। अनंतर अंतर्मुहूर्त काल के व्यतीत होने पर पुनः इन तीन करणों द्वारा दर्शनमोहनीय का क्षपण करता है।

"दर्शनमोहनीय के तीन भेदों में सम्यक्त्व प्रकृति के क्षय में कुछ कार्य शेष रहने पर यह कृतकृत्यवेदक कहलाता है। उस समय कदाचित् आयु के पूर्ण होने से मरण को प्राप्त हो जाता है तो

---

१. धवला पु. ६, पृ. २४३।

वह पूर्व में बद्ध हुई आयु के अनुसार किसी भी गति में जाकर वहाँ उस क्षायिक सम्यक्त्व को पूर्ण कर लेता है।'[१]

शंका—केवली, श्रुतकेवली और तीर्थंकर का सान्निध्य सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये बाह्य निमित्त है या अंतरंग ?

समाधान—यह बाह्य निमित्त है। अंतरंग निमित्त तो सात प्रकृतियों का क्षय होना है।

शंका—क्या बाह्य निमित्त इतना बलशाली है कि इसके बिना दर्शनमोह का क्षय न हो सके ?

समाधान—आगम श्रद्धालु के लिये तो यह स्पष्ट ही है। केवली आदि के पादमूल के निकट ही दर्शनमोह और अनंतानुबंधी के नाश करने की योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

शंका—तो इनके दर्शन करने वाले सभी को क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना चाहिए ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पहले ही सूत्रकार श्री पुष्पदंत महर्षि ने कह दिया है कि पंद्रह कर्मभूमियों में किसी भी कर्मभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य होना चाहिए। इससे देव, तिर्यंच, नारकी, भोगभूमिज मनुष्य तथा कर्मभूमिज महिलाओं का भी निषेध हो जाता है।

शंका—पुनः सभी पुरुषों को तो होना चाहिये ?

समाधान—यह भी बात नहीं है, क्योंकि केवली आदि का सानिध्य कारण है, करण नहीं है। कारण होने पर कार्य होवे ही यह नियम नहीं है फिर भी इन कारणों के बिना कार्य का होना सर्वथा असम्भव है।

श्री उमास्वामी आचार्य सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण को कहते हैं।

उत्थानिका—जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ?

सो ही बताते हैं—

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व

तन्निसर्गादधिगमाद्वा (तत्त्वार्थसूत्र अ.१, सू.३)

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगमज इन दो प्रकार से उत्पन्न होता है।

''**प्रश्न**—सम्यग्दर्शन में दो प्रकार की कल्पना नहीं बन सकती; क्योंकि तत्त्वों का ज्ञान हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जैसे कि जब तक रसायन का ज्ञान न हो तब तक उसका श्रद्धान असंभव है। अतः निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है[२]।''

उत्तर—दोनों सम्यग्दर्शनों में अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समान है। इसके होने पर जो बाह्योपदेश के बिना प्रगट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेश से

---

१. धवला पु. ६, पृ. २४७।

२. सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपत्तिः अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत्।।१।।
उभयत्र तुल्ये अंतरंगहेतौ बाह्योपदेशापेक्षानपेक्षभेदाद् भेदः।।५।। (तत्त्वार्थवार्तिक अ.१,सू.३)

होता है वह अधिगमज। लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता में शूरता, क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से नैसर्गिक कहे जाते हैं। यद्यपि इनमें कर्मोदय की अपेक्षा है फिर भी परोपदेश की अपेक्षा न होने से ही यह स्वाभाविक है। वैसे ही यहाँ पर भी सम्यग्दर्शन में परोपदेश की अपेक्षा न होने पर ही निसर्गता स्वीकार की गई है।

प्रश्न—भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा। यदि अधिगमज सम्यक्त्व के बल से समय से पहले मोक्ष प्राप्ति की संभावना हो तभी अधिगमज सम्यक्त्व की सार्थकता है। अतः एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए ?

उत्तर—यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यक्त्व से मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था। पर मोक्ष तो ज्ञान व चारित्र सहित सम्यक्त्व से स्वीकार किया गया है। यहाँ विचार तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणों से उत्पन्न होता है ? उसमें जो बाह्य उपदेश के बिना प्रकट हो वह निसर्गज और जो बाह्य उपदेश को प्राप्त करके प्रकट हो वह अधिगमज है। अतः यहाँ मोक्ष का प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही। कोई भव्य संख्यात काल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात में और कोई अनंतकाल में। कुछ ऐसे भी हैं जो अनंतानंत काल में भी सिद्ध होंगे। अतः भव्य के मोक्ष के काल नियम की बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञान या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं उनके यहाँ 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यंतर कारण सामग्री का ही लोप हो जाएगा।[१]

इस पंक्ति से उन लोगों को अपनी धारणा सुधार लेनी चाहिए जो ऐसा कहते हैं कि 'जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा या मोक्ष जाना होगा तो निमित्त अपने आप उपस्थित हो जावेगा अथवा निमित्त कारण क्या कर सकता है ? इत्यादि। क्योंकि न काल ही मोक्ष का कारण है और न निमित्त ही स्वतः आते हैं किन्तु निमित्तों को तो जुटाने का पुरुषार्थ भी करना पड़ता है।

इन दोनों सम्यग्दर्शनों में भी पाँचों लब्धियों को अंतर्गर्भित समझना चाहिये।

प्रश्न—निसर्गज सम्यक्त्व के बाह्य उपदेश की अपेक्षा न होने से उसमें देशनालब्धि कैसे घटित होगी ?

उत्तर—इसमें भी गुरुओं का लाभ होना अथवा पूर्व के बहुत कुछ काल पहले से उपदेश का निमित्त रहना या पूर्वभव के उपदेश के संस्कार का निमित्त रहना ही देशनालब्धि है अथवा तत्त्वार्थवृत्तिकार

---

१. भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः।।७।।
.....कालनियमाच्च निर्जरायाः।।९।। (तत्त्वार्थवार्तिक अ.१,सू.३)

कहते हैं कि **''नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शनं गुरोरक्लेशकारित्वात् स्वाभाविकमुच्यते न तु गुरुपदेशं विना प्रायेण तदपि जायते।[१]''**

नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी गुरु को क्लेश करने वाला न होने से अर्थात् गुरु को अधिक परिश्रम कराने वाला न होने से स्वाभाविक कहलाता है किन्तु गुरु उपदेश के बिना प्रायः वह भी नहीं होता है।

इस कथन से तो इस निसर्गज सम्यक्त्व में भी गुरु उपदेश विवक्षित है, मात्र इतना ही है कि वह गुरु के किंचित् उपदेश मात्र से हो जाता है। गुरु को उसे समझाने के लिए अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता है।

इसी प्रकार से सभी सम्यग्दर्शनों में बाह्य कारणों की कुछ न कुछ अपेक्षा रहती ही है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः यह समझना चाहिये कि इन दोनों सम्यक्त्व के अंतरंग कारण समान होते हुए भी बाह्य कारणों के भेद से ही ये दो भेद हो गये हैं।

पूर्वकथित जातिस्मरण आदि कारण इन पाँच लब्धियों में गर्भित हैं—

इन पाँच लब्धियों में से किसी एक के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इनमें से पूर्व की चार लब्धियाँ तो कारण हैं और अंतिम लब्धि तो कारण है ही है। पूर्व की चार लब्धियों के होने पर सम्यक्त्व होवे ही यह नियम नहीं है किन्तु उनके बिना कभी भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

प्रश्न—चौथे नरक से लेकर सातवें नरक तक धर्मोपदेश का अभाव होने से तीसरी देशनालब्धि उनमें नहीं पायी जाती है ?

उत्तर—ऐसा नहीं समझना, क्योंकि लब्धिसार में स्पष्ट कहा है कि **'तु' शब्देनोपदेशकरहितेषु नारकादिभवेषु, पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कार-बलात्सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते।**[२] गाथा में आये हुए 'तु' शब्द से ऐसा समझना कि जहाँ उपदेश करने वाले नहीं जा सकते ऐसे नारक आदि भवों में जीवों ने पूर्वभव में शास्त्र को सुनकर जो तत्त्वों का अर्थ अवधारण किया था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ऐसा सूचित किया जाता है।

अतः उन चारों नरकों के नारकियों को पूर्वभव में सुने गये गुरु उपदेश का संस्कार 'देशनालब्धि' रूप से काम में आता है।

प्रश्न—पूर्व में जो जातिस्मरण, वेदनानुभव, धर्मश्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमा और देवर्द्धि निरीक्षण कारण बताये गये हैं वे इन पाँच लब्धियों से रहित ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बन जाते हैं क्या ?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जातिस्मरण, वेदनानुभव, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन इनमें से किसी एक कारण के होने पर धर्म से अनुरागरूप परिणाम होते हैं। उस समय

---

१. तत्त्वार्थवृत्ति, अ.१, सूत्र ३। २. लब्धिसार गाथा ६ की टीका।

असाता आदि अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग घटेगा ही घटेगा और साता आदि शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणारूप में बढ़ेगा ही बढ़ेगा तथा इस प्रक्रिया के होने पर कर्मों की स्थिति का अंतःकोड़ाकोड़ी सागर में हो जाना व चौंतीस बंधापसरणों के द्वारा तमाम प्रकृतियों का बंध से रुक जाना भी हो जावेगा। अतः इन उपर्युक्त पाँच कारणों में से किसी एक के होने पर क्षयोपशम, विशुद्धि और प्रायोग्य ये तीन लब्धियाँ स्वभावतः हो जावेंगी और देशनालब्धि के लिए तो ऊपर कथित प्रकार से ही समझ लेना चाहिए अर्थात् यदि 'धर्मश्रवण' कारण मिला है तब तो देशनालब्धि स्पष्ट ही है। यदि नहीं मिला तो पूर्वभव में गुरुओं के उपदेश का संस्कार इस भव में इस लब्धिरूप से हो जाता है। 'अथवा तत्त्वों के उपदेष्टा आचार्य, उपाध्याय आदि का मिल जाना भी देशनालब्धि है या बहुत काल पूर्व में यदि उनका उपदेश सुना था और उस उपदेश में कथित पदार्थों के अर्थ का अवधारण किया था तो वह भी उस समय देशनालब्धिरूप माना गया है।' यही बात तो लब्धिसार की टीका में आई हुई हैं। यथा–''**तेषामुपदेशकराः आचार्योपाध्यायादयः, तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थ-धारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति**[१]।''

इस कथन से उनके देशनालब्धि घटित हो जाती है। पुनः उसी समय करणलब्धिरूप परिणाम जो कि कर्मों के उपशम आदिरूप अंतरंग हेतु है उसके होने पर सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है।

प्रश्न—यदि किसी मनुष्य या तिर्यंच को जिनबिम्ब का दर्शन करते ही परिणाम गद्गद हुये या मुनिदर्शन करके अथवा उनका उपदेश सुनकर या जातिस्मरण कारण से धर्म में अनुराग उत्पन्न होकर श्रद्धा उत्पन्न हो गई तो उतने अल्पकाल में इन पाँचों लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

उत्तर—इन लब्धियों का अंतर्मुहूर्त मात्र काल में हो जाना असम्भव नहीं है। यदि सबके पृथक्-पृथक् काल भी अंतर्मुहूर्त होवें तो भी सबका मिलकर भी अंतर्मुहूर्त मात्र काल हो सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि अंतर्मुहूर्त के असंख्यातों भेद होते हैं।

इसलिये सम्यक्त्व के पूर्वोक्त कारणों से जो अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना माना है सो उसमें पाँचों लब्धियों को अंतर्गर्भित मानना चाहिए।

काललब्धि

शंका—क्या काललब्धि के बिना सम्यक्त्व हो सकता है ?

समाधान—नहीं, देखिये—प्रश्न होता है कि "अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव के कर्मोदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए इनका (सात प्रकृतियों का) उपशम कैसे होता है ?" तो श्री पूज्यपाद

---

१. लब्धिसार गाथा ६ की टीका।

स्वामी उत्तर देते हुए कहते हैं कि "**काललब्ध्यादि-निमित्तत्वात्**", काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है।

शंका—काललब्धि किसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म से सहित कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है। इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता, यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि का संबंध कर्मस्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के हो जाने पर प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता नहीं होती है किन्तु जब बंधने वाले कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

एक काललब्धि भव की अपेक्षा होती है—"जो भव्य जीव है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्द से जातिस्मरण आदि को ग्रहण करना चाहिये[१]।"

काललब्धि में पूर्वोक्त पाँचों लब्धियाँ गर्भित हैं

शंका—जब काललब्धि के बिना सम्यक्त्व नहीं होता है तो पुनः पूर्व में कही गई पाँच लब्धियों की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वे लब्धियाँ आवश्यक हैं ही हैं। हाँ, जब काललब्धि मात्र कही जाती है तब उसमें ये लब्धियाँ अंतर्गर्भित ही समझी जाती हैं। सो ही धवलाकार कहते हैं—

शंका—सूत्र में एक काललब्धि ही प्ररूपित की गई है; उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रतिसमय अनंतगुणहीन अनुभाग की उदीरणा का, अनंतगुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का उसी एक काललब्धि में होना सम्भव है अर्थात् उक्त चारों (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य) लब्धियों की प्राप्ति काललब्धि के ही आधीन है, अतः वे चारों लब्धियाँ काललब्धि में अंतर्निहित हो जाती हैं।[२]"

इस प्रकार से इन पाँचों लब्धियों के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति असम्भव है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ.२, सूत्र ३। २. धवला पु. ६, पृ.२०५।

उपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन ही होता है अतः वह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पाँच के उपशम से होता है। सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कदाचित् मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना हो जाने पर पाँच प्रकृतियों के उपशम से भी होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त ही है।

कषायपाहुड़सुत्त में दर्शनमोह की उपशमन विधि के अनंतर सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण किया है सो देखिये—

सम्यक्त्व का लक्षण

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा[१]।।१०७।।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

यह गाथा महान् ऋषिप्रवर श्री गुणधर आचार्य की है। ये आचार्य षट्खंडागम सूत्र के रचयिता ग्रंथकार श्री पुष्पंदत और भूतबलि आचार्य से भी प्रथम हुये हैं। इन्होंने 'कषायपाहुड़' नाम का जो ग्रंथ बनाया है उस पर श्री यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णीसूत्रों की रचना की है तथा श्री वीरसेनाचार्य ने उन मूल गाथा और चूर्णीसूत्रों पर 'जयधवला' नाम से टीका रची है।

इस गाथा को यथास्थान बहुत से आचार्यों ने प्रयुक्त किया है। किन्हीं ने ज्यों की त्यों दे दिया है और किन्हीं ने उसी के अभिप्रायरूप किन्तु कुछ परिवर्तित रूप से दिया है।

यथा—धवला की छठी पुस्तक में यह 'गाथा'[२] ज्यों की त्यों है। धवला की प्रथम पुस्तक में यह गाथा निम्नरूप से है—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा[३]।।११०।।

भगवती आराधना में यह गाथा ज्यों की त्यों है। पुनः आगे कहते हैं—

''सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।३३।।

पुनः सूत्र से सम्यक् अर्थ को दिखाने पर भी जब कोई श्रद्धान नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

---

१. कषायपाहुड़सुत्त अधिकार १०, गा. १०७, पृ. ६३७। २. धवला पु. ६, पृ. २४२।
३. धवला पु. १, पृ. १७४, गोम्मटसार जीवकांड गाथा २७।

शिवकोटि आचार्य की यह भी गाथा ध्यान देने योग्य है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो विहु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो[१]।।३९।।

जो जीव सूत्रनिर्दिष्ट समस्त वाङ्मय का श्रद्धान करता हुआ भी यदि एक पद का व एक अक्षर का भी श्रद्धान नहीं करता है तो वह समस्त श्रुत की रुचि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुये भी नित्य ही अर्थात् जघन्य **अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर** पर्यंत कर्मों की निर्जरा के कारण हैं। इस सम्यक्त्व का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और **उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है तथा मध्यम के अनेक भेद हैं।**

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार से जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हंतों में समान अनंत शक्ति के होने पर भी शांतिनाथ जी शांति के लिए और श्री पार्श्वनाथ जी रक्षा करने के लिए समर्थ हैं' इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है, उसी तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उसी तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुये भी अपने बनवाये हुए मंदिर आदि में 'यह मेरा मंदिर है' और दूसरे के बनवाये हुए मंदिर आदि में 'यह दूसरे का है' ऐसा भाव होवे, उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

लब्धिसार में भी कहते हैं—

सम्मुदये चलमलिणमगाढं सद्दहदि तच्चयं अत्थं।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।१०५।।

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।१०६।।

सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर यह जीव चल, मलिन व अगाढ़रूप से तत्त्वों के अर्थ का श्रद्धान करता है अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व में चल, मलिन, अगाढ़ ये तीन दोष लगते रहते हैं। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् आप स्वयं विशेष अर्थ को नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असत् अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है।

१. भगवती आराधना प्र. आ.।

पुनः कदाचित् किसी अन्य आचार्य के द्वारा गणधर आदि प्ररूपित सूत्र को दिखाकर सम्यक् स्वरूप बतलाए जाने पर भी यदि वह अपनी पूर्व मान्यता को हठ बुद्धि से नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

यहाँ पर '**अजाणमाणो गुरुणियोगा**' इस चरण का अर्थ विशेष महत्त्व रखता है। देखिये टीकाकार के शब्दों में—

'अयं वेदकसम्यग्दृष्टिः स्वयं विशेषमजानानो गुरोर्वचनाकौशलदुष्टाभिप्राय-गृहीतविस्मरणादिनिबंधनान्नियोगादन्यथा व्याख्यानासद्भावं तत्त्वार्थेष्वसद्रूपमपि श्रद्दधाति तथापि सर्वज्ञाज्ञाश्रद्धानात्सम्यग्दृष्टिरेवासौ। पुनः कदाचिदाचार्यांतरेण गणधरादिसूत्रं प्रदर्श्य व्याख्यायमानं सम्यग्रूपं यदा न श्रद्दधाति ततः प्रभृति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, आप्तसूत्रार्थाश्रद्धानात[१]।''

यह वेदक सम्यग्दृष्टि स्वयं विशेष को नहीं समझता हुआ गुरु के वचनों की अकुशलता से, उनके दुष्ट अभिप्राय से अथवा उनके गृहीत अर्थ के विस्मरण आदि के निमित्त से विपरीत व्याख्यान किये गये असद्भाव का तत्त्वार्थों के असत् स्वरूप का भी श्रद्धान कर लेता है फिर भी सर्वज्ञदेव की आज्ञा का श्रद्धान करने से वह सम्यग्दृष्टि ही है। पुनः कदाचित् अन्य आचार्य के द्वारा गणधरादि के सूत्रों को दिखाकर सम्यक् स्वरूप का व्याख्यान किये जाने पर भी यदि वह उस समय उस पर श्रद्धान् नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि आप्त कथित सूत्र के अर्थ का वह श्रद्धान नहीं कर रहा है।

इससे यह समझ लेना चाहिये कि वर्तमान के उपलब्ध जो पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथ हैं, जैसे— धवल, जयधवल, महाधवल, समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, रयणसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, आदिपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, भावसंग्रह, वराँगचरित, वसुनंदिश्रावकाचार आदि। इन ग्रंथों के रचयिता आचार्यों को गुरू मानकर उनके रचित ग्रंथों पर पूर्णतया श्रद्धान रखना चाहिये। यदि उन्होंने गुरूपदेश के विस्मरण से या अज्ञान से अथवा दुष्ट अभिप्राय से भी कुछ कहा होगा तो उस दोष के भागी वे होंगे न कि हम, हम तो गुरु वाक्यों पर दृढ़श्रद्धान रखने से सम्यग्दृष्टि ही बने रहेंगे। चूँकि यह गाथा हमें जो सम्यग्दृष्टि का लक्षण बता रही है उस पर हर एक विद्वानों को लक्ष्य देना उचित है। यह गाथा सामान्य आचार्य के मुख से नहीं निकली है किन्तु श्रीकुंदकुंददेव के भी पहले के एक विशेष महर्षि गुणधरदेव के मुख-कमल से निकली हुई है। वास्तव में इसमें गुरु का एक विशेष ही महत्त्व झलक रहा है। अतः अज्ञायमान गुरु के नियोग से यदि कुछ गलत भी विषय में हमारा श्रद्धान चल रहा है तो वह सही ही है। कब तक ? जब तक कि

१. लब्धिसार टीका, पृ. १५५।

उसके विरोध में कोई आचार्यप्रणीतसूत्र वाक्य नहीं मिल जाते हैं तभी तक। यदि पुनः उन सूत्र वाक्यों को देखकर भी हम अपनी धारणा नहीं बदलते हैं तो उसी समय से हम मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। अतः आगम वाक्य देख लेने के बाद दुराग्रही बनकर अपने सम्यक्त्वरत्न को छोड़ना उचित नहीं है।

क्षायिक सम्यक्त्व

दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनंतानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

'दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर यह जीव उसी भव में या तीसरे अथवा चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है, किन्तु चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता है तथा दूसरे सम्यक्त्वों की तरह यह सम्यक्त्व नष्ट भी नहीं होता।'

क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुतेक उसी भव से मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है अथवा यहाँ से देवपर्याय को प्राप्त कर वहाँ से आकर मोक्ष प्राप्त करने में तृतीय भव हो जाता है। कदाचित् किसी ने सम्यक्त्व होने से पहले नरकायु बाँध ली पुनः सम्यक्त्व हुआ तो भी वह नरक जाकर, वहाँ से आकर मनुष्य होकर मोक्ष चला जायेगा। यदि सम्यक्त्व के पहले तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु बाँध ली है तो क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर भोगभूमियाँ मनुष्य होकर वहाँ से स्वर्ग जाकर पुनः यहाँ आकर मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें चौथे भव में मोक्ष प्राप्त होता है, किन्तु इससे अधिक भव क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं ले सकता है।

'यह सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगम से विरुद्ध श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते। अत्यन्त भयोत्पादक या ग्लानिकारक पदार्थों को देखकर भ्रष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोक उपस्थित होकर भी अपने श्रद्धान से भ्रष्ट करना चाहें तो भी वह भ्रष्ट नहीं होता[१]।'

इस सम्यक्त्व का जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है।

प्रश्न—स्त्रियों में कौन-कौन सम्यक्त्व होते हैं ?

उत्तर—स्त्रियों में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते हैं, क्षायिक नहीं।

प्रश्न—पुनः स्त्रीवेद से क्षपक श्रेणी में आरोहण करना, मोक्ष जाना कैसे होगा ?

उत्तर—वह भाववेद की अपेक्षा कथन है अर्थात् कोई पुरुष द्रव्य से तो पुरुषवेदी है और यदि भाव से स्त्रीवेदी अथवा नपुंसकवेदी है तो वह मोक्ष जा सकता है।यथा—"क्षायिक सम्यक्त्व स्त्रीवेद में भाववेद की अपेक्षा से ही है[२]।"

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६४६, ६४७। २. "क्षायिकपुनर्भाववेदेनैव" टिप्पणी, सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ से प्र.)

शंका—तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बनेगा ?

समाधान—'ऐसा नहीं कहना, क्योंकि भावस्त्रीवेद से युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं है[१]।" अतः द्रव्यस्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

सम्यक्त्व के दो भेद भी होते हैं—निसर्गज और अधिगमज।

निसर्गज सम्यक्त्व—जो सम्यग्दर्शन गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करके उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है। अथवा 'गुरु के अल्प उपदेशमात्र से उत्पन्न हो जाता है' ऐसा पूर्व में कारण के प्रकरण में कहा गया है।

अधिगमज सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व में गुरु का उपेदश प्रमुख है अर्थात् गुरु के उपदेश का अवलंबन लेकर ही यह सम्यक्त्व प्रकट होता है अतः इसको अधिगमज सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व के दश भेद

"वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्र-समुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इस प्रकार से दश प्रकार है[२]।"

१. दर्शनमोह के उपशांत होने से ग्रंथश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहा गया है।

२. दर्शनमोह का उपशम होने से जो निर्ग्रंथलक्षण कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे 'मार्ग सम्यग्दर्शन' कहते हैं अर्थात् निर्ग्रंथ दिगम्बर मोक्ष ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्रद्धान मार्ग सम्यग्दर्शन है।

३. तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे आगम में प्रवीण गणधरदेव ने 'उपदेश सम्यग्दर्शन' कहा है।

४. मुनि के सकलचारित्र को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम 'सूत्र सम्यग्दर्शन' कहा गया है।

५. जिन जीवादि पदार्थों के समूह का तथा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे 'बीजसम्यग्दर्शन' कहते हैं।

६. जो भव्यजीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धान को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शन को 'संक्षेप सम्यग्दर्शन' कहा है।

---

१. धवला पु.१, पृ.३३५।

२. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च।।११।। (आत्मानुशासन)

७. जो भव्यजीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे 'विस्तार सम्यग्दर्शन' से सहित जानो।

८. अंग बाह्य आगमों के पढ़े बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थ श्रद्धान होता है वह 'अर्थ सम्यग्दर्शन' कहलाता है।

९. अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का (सर्वश्रुत का) अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

१०. केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है सो यहाँ 'परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन' इस नाम से प्रसिद्ध है।

इन दशों प्रकार के सम्यक्त्व में से अंत के चार सम्यक्त्वों के अतिरिक्त आदि के छह सम्यग्दर्शन में पाँचों लब्धियों को प्राप्त करके दर्शनमोहनीय का उपशम आदि होना विवक्षित है। अंत के तीन में तो अंग-पूर्व रूप श्रुतज्ञान की अपेक्षा से जो विशेषता आती है वही उन-उन सम्यक्त्व के नाम से विवक्षित है क्योंकि वहाँ तो पहले से सम्यक्त्व विद्यमान ही है। कारण भाव मिथ्यादृष्टि मुनि को अधिक से अधिक ग्यारह अंग तक ज्ञान हो सकता है बारहवें अंग और पूर्वों का नहीं और अंतिम सम्यक्त्व तो केवली भगवान् के पूर्णज्ञान की विवक्षा से ही वर्णित है।

पूर्व के छह सम्यक्त्वों में भी यदि गुरु का उपदेश न मिले तो देशनालब्धि को पूर्वभव के संस्कारवश या गुरु के लाभमात्र आदि रूप से समझ लेना चाहिये।

आज्ञा सम्यक्त्व आदि छह सम्यक्त्वों में बाह्य कारण प्रधान है चूँकि इनमें बाह्य कारणों की अपेक्षा से ही भेद हुआ है तथा विस्तार आदि तीन सम्यक्त्व में श्रुतज्ञानरूप अंतरंग कारण प्रधान है और अंतिम सम्यक्त्व में तो केवलज्ञान की अपेक्षा है।

इस तरह से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक की अपेक्षा से तीन भेद कहे हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा से दो भेद हो गये हैं एवं आज्ञा सम्यक्त्व आदिरूप से दश भेद किये गये हैं।

सराग और वीतराग की अपेक्षा भी सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। अध्यात्म ग्रंथों में इन्हें ही व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व नाम से कहा है।

पूर्वाचार्यों ने सराग अथवा व्यवहार सम्यक्त्व को कहाँ तक माना है और वीतराग अथवा निश्चयसम्यक्त्व कहाँ से शुरू होता है। अब इस विषय पर विशद प्रकाश डाला जाता है।

वीतराग एवं सराग सम्यक्त्व

कषायप्राभृत ग्रंथ में श्री गुणधर आचार्य ने तो दर्शनमोह से उपशम आदि से होने वाले सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारप्रधान किया ही है। यथा—

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा।।१०७।।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व[1] कहने की अपेक्षा यह लक्षण वीतराग सम्यग्दृष्टि का भी हो जाता है क्योंकि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में यह लक्षण संभव ही है और आचार्यों की तो बात ही क्या, अकलंकदेव आदि ने क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा है सो ही आगे दिया है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्[2]।।२।।

वास्तविक पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्री अकलंकदेव कहते हैं—

तद्द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात्।।२९।।

सराग और वीतराग के भेद से वह सम्यक्त्व दो प्रकार का है।

प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।।३०।।

प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इनके द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह प्रथम सराग सम्यग्दर्शन है।

आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।।३१।।

सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यंतिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्व-मित्युच्यते। अत्र पूर्वं साधनं भवति, उत्तरं साधनं साध्यं च[3]।

आत्मा की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यक्त्व है। अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के अत्यंत क्षय हो जाने से जो आत्मा की विशुद्धि मात्र होती है वह वीतराग सम्यक्त्व है। इनमें से सराग सम्यक्त्व साधन है और वीतराग सम्यक्त्व साधन भी है और साध्य भी है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए पुनः कहते हैं—

वीतरागः पुनः सम्यक् क्षायिकं भववारणम्।
सम्यक्त्वं च द्वयं ज्ञेयं सरागं सुखकारणम्।।३२।।

क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है चूँकि वह संसार का नाश करने वाला है तथा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दोनों सम्यक्त्व सराग हैं। ये भी मुक्ति सुख के कारण हैं।

---

१. लब्धिसार टीका पृ. १४४। २. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय–१ सूत्र–२। ३. तत्त्वार्थवार्तिक अ. १, सूत्र २।

सप्तव्यसन त्यागी ही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है

अमृतवर्षिणी टीका–

सम्यग्दृष्टी श्रावक पंच उदुम्बर फल व तीन मकार–मद्य, मांस, मधु इनका त्यागकर मूलगुण को धारण कर सातों व्यसनों का त्याग करने वाला ही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

सात व्यसनों के नाम

–अनुष्टुप्–

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः[१]**।।१६।।**

जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों व्यसन महापाप को उत्पन्न करने वाले हैं अतएव बुद्धिमान पुरुष इनका त्याग अवश्य कर देवें।

संस्कृत में व्यसन का अर्थ दुःख है, जो दुःख के कारण हैं अथवा दुःखरूप ही हैं वे व्यसन कहलाते हैं अथवा व्यसन का अर्थ आदत भी है, जो बुरी आदत जीवन में जल्दी न छूट सके उसे ही व्यसन कहते हैं। इस दृष्टि से ये सातों ही व्यसन जीवन में दुःख के कारण हैं, दुःखरूप हैं और इनमें से यदि एक व्यसन भी जीवन में लग जाये तो उसका छूटना कठिन हो जाता है इसीलिए ये व्यसन नाम से कहे गये हैं। इनका त्याग किये बगैर कोई भी श्रावक नहीं बन सकता है।

सप्तव्यसन के दोष

(१) जुआ के दोष दिखाते हैं

इन व्यसनों में पहला व्यसन जो जुआ है वह अपकीर्ति का स्थान है, चोरी एवं वेश्यासेवन आदि अन्य सर्व व्यसनों का राजा है, समस्त आपत्तियों का खजाना है, पाप का बीज है तथा विषम नरक मार्ग में प्रस्थान कराने के लिए अग्रसर है ऐसा जानकर इस संसार में कौन सा निर्मल बुद्धि वाला मनुष्य इस जुआ व्यसन को स्वीकार करेगा ?

जुआ खेलने से लोक में निन्दा होती है, जुआरियों की संगति से वेश्यासेवन, मदिरापान आदि व्यसन सहज ही लग जाते हैं। जुए में हार जाने से चोरी करने की आदत पड़ जाती है अतएव यह एक जुआ ही सब व्यसनों को कराने वाला मुखिया बन जाता है, जुआ खेलने से दरिद्रता, मूर्खता आदि अपत्तियां स्वयमेव बिना बुलाये आ जाती हैं। सभी पापों में प्रवृत्ति कराने से यह पापों का मूल कारण

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका।

हो जाता है और तो क्या नरक, निगोद आदि दुर्गतियों में ले जाने के लिए अग्रगामी—आगे चलकर मार्ग दिखाने वाला बन जाता है, इन सब दुःखों के स्थानभूत ऐसे जुआ दुर्व्यसन को उत्तम बुद्धि वाले लोग कभी नहीं खेलते हैं। जो जुआ खेलते हैं वे दुर्बुद्धि ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

(२) मांस व्यसन के दोष दिखाते हैं

जो मांस घृणा को उत्पन्न करता है, हिरण आदि प्राणियों के घात से उत्पन्न होता है, अपवित्र है, कृमि आदि नाना कीड़ों का स्थान है, जिसकी उत्पत्ति अत्यंत निंदनीय है, जिसे महापुरुष हाथ से स्पर्श भी नहीं करते और न आंख से देख ही पाते हैं। ऐसा मांस खाने योग्य है ऐसा बोलना भी सज्जन पुरुषों के लिये निंदाजनक है फिर ऐसे अशुचि मांस को जो पुरुष साक्षात् खाता है उसको यहां संसार में कितना पाप होता है ? तथा उसकी क्या अवस्था होती है ? इस बात को हम नहीं जान सकते हैं।

चाहे कच्चा मांस हो, चाहे पकाया हुआ हो, चाहे पकाया जा रहा हो, मांस की डलियों की सर्व ही अवस्थाओं में प्रतिसमय उस-उस जाति के अनंत निगोद जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं इसलिए जो कोई भी कच्चे या पके हुए कैसे भी मांस के टुकड़े को खाता है वह अनेक करोड़ों जीवों की हिंसा का पाप संचित कर लेता है।

इसी प्रकार यह मांस कभी भी किसी स्थिति में भी प्रशंसनीय नहीं हैं प्रत्युत निंद्य ही है।

आज हर किसी निरामिषभोजी—शाकाहारीजनों को बाजार की बनी हुई चीजें, डालडा घी, आदि जिनमें मांस, अंडों की आशंका है ऐसी वस्तुयें न खाना चाहिए, न अपने घर में लाना चाहिए और न अपने बच्चों को ही खिलाना चाहिए।

(३) मदिरा के दोषों को दिखाते हैं

जो मदिरा इस जन्म में समस्त पुरुषार्थों का नाश करने वाली है और अगले भव में अत्यधिक दुःख का हेतु है उस मदिरा को यदि बुद्धिमान मनुष्य नहीं छोड़ते हैं तो पुनः यहां संसार में धर्म के निमित्त अपने लिए हितकर दूसरा कौन सा काम करने के योग्य है ? अर्थात् कोई नहीं है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सर्वजन प्रसिद्ध हैं। मदिरा पीने वाला मनुष्य न तो धर्मकार्य कर सकता है, न इच्छानुसार इन्द्रिय विषयों का भोग ही कर सकता है फिर भला उसके लिए मोक्ष पुरुषार्थ की बात कहां हो सकती है ? वह शराबी मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को समाप्त कर देता है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि शराबी मनुष्य अपना धन, धर्म, स्वास्थ्य और यश इन चारों को नष्ट करके निर्धन, पापी, रोगी और निंदनीय हो जाता है, लोग उसे अपने पास बैठाने में भी बुरा समझते हैं, पुनः खोटे परिणामों से मरकर नरक, तिर्यंच, निगोद आदि दुर्गतियों में चला जाता है वहां अनंत कालों तक दुःख भोगता रहता है। शराब के पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, हिताहित

का विवेक जाता रहता है इसलिए विवेकी पुरुष ऐसी मदिरा को पीना तो दूर रहा छूते भी नहीं हैं और न शराबियों की संगति ही करते हैं।

(४) वेश्यासेवन के दोष दिखाते हैं

जो वेश्यायें मांस खाती हैं, मदिरा पीती हैं, असत्यवचन बोलती हैं, केवल धन प्राप्ति के लिए ही प्रेम करती हैं, धन और प्रतिष्ठा इन दोनों को ही नष्ट कर देती हैं, जो मन में अत्यंत कुटिलता को धारण करने वाली, पापिनी हैं तथा जो हमेशा नीच पुरुषों की लार को पीती रहती हैं ऐसी वेश्याओं को छोड़कर दूसरा कोई नरक नहीं है।

(५) शिकार के दोष दिखाते हैं

जो हिरणी दुःखदायक एकमात्र देहरूप धन को धारण करती हुई वन में रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो स्वभाव से ही सदा भयभीत रहती है तथाा दांतों के मध्य में तृण दबाये हुए है—घास खाती हुई किसी का कुछ भी अपराध—बिगाड़ नहीं करती है। आश्चर्य है कि ऐसी हिरणी मांस के पिंड के लोभी शिकार के व्यसनी जनों के द्वारा मारी जाती है ऐसे शिकार व्यसन में आसक्त हुए लोगों के इस लोक में और परलोक में कौन सा पाप नहीं होता है ?

अपने शरीर में कोई चींटी, मच्छर आदि काट लेवे तो दुःख होता है, मन व्याकुल हो उठता है पुनः निर्दयी मनुष्य कैसे दूसरों पर शस्त्र चला देते हैं, बंदूक आदि के निशाने से गोली मारकर घात कर देते हैं। वास्तव में ये शिकारी अपने मौज और शोक के लिए भी शिकार खेलते हैं जबकि अपने पुत्र, मित्र आदि को दुःखी देखकर सिहर उठते हैं अतएव दयालु मनुष्यों को शिकार खेलने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

(६) चोरी के दोष दिखाते हैं

जो मनुष्य जिसके द्वारा मारा जाता है वह मनुष्य अपने मारने वाले को भी अनेकों बार मारता है। इसी प्रकार जो मनुष्य जिन दूसरे लोगों के द्वारा ठगा जाता है वह निश्चित ही उन लोगों को भी इसी जन्म में और जन्मांतर में भी अवश्य ठगता है। यह बात स्त्री, बाल, वृद्ध आदि जनों में भी प्रसिद्ध है और शास्त्रों में भी स्पष्टतया सुनी जाती है, पुनः लोग हमेशा वंचना—धोखाधड़ी और हिंसा के त्याग में भला क्यों मोह को प्राप्त होते हैं ?

लोग धन के लोभ में चोरी करने की भावना से दूसरों को ठगते हैं यह चोरी ही है। एक बार दूसरों को ठगने वाला मनुष्य जन्म-जन्म में दूसरों के द्वारा ठगाया जाता है। चूँकि पाप का फल तो भोगना ही पड़ता है अतः परवंचना और हिंसा आदि को छोड़ने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। चोरी करना, पर धन चुराना, हड़पना यह छठा व्यसन है।

(७) परस्त्रीसेवन के दोष दिखाते हैं

जो परस्त्री में मन को आसक्त रखने वाले हैं उनके अगले जन्म की बात तो दूर ही रहे इसी जन्म में चिंता, आकुलता, भय, द्वेषभाव, बुद्धि का विनाश, अतीव दाह, संताप, भ्रांति, भूख, प्यास, मन पर आघात, रोगवेदना और मरण ये दुःख प्राप्त होते हैं पुनः जन्मान्तर में इस परस्त्री सेवन के पाप के निमित्त से नरक गति में अग्नि में तपाई हुई लोहमयी पुतली के आलिंगन से चिरकाल तक बहुत दुःख भोगना पड़ता है। आश्चर्य है कि यह व्यसनी जीव उधर ध्यान ही नहीं देता है।

जो मनुष्य अपने से बड़ी महिला को माता, बराबर वाली को बहिन और अपने से छोटी को पुत्री के समान मानकर उनके प्रति विकारभाव को मन में भी नहीं लाता है वही परस्त्री का त्यागी है। यह एकदेश ब्रह्मचर्य व्रत भी महान है। शास्त्रों में परस्त्री लंपट पुरुषों के नीचगति के उदाहरण भरे पड़े हैं। ऐसे ही स्त्रियों के लिए भी अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष भी पिता, भाई और पुत्र के समान हैं ऐसा जो मानती हैं वे ही सीता, मनोरमा आदि के समान पूज्यता को प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी सती महिलाओं के ऊपर ही भारतीय संस्कृति जीवित है।

दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारय संपदा जहारोग्गं।
गुरुसिस्सरयण साहण संपत्तीए तहा मोक्खो।।
आइरिओ वि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।
खेत्त बल काल पुरिसं पाऊण सणिं दढं कुज्जा।।

अर्थ—जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

—मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

''तत्थ पढमे सामाइयं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

व्रत प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप

द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक के लिये जो चार शिक्षाव्रतों में प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है उसका विस्तार भावसंग्रह में है। अर्थात् श्रावक देवपूजापूर्वक ही सामायिक करे ऐसा स्पष्ट है। यही विधि श्री पूज्यपादस्वामी महान आचार्य द्वारा वर्णित अभिषेक पाठ में भी है। ये दोनों प्रमाण यहाँ दिये जा रहे हैं—

सामायिक व्रत का लक्षण

(देवपूजा एवं सामायिक की विधि)

(श्री वामदेव विरचित भावसंग्रह ग्रंथ के आधार से)

सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति।
श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजापुरःसरम्।।१।।

जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात्।
यया संप्राप्यते भव्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।।२।।

प्रतिदिन तीनों संध्या कालों में श्रावक जिनेन्द्र भगवान की पूजापूर्वक सामायिक करे।।१।।

भावार्थ—अन्यत्र भी श्रावकों को सामायिक में जिनेन्द्र भगवान की पूजा का विधान आता है। प्रतिष्ठा शास्त्रों में भी यही विधि है कि विधिवत् सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांतिभक्तिपूर्वक अभिषेक, पूजन करते हुए सामायिक विधि पूर्ण करे, इसी विधि का इसमें बड़ा ही सुंदर स्पष्टीकरण है। श्रावकों की सामायिक देवपूजापूर्वक ही होती है। कहा भी है—**''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।''**

पूजा शास्त्र में कहे गये क्रम से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना चाहिए। उस विधिवत् पूजा से भव्य जीवों को निरंतर—नित्यस्वरूप मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है।।२।।

सबसे पहले प्रातःकाल में उठकर जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करके शौच-स्नान, आचमन—दंतधावनपूर्वक संपूर्ण प्राभातिक विधि—क्रिया करनी चाहिए।।३।। इसके बाद विद्वान् श्रावक शुद्धस्थान का आश्रय लेकर मंत्र वाले शुद्ध जल से पौर्वाह्निक-संध्या क्रिया को करे अर्थात् स्नान करने के बाद शुद्ध जल से 'संध्यावंदन' मंत्रों के द्वारा संध्या वंदन विधि करे, इसे मंत्र स्नान कहते

हैं।।४।। इस प्रकार से स्नान विधि को करके धुले हुए वस्त्रों को ग्रहण करे। मंत्रों को जानने वाला श्रावक मंत्रस्नान और व्रतस्नान करे।।५।।

इस प्रकार से जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानरूप तीन स्नान को करके तीन शुद्धि से समन्वित होकर मंत्रवित् श्रावक निःसहि निःसहि का उच्चारण करके घर में स्थित जिनमंदिर में प्रवेश करे।।६।। वहाँ मंदिर में पहुँचकर ईर्यापथशुद्धि करके अतिभक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके जिनेन्द्र भगवान के सामने बैठकर पहले निम्नलिखित विधि को करे।।७।। पूजक को सबसे पहले सकलीकरण विधि करना चाहिए। यहाँ उसी की विधि बताते हैं। इसमें सबसे पहले शोषण, अपने अंग में दहन और प्लावन विधि करे, इस प्रकार से मंत्रवित् श्रावक अपने शरीर को पवित्र करे। इसके बाद हस्तशुद्धि करके सकलीकरण विधि पूर्ण करे और कूट बीजाक्षर मंत्रों से दश दिशाओं का बंधन करे।।८-९।।

सभी पूजा-पात्रों को सादर पास में रखकर दर्भाग्नि के प्रज्वलन द्वारा भूमि शुद्धि करे।।१०।। भूमि पूजा को करके बाद में नाग संतर्पण विधि करे और आग्नेय दिशा में क्षेत्रपाल की स्थापना करके उसको अर्घ्य आदि से तृप्त करे।।११।।

पुनः भगवान के अभिषेक करने की स्नानपीठ-अभिषेकपात्र को दृढ़ स्थापित करके शुद्ध जल से प्रक्षालित करके उसमें 'श्रीः' बीज को लिखकर गंध, अक्षत आदि से उसकी पूजा करे।।१२।। स्नानपीठ के चारों तरफ चार कलशों का स्थापन करे, जिनकलशों के मुख पर आम्रपल्लव आदि रखे हों और तीर्थ के पवित्र जल से पूर्ण भरे हुए हों।।१३।। मूलवेदी में विराजमान जिनेन्द्र भगवान की सम्यक् प्रकार से अर्चना करके (अर्घ्यादि चढ़ाकर या आरती उतारकर) आह्वानन विधि करके सम्यक् प्रकार से 'स्नानपीठ' पर जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करे।।१४।। वहाँ पर (जलोट या थाल आदि में) विराजमान जिनेन्द्र भगवान की स्थापना और सन्निधापन विधि करे। नीराजन आदि से आरती करके जल, गंध आदि से भगवान की पूजा करे।।१५।।

पुनः आठ दिशाओं में इन्द्र आदि आठ दिक्पालों को, ईशान और पूर्व दिशा के मध्य में धरणेन्द्र को एवं नैऋत और पश्चिम दिशा के मध्य में चन्द्र को स्थापित करे अर्थात् स्नानपीठ के चारों तरफ दश दिक्पालों की स्थापना करे और इन दिक्पालों का आह्वानन आदि करके क्रम से यज्ञभाग दान आदि विधि से उन-उन दिक्पाल के मंत्रों से उन-उनकी दिशाओं में उनको स्थापित करे अर्थात् उन-उन दिशाओं में उन-उनके मंत्रपूर्वक पुष्पांजलि क्षेपण करके अर्घ्य चढ़ावे।।१६-१७।।

पुनः जलकुंभ का समुद्धरण करके अभिषेक विधि प्रारंभ करे, उसमें सबसे पहले जल से अभिषेक करे तत्पश्चात् इक्षुरस, नालिकेर, आम्र आदि के रसों से, घृत से, दुग्ध से, दधि से जिनेन्द्र भगवान का विधिवत् अभिषेक करे।।१८।। पुनः जल से प्रक्षालन करके सच्चूर्ण (अष्टगंधादि) से उद्वर्तन क्रिया को करके (चंदनविलेपन करके) नीराजन विधि—आरती करे और कषाय जल—

सर्वोषधि के द्वारा भगवान का अभिषेक करके जल गंध से पूरित चतुष्कोण कलशों से सुख का इच्छुक श्रावक जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करे।।१९-२०।।

भावार्थ—अन्य किन्हीं-किन्हीं ग्रंथों में चतुष्कोण कलशों के अभिषेक के बाद पंचम कलश से शांतिधारा करने का विधान है। प्रायः यही प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। कहीं-कहीं पंचम कलश से सुगंधित जल से पूर्ण अभिषेक करके पुनः शांतिधारा करके अभिषेक पूर्ण करते हैं।

इस अभिषेक क्रिया के बाद जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के जल—गंधोदक को अपने मस्तक पर लगाकर पश्चात् जल, गंध, अक्षत आदि अष्ट द्रव्यों से अर्हंत भगवान् की प्रतिमा की पूजन करें।।२१।। जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके विसर्जन करके अर्चित की गई जिनप्रतिमा को मूलवेदी में स्थापित कर देवें।।२२।। अब अष्टद्रव्य से जिनपूजा की विधि और फल को बतलाते हैं। मुक्ति के अधिपति जिनेन्द्र भगवान की जल, गंध आदि से आराधना करें। कर्मरज की शांति के लिए जलधारा से भगवान की पूजा करें। सौगंध—सुगंधित शरीर की सिद्धि के लिए गंध से पूजा करें, अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए अक्षतों से, कामबाण विनाश होने के लिए पुष्पों से, सुख संवृद्धि के लिए नैवेद्य से, देह दीप्ति के लिए दीपकों से, सौभाग्य की प्राप्ति के लिए धूप से, मोक्ष फल की प्राप्ति के लिए फलों से पूजा करें। आगे अष्टद्रव्य चढ़ाने के बाद मंगल की प्राप्ति के लिए अर्घ्य, घंटादि मंगल द्रव्यों से जिनदेव की पूजा करें। पुष्प सदृश दंतों की दीप्ति के लिए पुष्पांजलि करके एवं संपूर्ण कर्मों की शांति के लिए तीन शांतिधारा से जिनदेव की पूजा करना चाहिए।।२३-२४-२५-२६।।

भावार्थ—जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल ये अष्ट द्रव्य हैं। इनसे पूजा करके अर्घ्य चढ़ाया जाता है पुनः पुष्पांजलि और शांतिधारा की जाती है। ऐसे ग्यारह प्रकार से जिनदेव की पूजा की जाती है। उत्तरप्रदेश में प्रायः अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य, जयमाला एवं पुष्पांजलि की जाती है किन्तु पूजा शास्त्रों में और दक्षिण प्रांत में अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य, शांतिधारा और पुष्पांजलि करते हैं, यही पूजा विधिवत् है।

इस प्रकार से जो भव्य जीव ग्यारह प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं, वे आठों कर्मों को जलाकर परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।।२७।। पुनः यथावकाश जिनेन्द्र भगवान के सामने ही एक सौ आठ सुगंधित पुष्पों से पंच नमस्कार मंत्र की जाप्य करें।।२८।। अथवा विधिवत् सिद्धचक्र यंत्र का उद्धार-विधिवत् प्रतिष्ठित करके उसकी आराधना जाप्य आदि करें या पंचपरमेष्ठी यंत्र, गणधरवलय यंत्र, चिंतामणि यंत्र आदि यंत्रों की सम्यक् शास्त्रों के उपदेश से पूजा करके उन-उन मंत्रों से क्रम से उनकी जाप्य करें।।२९-३०।।

पुनः उस यंत्र के चंदन से अपने ललाट में तिलक करके 'सिद्धशेषा' को ग्रहण करके बुद्धिमान श्रावक अपने मस्तक पर लगावे।।३१।।

अनंतर भक्ति से भरित होकर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा जिनदेव की स्तुति करे और इस जन्म में आज अपनी आत्मा को कृतकृत्य मानता हुआ संतुष्ट होवे।।३२।। इस प्रकार से अति संक्षिप्त अभिषेक शास्त्र की विधि से जिनदेव का अभिषेक करके जल, गंध, अक्षत आदि के द्वारा अष्टविध पूजा पूर्ण करें।।३३।। अनंतर स्वस्थचित्त होकर अंतर्मुहूर्त मात्र चिदानंदैक लक्षण स्वरूप अपने शरीर में स्थित निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करे।।३४।। इस प्रकार से अवकाश के अनुसार जिनेन्द्र भगवान की अर्चना को करके पुनः उठकर स्तुति करते हुए 'जिनचैत्यालय' में जावें।।३५।।

भावार्थ—गृह में स्थित जिनचैत्यालय की पूजा की है, अब जिनमंदिर में जाकर पूजा करें, ऐसा विधान है।

वहाँ जिनमंदिर में पहुँचकर पूजा करके देवाधिदेव जिनेन्द्र को नमस्कार करके जल, गंध, अक्षत आदि के द्वारा श्रुत—जिनवाणी की पूजा करके साधु के चरणों को नमस्कार करके विधिवत् गुरु की पूजन करके आर्य—ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकाओं की विधिवत् विनय, वंदामि आदि करके परस्पर में साधर्मी श्रावकों के साथ इच्छाकार करके पुनः गुरु के पास बैठकर वह बुद्धिमान श्रावक सच्चे धर्म के उपदेश को श्रवण करे।।३६-३७-३८।।

जैनदर्शनावलम्बी जनों को यथाशक्ति दान देना चाहिए और दयागुण की वृद्धि के लिए दयादान करना चाहिए।।३९।।

एवं सामायिक सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी।
दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः।।४०।।

इस प्रकार से जो गृहस्थ सामायिक विधि को सम्यक् प्रकार से विधिवत् करता है वह कुछ दिनों में ही मुक्तिश्री का पति हो जाता है।।४०।।

यहाँ तक अभिषेक एवं देवपूजापूर्वक सामायिक विधि बतलाई गई है।

भावार्थ—यहाँ जो सामायिक विधि में प्रातः पूजन क्रिया पर विशेष प्रकाश डाला है, उसकी विधि संध्यावंदन, सकलीकरण, पूजामुखविधि, पंचामृत अभिषेक पाठ, पूजन, पूजाअन्त्यविधि इन छह प्रकारों से उनका अलग-अलग वर्णन है। प्रत्येक विधि के मंत्र, प्रयोग व विधि को जम्बूद्वीप पूजांजलि में लिखा है। वहीं से समझकर विधिवत् सामायिक (पूजन) करना चाहिए।

नित्यपूजा की विधि आगम के आधार से—**'पंचामृत अभिषेकपाठ संग्रह'** पुस्तक में प्रकाशित श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित 'पंचामृत अभिषेक' में जो विधि है उसमें नित्यपूजा अभिषेक के साथ जो भक्ति पढ़ने के विधान हैं वही श्रावकों की सामायिक विधि है। पंचामृत अभिषेक पाठ सिद्धान्त ग्रंथों में भी मान्य है।

श्रावकों की देवपूजा में चार कृतिकर्म होते हैं

श्रावकों के बारह व्रतों में चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक है। इस सामायिक की विधि में जो कृतिकर्म विधि है, उसका विस्तार से स्पष्टीकरण आचारसार, मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों में साधुओं के लिए है वहाँ सामायिक अपरनाम देववंदना में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति के दो कृतिकर्म माने हैं। जिनकी प्रयोगविधि 'क्रियाकलाप', 'मुनिचर्या' आदि पुस्तकों में प्रकाशित है। उसी प्रकार श्रावकों के लिए सामायिक में देवपूजा करने का विधान 'भावसंग्रह' ग्रंथ व श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित अभिषेक पाठ में वर्णित है। इसमें श्रावकों के लिए देवपूजा में चार भक्ति–सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति व शांतिभक्ति पढ़ने का विधान है। अतः श्रावकों की सामायिक में चार कृतिकर्म होते हैं।

नित्य पूजा के प्रारम्भ में करने योग्य विधि—

श्री आचार्य पूज्यपादस्वामी के शब्दों में—

श्री पूज्यपादस्वामी ने अभिषेक पाठ में प्रारंभ में दो श्लोक दिये हैं जिनमें नित्यपूजा के प्रारंभ में करने योग्य विधि का संकेत दिया है पुनः अंत में पैंतीस से चालीस श्लोकों में से अंत में चार श्लोकों में अभिषेक के बाद में करने योग्य पूजा, मंत्र–जाप, यक्ष–यक्षी आदि के अर्घ को करने का आदेश दिया है।

इस प्रकार श्री पूज्यपादस्वामी के कहे अनुसार सर्वविधि मुझे "प्रतिष्ठातिलक" नाम के ग्रंथ में देखने को मिली।

इस "प्रतिष्ठातिलक" में "नित्यमह[१]" नाम से जो विषय है उसमें सर्वप्रथम मंत्रस्नान विधि दी गई है। इसे ही अन्यत्र "संध्यावंदनविधि[२]" कहते हैं।

श्रावकों को नित्य ही "जलस्नान" के बाद शुद्ध वस्त्र पहनकर एक कटोरी में जल लेकर यह "मंत्रस्नान" विधिवत् करना चाहिए। इस "संध्यावंदन" को पं. लालाराम जी शास्त्री ने भी छपाया था और "पुरंदर व्रत विधान" में ब्र. सूरजमल जी ने भी छपाया है। श्रावकों के लिये शास्त्र में तीन स्नान माने हैं। जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नान। "अभिषेक–पाठ संग्रह" ग्रंथ में भूमिका में पूजाविधि में तीनों स्नान के मंत्र अलग–अलग दिये हैं। उसमें व्रतस्नान का मंत्र निम्नप्रकार है—

"ॐ ह्रीं हूँ श्रीं नमः अणुव्रतपंचकं गुणव्रततत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय–सर्वसाधून् साक्षीकृत्य सम्यक्त्वपूर्वकं सुव्रतं दृढव्रतं समारूढं भवतु मह्यं स्वाहा।"

---

१. प्रतिष्ठातिलक पृ. १८।

२. यह 'संध्यावंदन', 'मंडलविधान प्रारंभ विधि एवं हवन विधि' पुस्तक में छपी है।

इस प्रकार तीनों स्नान से शुद्ध होकर जिनमंदिर में पहुँचकर अभिषेक-पूजा करने के लिये पूजामुखविधि करें। इसी ग्रंथ के आधार से पूजामुखविधि[१] मैंने संक्षेप में जम्बूद्वीप पूजांजलि में दी है। इसमें सकलीकरण भी शामिल है। उसे वहाँ नहीं दिया है।

उसी पूजांजलि में यहाँ "पंचामृत अभिषेक पाठ" श्री पूज्यपादस्वामी का दिया है। इसके बाद नवदेवता पूजन देकर "पूजाअन्त्यविधि[२]" दी है। यह भी "प्रतिष्ठातिलक" के आधार से संक्षिप्त करके दी है।

पूजामुखविधि और पूजाअन्त्यविधि को संस्कृत में देकर पुनः इन दोनों का पद्यानुवाद भी दे दिया है। जिससे हिन्दी में विधि करने वालों को भी सुविधा मिलेगी।

पूजामुखविधि में जो क्रिया है वह सब श्री पूज्यपादस्वामी के अभिषेक पाठ के प्रारंभिक श्लोकों के अनुसार ही है सो देखिये—

आनम्यार्हंतमादावहमपि विहितस्नानशुद्धिः पवित्रैः।
तोयैः सन्मंत्रयंत्रैर्जिनपतिसवनाम्भोभिरप्यात्तशुद्धिः।।
आचम्यार्घ्यं च कृत्वा शुचिधवलदुकूलान्तरीयोत्तरीयः।
श्रीचैत्यावासमानौम्यवनतिविधिना त्रिःपरीत्य क्रमेण।।१।।

द्वारं चोद्घाट्य वक्त्राम्बरमपि विधिनेर्यापथाख्यां च शुद्धिं।
कृत्वाहं सिद्धभक्तिं बुधनुतसकलीसत्क्रियां चादरेण।।
श्री जैनेन्द्रार्चनार्थं क्षितिमपि यजनद्रव्यपात्रात्मशुद्धिं।
कृत्वा भक्त्या त्रिशुद्ध्या महमहमधुना प्रारभेयं जिनस्य।।२।।

"पूजा अभिषेक के प्रारंभ में स्नान करके शुद्ध हुआ मैं अर्हंतदेव को नमस्कार करके पवित्र जलस्नान से, मंत्रस्नान से और व्रतस्नान से शुद्ध होकर आचमन कर, अर्घ्य देकर, धुले हुए सफेद धोती और दुपट्टे को धारण कर, वंदना विधि के अनुसार तीन प्रदक्षिणा देकर जिनालय को नमस्कार करता हूँ।

तथा द्वारोद्घाटन कर और मुख वस्त्र हटाकर विधिपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि करके, सिद्धभक्ति करके, सकलीकरण करके, जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए भूमिशुद्धि, पूजा द्रव्य की शुद्धि, पूजा पात्रों की शुद्धि और आत्मशुद्धि करके भक्तिपूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि से अब जिनेन्द्रदेव का महामह अर्थात् अभिषेक पूजा प्रारंभ करता हूँ।

इस कथित विधि के अनुसार आचार्य श्री नेमिचंद्र कृत प्रतिष्ठातिलक में क्रम से सर्व विधि का वर्णन है। प्रारंभ में जलस्नान के अनंतर "मंत्रस्नान" विधि का वर्णन है। अनंतर "पूजामुखविधि" शीर्षक में मंदिर में प्रवेश करने से लेकर सिद्धभक्ति तक का वर्णन है अर्थात् मंदिर में प्रवेश करना,

१. प्रतिष्ठातिलक, पृ. २६। २. प्रतिष्ठातिलक, पृ. ७७।

प्रदक्षिणा देना, जिनालय की तथा जिनेन्द्रदेव की स्तुति करना, ईर्यापथ शुद्धि करके सकलीकरण करना, द्वारोद्घाटन, मुखवस्त्र उत्सारण (वेदी के सामने का वस्त्र हटाना) पुनः सामायिक विधि स्वीकार कर विधिवत् कृत्य विज्ञापना करके सामायिक दंडक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि करके लघु सिद्धभक्ति करना यहाँ तक पूजामुखविधि होती है।

पुनः विधिवत् अभिषेक करने का विधान है। अनंतर नित्य पूजा के बाद अंत में जो विधि करनी चाहिये उसके लिये "अभिषेक पाठ" में ही अंत में चार श्लोक दिये गये हैं उन्हें देखिये—

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिरपि प्रार्च्यभूभागमन्यं।
पूर्वोक्तैर्मंत्रयंत्रैरिव भुवि विधिनाराधनापीठयंत्रम्।।
कृत्वा सच्चंदनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्।
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदिशि गुरून् मंत्ररूपान् निधाय।।३७।।

जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिक्पत्रमध्ये लिखित्वा।
बाह्ये कृत्वाथ चूर्णैः प्रविशदसदकैः पंचकं मंडलानाम्।।
तत्र स्थाप्यास्तिथीशा ग्रहसुरपतयो यक्षयक्ष्यः क्रमेण।
द्वारेशा लोकपाला विधिवदिह मया मंत्रतो व्याह्वियन्ते।।३८।।

एवं पंचोपचारैरिह जिनयजनं पूर्ववन्मूलमंत्रे-
णापाद्यानेकपुष्पैरमलमणिगणैरंगुलीभिः समंत्रैः।।
आराध्यार्हंतमष्टोत्तरशतममलं चैत्यभक्त्यादिभिश्च।
स्तुत्वा श्रीशांतिमंत्रं गणधरवलयं पंचकृत्वः पठित्वा।।३९।।

पुण्याहं घोषयित्वा तदनु जिनपतेः पादपद्मार्चितां श्री-
शेषां संधार्य मूर्ध्ना जिनपतिनिलयं त्रिःपरीत्य त्रिशुद्ध्या।
आनम्येशं विसृज्यामरगणमपि यः पूजयेत् पूज्यपादं
प्राप्नोत्येवाशु सौख्यं भुवि दिवि विबुधो देवनंदीडितश्रीः।।४०।।

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की पूजाविधि को पूर्ण करके पूर्वोक्त मंत्र-यंत्रों से विधिपूर्वक आराधनापीठ यंत्र की पूजा करे। पुनः चंदन आदि के द्वारा आठ दल का कमल बनाकर कर्णिका में श्री जिनेन्द्रदेव को स्थापित कर पूर्वदिशा में सिद्धों को, शेष तीन दिशा में आचार्य, उपाध्याय और साधु को विराजमान करके पुनः विदिशा के दलों में क्रम से जैनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा और जिनमंदिर को लिखकर बाहर में चूर्ण से और धुले हुये उज्ज्वल चावल आदि से पंचवर्णी मंडल बना लेवे। इस कमल के बाहर पंचदश तिथिदेवता को, नवग्रहों को, बत्तीस इंद्रों को, चौबीस यक्षों को, चौबीस यक्षिणी को तथा द्वारपालों को और लोकपालों को विधिवत् मंत्रपूर्वक मैं आह्वानन विधि से बुलाता हूँ।

इस तरह पंचोपचारों से मंत्रपूर्वक जिन भगवान् का पूजन कर पूर्ववत् मूल मंत्रों द्वारा अनेक प्रकार के पुष्पों से, निर्मल मणियों की माला से या अंगुली से एक सौ आठ जाप्य करके अरहंतदेव की आराधना करें। पुनः चैत्यभक्ति आदि शब्द से पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा स्तवन करके शांतिमंत्र और गणधरवलय मंत्रों को पाँच बार पढ़कर पुण्याहवाचन की घोषणा करना, इसके बाद जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों से पूजित श्रीशेषा/आसिका को मस्तक पर चढ़ाकर जिनमंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके और अमरगण अर्थात् पूजा के लिये बुलाए गए देवों का विसर्जन करके जो व्यक्ति ''पूज्यपाद'' जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है वह ''देवनन्दी'' से पूजित श्री विद्वान् मर्त्यलोक ओर देवलोक में शीघ्र ही सुख को प्राप्त करता है। (३७ से ४०)

पूजामुखविधि-पूजाअन्त्यविधि—जम्बूद्वीप पूजांजलि में पूजामुखविधि व पूजाअन्त्यविधि जो दी गई है वह ''प्रतिष्ठातिलक'' ग्रंथ के आधार से संक्षिप्त में दी गई है। जैसा कि यहाँ श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है। अतः यह पूजामुखविधि करके विधिवत् पंचामृत अभिषेक करें। अनंतर पूजन करके पूजाअन्त्यविधि करके पूजन पूर्ण करें तभी आगमोक्त विधि से पूजा होगी।

देवपूजा सहित सामायिक—पूजामुखविधि करके विधिवत् पंचामृत अभिषेक करें, अनंतर नवदेवता पूजा आदि पूजायें करके पूजाअन्त्यविधि करें। यही श्रावक-श्राविकाओं की प्रातःकालीन सामायिक है। भावसंग्रह (संस्कृत) ग्रंथ में यही विधि बतलाई है और वह श्रावकों के सामायिक के प्रकरण में ली गई है और वहाँ एक पंक्ति आई है कि—

''देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।''

देवपूजा के बिना श्रावकों की सामायिक क्रिया दूर ही है/पूर्ण नहीं होती है। अतः इस विधि के अनुसार पूजा करके सामायिक कर सकते हैं।

दान का फल

पुण्यमित्थमुपात्तं यत् तदभ्युदयलक्षणम्।
दत्वा दातुः फलं दत्ते प्राग् निःश्रेयसलक्षणम्।।२०१

दान का फल बताते हुए राजा श्रेयांस ने कहा कि इस तरह दान देने से जो पुण्य संचित होता है वह दाता के लिए पहले स्वर्गादिरूप फल देकर अन्त में मोक्षरूपी फल देता।।२०१।।

(हरिवंशपुराण, सर्ग, ९, पृ. १८२)

श्रावकों की क्रियायें

अमृतवर्षिणी टीका–

आगम में श्रावकों के लिये चार क्रियायें मानी हैं—**दान, पूजा, शील और उपवास।** इसमें पूजा में पंचामृत अभिषेक, पुष्पवृष्टि, चंदन चर्चन आदि विधि शास्त्र में वर्णित हैं। **सबसे बड़ा प्रमाण कषायपाहुड़ ग्रंथ की टीका जयधवला में इसका वर्णन है।** देखिये–

चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा; छज्जीवविराहणहेउसावयधम्मोवएस-कारित्तादो। तं जहा, दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ; पयण-पायणग्गिसंधुक्कण-जालण-सूदि-सूदाणादिवावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-पु (पुफ) ल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च। कथं सीलरक्खणं सावज्जं ? ण; सदारपीडाए विणा सीलपरिवालणाणुववत्तीदो।कधमुववासो सावज्जो ? ण; सपोट्टत्थपाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो। थावरजीवे मोत्तूण तसजीवे चेव मा मारेहु त्ति साविया णमुवदेसदाणदो वा ण जिणा णिरवज्जा। अणसणोमोदरियउत्तिपरिसंखाण-रसपरिच्चाय-विवित्तसयणासण-रुक्खमूलादावणब्भावासुक्कुदासण-पलियंकद्धू-पलियंक-ठाण-गोण-वीरासण-विणय-वेज्जावच्च-सज्झायझाणादिकिलेसेसु जीवे पयिसारिय खलियारणादो वा ण जिणा णिरवज्जा तम्हा ते ण वंदणिज्जा त्ति ?

एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा, जयवि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जा-सेसकम्माणं बंधाभावादो। वेयणीयस्स वि ण ट्ठिदिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसायपच्चयाभावादो। जोगो अत्थि त्ति ण तत्थ पयडिपदेसबंधाणमत्थित्तं वोत्तुं सक्किजदे ? ट्ठिदिबंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण अज्जियकम्मसंचओ वि अत्थि, उदयसरूवकम्मागमादो असंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचियकम्मणिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्मसंचयाणुववत्तीदो। ण च तित्थयरमण-वयण-कायवुत्तीओ इच्छापुव्वियायो जेण तेसिं बंधो होज्ज, किन्तु दिणयर-कप्परुक्खाणं पउत्तिओ व्व वयिससियाओ।[१]

---

१. कसायपाहुड़ (जयधवला) पृ. १०० से १०२ तक।

आगे शंका—समाधान द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का स्वरूप बतलाते हैं—

शंका—छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत श्रावकधर्म का उपदेश करने वाले होने से चौबीसों ही तीर्थंकर सावद्य अर्थात् सदोष हैं। आगे इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं—दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावकधर्म छह काय के जीवों की विराधना का कारण है क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिराना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।

प्रतिशंका—शील का रक्षण करना सावद्य कैसे है ?

शंकाकार—नहीं, क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है, इसलिए शील की रक्षा भी सावद्य है।

प्रतिशंका—उपवास सावद्य कैसे है ?

शंकाकार—नहीं, क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है, इसलिए उपवास भी सावद्य है।

अथवा 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रसजीवों को ही मत मारो' श्रावकों को इस प्रकार का उपदेश देने से जिनदेव निरवद्य नहीं हो सकते हैं।

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आताप में और खुले हुए स्थान में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण भी जिन निरवद्य नहीं है और इसलिए वे वन्दनीय नहीं है।

समाधान—यहाँ पर उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है—यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं, तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता हे, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बंध नहीं होता है। वेदनीय कर्म का बंध होता हुआ भी उसमें स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर स्थितिबंध और अनुभागबंध के कारणभूत कषाय का अभाव है। तेरहवें गुणस्थान में योग है, इसलिए वहाँ पर प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध के

अस्तित्व का भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्थितिबंध के बिना उदयरूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बंध के व्यवहार का कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकों के और सकलव्रती मुनियों के धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का बंध होता है, जो कि उदयरूप ही हैं, उनसे भी असंख्यातगुणी श्रेणीरूप से वे प्रतिसमय पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता है और तीर्थंकर के मन, वचन तथा काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती है, जिससे उनके नवीन कर्मों का बंध होवे। जिस प्रकार सूर्य और कल्पवृक्षों की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं, उसी प्रकार उनके भी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक अर्थात् बिना इच्छा के समझना चाहिए।

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ।।५४।।

"तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकरों को पुण्यरूप फल प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन, उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं अर्थात् वे दान, पूजा आदि आरंभों का जो उपदेश देते हैं, उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियार जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंते कउ सदोसो।।५७।।

जीव में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं। उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कामों को करता है, वह सदोष कैसे हो सकता है ?

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं।।६०।।

तम्हा चउवीसं पि तित्थयरा णिरवज्जा तेण ते वंदणिज्जा विबुहजणेण।

सुरदुंदुहि-धय-चामर-सीहासण-धवलामलछत्त-भेरि-संख-काहलादिगंथ-कंथंतो वट्टमाणत्तादो तिहुवणस्सोलंगदाणदो वा ण णिरवज्जा तित्थयरा त्ति णासंकणिज्जं, घाइचउक्काभावेण पत्तणवकेवललद्धिविरायियाणं सावज्जेण संबंधाणुववत्तीदो। एवमायिए चउवीसतित्थयरविसयदुण्णये णिराकरिय चउवीसं पि तित्थयराणं थवणविहाणं णाम-ट्ठवणा-दव्व-भावभेएण भिण्णं तत्फलं च चउवीसत्थओ परूवेदि।[१]

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र के जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है, तब उनके पाप कैसे संभव है ?।।६०।।

---

१. कसायपाहुड़ (जयधवला)।

इसलिए चौबीसों तीर्थंकर निरवद्य हैं और इसीलिए वे विबुधजनों से वन्दनीय हैं।

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि तीर्थंकर सुरदुंदभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, धवल और निर्मल छत्र, भेरी, शंख तथा काहल (नगारा) आदि परिग्रहरूपी गूदड़ी के मध्य विद्यमान रहते हैं और वे त्रिभुवन के व्यवस्थापक हैं अर्थात् त्रिभुवन को सहारा देते हैं, इसलिए वे निरवद्य नहीं है, सो उसका ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चार घातिकर्मों के अभाव से प्राप्त हुई नौ केवललब्धियों से वे सुशोभित हैं इसलिए उनका पाप के साथ संबंध नहीं बन सकता है। इत्यादिक रूप से चौबीसों तीर्थंकर विषयक दुर्नयों का निराकरण करके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से भिन्न चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन के विधान का और उसके फल का कथन चतुर्विंशतिस्तव करता है।

मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से मत सींचो

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेइ पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण।।68।।

(श्री देवसेन सूरि)

यहाँ मन को वृक्ष की उपमा दी है। जिस प्रकार वृक्ष में दो बड़ी शाखाएं होती हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाएं हैं। जिस प्रकार वृक्ष की बड़ी शाखाओं से उपशाखाएं निकलकर वृक्ष को विस्तृत करती हैं उसी प्रकार रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाओं से विषयेच्छा रूप अनेक उपशाखाएं निकलकर मनरूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फल निकलते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में भी संकल्प-विकल्परूप अनेक फल लगते हैं और जिस प्रकार वृक्ष को जल से सींचकर हरा-भरा किया जाता है उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से हरा-भरा रखा जाता है। आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं कि-हे क्षपक! तू इस मनरूपी वृक्ष को निर्मूल कर दे, इसकी उपशाखाएं काटकर इसे विस्तार से रहित कर दे, यही नहीं इनकी रागद्वेषरूपी शाखाओं को काट डाल, ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे अब इसमें संकल्प-विकल्परूपी फल न लगें तथा इसे अब मोहरूपी जल से सींचना बंद कर दे। ऐसा करने से यह मनरूपी वृक्ष स्वयं उखड़ जायेगा।

श्रावकों की छह आवश्यक क्रियाओं में देवपूजा

अमृतवर्षिणी टीका–

ग्रंथों में श्रावकों की छह आवश्यक क्रियायें वर्णित हैं—

देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनके सिवाय भी छह क्रियायें मानी हैं उनके नाम हैं—इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप।

(१) इज्या—इज्या का अर्थ पूजा है इसके पाँच भेद हैं—नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, आष्टाह्निक और ऐन्द्रध्वज।

नित्यपूजा—प्रतिदिन घर से जल, चंदन, अक्षत आदि ले जाकर मंदिर में भगवान अर्हन्तदेव की पूजा करना नित्यपूजा है। इसी प्रकार मंदिर निर्माण कराना, जिनप्रतिमा बनवाना, मुनियों को आहारदान देना, पूजा करना आदि नित्यपूजा में शामिल है। 'मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख, सर्वतोभद्र या महाभद्र कहते हैं। समस्त याचकों को किमिच्छक—इच्छानुसार दान देते हुए जो चक्रवर्ती के द्वारा जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम कहते हैं। नंदीश्वर पर्व में की जाने वाली पूजा नंदीश्वर पूजा है और इंद्र, प्रतीन्द्र आदि के द्वारा की जाने वाली पूजा ऐन्द्रध्वज पूजा कहलाती है।

(२) वार्ता—असि—तलवार आदि शस्त्र, मषि—लिखने का काम, कृषि—खेती, वाणिज्य—व्यापार, विद्या—पढ़ाकर आजीविका और शिल्प—कला, कौशल आदि से आजीविका करना—धन उपार्जन वार्ता है।

(३) दत्ति—दान देने को दत्ति कहते हैं, इसके चार भेद हैं—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति। दुःखी प्राणियों को दयापूर्वक अभयदान देना दयादत्ति है। रत्नत्रयधारक मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना तथा ज्ञान, संयम के शास्त्र, पिच्छी, कमंडलु आदि उपकरण देना, औषधि दान देना और वसतिका देना पात्रदत्ति है। अपने समान आचरण वाले गृहस्थों के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है। अपने निज की संतान परंपरा को कायम रखने के लिए अपने पुत्र को या दत्तक पुत्र को धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है इसे अन्वयदत्ति कहते हैं।

(४) स्वाध्याय—तत्त्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना स्वाध्याय है।

(५) संयम—पांच अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति करना संयम है।

(६) तप—उपवास आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना तप है।

आर्यों के इन षट्कर्म में तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं।

इस प्रकार जो गृहस्थ भगवान की पूजा करते हैं, गुरुओं की भक्ति, विनय करते हुए आहारदान देते हैं, करुणादान आदि देते हैं। धर्मात्माओं में प्रेम करते हैं और तत्त्वों का अभ्यास करने के लिए स्वाध्याय करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम सफल है, वे मोक्षमार्गी हैं। इनसे अतिरिक्त जो गृहस्थ धर्म से शून्य हैं, खाने-पीने में और धन कमाने में ही लगे रहते हैं वे दुःखदायी मोह जाल में फंसे हुए हैं, संसार समुद्र में ही डूब रहे हैं।

गृहस्थ धर्म भी मुक्ति का कारण है

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु।
पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु।।168।।

(परमात्मप्रकाश)

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदिक चार प्रकार का संघ उनको चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया और भूखे जीवों को करुणाभाव से दान नहीं दिया। इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों कर पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की। जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की और तीन लोक कर वंदन योग्य ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे मुक्ति का लाभ कैसे होगा? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय हैं। जिनपूजा, पंचपरमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंग में कही गई जो दान-पूजा वंदनादिक की विधि वही करने योग्य है। शुभ विधि से न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातार के अच्छे गुणों को धारण कर विधि से पात्र को देना, जिनराज की पूजा करना और पंचपरमेष्ठी की वंदना करना ये ही व्यवहारनय कर कल्याण के उपाय हैं।

''सम्मत्तमरणं समाहिमरणं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

सल्लेखना (समाधिमरण का लक्षण)

जिसका प्रतिकार न हो सकता, ऐसा उपसर्ग यदी आवे।
ऐसा अकाल पड़ जावे या, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे।।
अथवा हो रोग असाध्य कठिन, जिससे नहिं धर्म की रक्षा है।
तब करिये सल्लेखना ग्रहण, जो धर्म हेतु तनुत्यजना है।।

अर्थ—जिसको किसी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता ऐसा उपसर्ग यदि आ जावे, ऐसा अकाल पड़ जावे, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे, या कठिन असाध्य रोग हो जावे, ऐसे समय में धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है उसका नाम सल्लेखना है।

सल्लेखना की आवश्यकता

तप का फल यह ही है समझो, जब अंत समाधीमरण मिले।
ऐसा कहते सर्वज्ञदेव, इससे सब धार्मिक कार्य फलें।।
इसलिए सर्वशक्ती पूर्वक, भविजन समाधि के लिए सदा।
अतिशय प्रयत्न करते रहिये, नहिं किंचित् करो प्रमाद कदा।।

अर्थ—सर्वज्ञ देव तप का फल अंत समय समाधिमरण की प्राप्ति को ही कहते हैं, क्योंकि समाधिमरण से ही सब धार्मिक कार्य फलित होते हैं, इसलिए सर्वशक्तिपूर्वक समाधिमरण के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए।

सल्लेखना (समाधिमरण) की विधि

स्नेह वैर और राग मोह, परिग्रह संपूर्ण छोड़ करके।
हो शुद्ध चित्त विधिवत् समाधि, से मरने की वाञ्छा करके।।
प्रिय वचनों से तुम क्षमा करो, स्वजनों को और परजन को भी।
सबसे भी क्षमा करा लेवो, जो कुछ अपराध हुए हों भी।।

अर्थ—स्नेह, वैर, मोह और परिग्रह को छोड़ करके शुद्ध चित्त होते हुए समाधिमरण की इच्छा से प्रिय वचनों द्वारा अपने परिवार व अन्य लोगों से क्षमा याचना करे तथा स्वयं भी सभी के अपराधों को क्षमा करे।

समाधि में आलोचनापूर्वक महाव्रत धारण का उपदेश

जो किया कराया अनुमोदा, ऐसे समस्त भी पापों की।
छल कपट रहित आलोचना विधि, करिये सबही निज दोषों की।।
पुनरपि जीवनपर्यंत पांच, पापों का पूरण त्याग करो।
औ पंच महाव्रत धारणकर, निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त करो।।

अर्थ—जो पाप किये हैं, कराये हैं और उनकी अनुमोदना की है उन सभी पापों की मायाचाररहित सरल भावों से आलोचना करके जीवन भर के लिए पाँचों पापों का पूर्णतया त्याग करके सल्लेखना के समय पाँच महाव्रत धारण कर मुनि बन जाना चाहिए।।१२५।।

महाव्रत ग्रहण के बाद स्वाध्याय करने का उपदेश

स्नेह शोक भय अप्रीति, मन की कालुषता भी तज के।
निज बल उत्साह प्रगट करके, मन को प्रसन्न करिये श्रुति से।।
यह जिन आगम ही अमृत है, जो अतिशय तृप्ती करता है।
पुष्टी तुष्टी करके पुनरपि, इस मृत्यु को भी हरता है।।

अर्थ—शोक, भय, स्नेह, अरति और मन की कलुषता को छोड़ करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके अमृत के समान शास्त्रों से अपने मन को प्रसन्न करना चाहिए क्योंकि जिन–वचनरूपी अमृत अतिशय तृप्ति, पुष्टि और तुष्टि देकर पुनः मृत्यु को भी नष्ट कर देता है।।१२६।।

सल्लेखनाधारी के भोजन के त्याग का क्रम

अन्नादिक भोजन छोड़ प्रथम, दुग्धादिक पेय वस्तु पीना।
स्निग्ध पेय को छोड़ पुनः, बस छाछ गर्म जल या पीना।।
जब क्रम से त्याग किया जाता, तब आकुलता नहिं होती है।
नहिं तन में पीड़ा कष्ट बढ़े, नहिं व्याधि विषमता होती है।।

अर्थ—अन्नादि भोजन को छोड़कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थ को लेवे। पुनः स्निग्ध दूध आदि छोड़कर छांछ या गर्म जल पीना चाहिए। इस तरह क्रम से त्याग करने से आकुलता नहीं होती है तथा शरीर में पीड़ा और व्याधि की विषमता भी नहीं होती है।।१२७।।

सल्लेखना में भोजन त्याग का शेष कथन

कांजी या छाछ गरम जल भी, तज करके यथाशक्ति पूर्वक।
उपवास करे भी जाप करे, बस महामंत्र की रुचिपूर्वक।।

सम्पूर्ण यत्नकर णमोकार, मंत्रादी को जपते जपते।
अंतिम क्षण में तन को छोड़े, प्रभु नाम मंत्र रटते रटते।।

अर्थ—पुनः कांजी, तक्र या गरम जल को भी छोड़कर यथाशक्ति उपवास करना चाहिए और सम्पूर्ण प्रयत्न से महामंत्र का जाप करते हुए अंतिम क्षण में शरीर का त्याग कर देना चाहिये।

सल्लेखना के पांच अतिचार

जीने की हो वाञ्छा मन में, या मरने की होवे वाञ्छा।
मरने से डर मित्रों की स्मृति, आगे भोगों की हो काङ्क्षा।।
ये होते सल्लेखनामरण के, अतीचार जो पांच कहे।
इन अतिचारों को जो तजते, वे क्रम से मुक्ती सौख्य लहें।।

अर्थ—सल्लेखना लेने के बाद जीने की इच्छा करना, कष्ट आदि से घबड़ाकर जल्दी मरने की इच्छा करना, भूख आदि कष्टों से डरना, मित्रों का स्मरण करना और भविष्यकाल में भोगों की वाच्छा करना इस तरह से जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये सल्लेखना के पांच अतिचार होते हैं।

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के लाभ का फल

जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह, रागद्वेष को नष्ट कर देता है वह अल्पकाल में ही सर्व दुःखों से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्तकर व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप तीक्ष्ण खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेष रूप शत्रुओं को मार देता है। वही वीर पुरुष संपूर्ण दुःखों का क्षय करके अनाकुलतारूप, पारमार्थिक सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार यही है कि व्यवहार संयम के द्वारा निश्चय संयम को प्राप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान को प्राप्त करके भी जीव संयमी नहीं हुआ और रागद्वेष मोह का नाश नहीं किया तो पुनः अत्यंत दुर्लभ जिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप चिंतामणि को प्राप्त करके भी वह इच्छित फल रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सका। अतः जिनोपदेश का फल मुक्ति को प्राप्त कर लेना है और उसके लिए संयम ही प्रधान कारण है। ऐसा समझना।

—प्रवचनसार

''पंडियमरणं''

अमृतवर्षिणी टीका–

मरण का लक्षण एवं भेद

मनुष्य आदि पर्याय का नाश होना मरण है। इस मरण के पाँच भेद हैं—पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण।

पंडितपंडितमरण—क्षीणकषाय केवली भगवान् पंडितपंडितमरण से मरण करते हैं अर्थात् केवली भगवान अयोगी होकर इस मनुष्य पर्याय से छूटकर कर्मो से ही छूट जाते हैं पुनः भव धारण नहीं करते हैं।

पंडितमरण—छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त रहने वाले जीवों का जो सल्लेखना मरण है वह पंडितमरण है।

बालपंडितमरण—विरताविरत—देशसंयत के मरण को बालपंडित मरण कहते हैं।

बालमरण—अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है।

बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण, अपघात आदि करके मरण, सब बालबालमरण हैं क्योंकि ये जीव बार-बार मरण करते ही रहते हैं।

''पंडितमरण के तीन भेद है—पादोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रतिज्ञा। अपने पाँवों द्वारा संघ से निकलकर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन है अथवा इसका प्रायोपगमन भी नाम है। इसमें स्व और पर के द्वारा वैयावृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती है। जिस मरण में अपने आप तो वैयावृत्ति कर सकें किन्तु पर के द्वारा वैयावृत्ति न करावें वह इंगिनी-मरण है। इस पंचमकाल में इन दो मरण के योग्य संहनन का अभाव है अतः भक्तप्रत्याख्यान मरण ही होता है। भक्त-आहार का, प्रतिज्ञा-त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान मरण है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट बारह वर्ष का है। अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष के भीतर तक मध्यम के अनेक भेद हैं।[१]''

भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद हैं—सविचार और अविचार। जो साधु या गृहस्थ उत्साह और बलयुक्त हैं जिनका कुछ काल के अनन्तर मरण होगा उनके सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण होता है।

---

१. पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।।२९।। (मूलाराधना)
अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिंगिणीमरणं।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि।।६१।। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)
भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि।
वारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया।।६०।। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

इसके विपरीत अकस्मात् मरण के आ जाने पर पराक्रम सहित साधु का मरण अविचार भक्तप्रत्याख्यान है।

"उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान मरण करने की इच्छा करने वाले मुनि ज्योतिषशास्त्र अथवा निमित्तशास्त्रों से या अन्य किसी भी उपायों से अपनी आयु का निर्णय कर लेते हैं कि हमारी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गई है अथवा इससे कम रह गई है क्योंकि बारह वर्ष से अधिक आयु रहने पर सल्लेखना का नियम नहीं कर सकते हैं।[१]"

आचार्य भक्तप्रत्याख्यान मरण के इच्छुक होते हुए अपनी आयु का निर्णय करके बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं।

ये मुनिराज बारह वर्षों में से प्रारंभ के चार वर्ष तो नाना प्रकार के अनशन, अवमौदर्य, सर्वतोभद्र, एकावली, द्विकावली, रत्नावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि तपों का अनुष्ठान करते हुए पूर्ण करते हैं। आगे के चार वर्ष रस परित्याग नामक तप से पूर्ण करते हैं। पुनः दो वर्ष तक कभी अल्प आहार, कभी नीरस आहार करते हुए बिताते हैं। अनन्तर एक वर्ष तक अल्प आहार लेते हुए पूर्ण करते हैं। आगे छह महीने तक अनुत्कृष्ट तप करते हुए बारह वर्ष पूर्ण कर देते हैं।

सल्लेखना करने वाले आचार्य अपने संघ के समस्त भार को अपने योग्य शिष्य पर डालकर अर्थात् उसे आचार्य बनाकर सारी व्यवस्था संभालकर आप सल्लेखना कराने में कुशल ऐसे आचार्य की अन्वेषणा करते हैं क्योंकि अपने संघ में रहने से शिष्यों के प्रति स्नेहभाव अथवा आज्ञा उल्लंघन से कषायभाव होना स्वाभाविक है।

अन्य संघ में पहुँचकर आचार्य इस संघ के आचार्य को अपना अभिप्राय प्रगट करते हैं। यह संघ भी आगन्तुक साधु को बड़ी भक्ति और वात्सल्य से आश्रय देते हैं। जो सल्लेखना कराने वाले आचार्य होते हैं उन्हें निर्यापक आचार्य कहते हैं और सल्लेखना कराने वाले आचार्य या साधु को क्षपक कहते हैं।

निर्यापकाचार्य क्षपक के लिए सल्लेखना योग्य क्षेत्र को देखकर वसतिका को भी आगम के अनुकूल देखकर वहाँ सल्लेखना ग्रहण कराते हैं। लकड़ी का पाटा, घास (चटाई) या पाषाण की शिला आदि को संस्तर कहते हैं। क्षपक के योग्य संस्तर बनाकर शुभमुहूर्त में आचार्य विधिवत् क्षपक को संस्तर ग्रहण कराते हैं अर्थात् बारह वर्ष की सल्लेखना में से जब एक माह, पन्द्रह दिन काल लगभग शेष रह जाता है, तब संस्तर ग्रहण कराकर सल्लेखना कराई जाती है।

---

१. ज्योतिःशास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तक्षणात्।
प्रश्नाच्चायचयग्रहावलिंबलक्षीणत्वसंप्रेक्षणात्।।
प्रश्नस्याक्षरलक्षणेक्षणवशात्कालागमास्वायुषो।
मानं द्वादशवर्षसंमितमतो हीनं च निश्चित्य सः।।३।। (आचारसार पृ. २५७)

एक मुनि की सल्लेखना में ४८ मुनियों की आवश्यकता—

एक मुनि की सल्लेखना के समय अड़तालीस[१] मुनियों की आवश्यकता होती है जो कि ग्लानि और प्रमादरहित वात्सल्यभाव से क्षपक मुनि की शुश्रूषा करते हैं। हाथ पैर दबाना, चलते समय सहारा देना, संस्तर पर लेटते समय सहारा देना, करवट बदलना आदि वैयावृत्ति करते हैं।

यदि सर्वोत्कृष्ट गुण विशिष्ट आचार्य न मिले तो उपाध्याय मुनि निर्यापक बनते हैं। यदि वे भी न हों तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बाल आचार्य यत्न से व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए निर्यापक आचार्य बन सकते हैं। जो ज्ञान से अल्प हैं परन्तु संघ की मर्यादा के ज्ञाता मुनि प्रवर्तक हैं और चिरदीक्षित मुनि साधु हैं ये भी सल्लेखना करा सकते हैं।

वर्षाकाल में नाना प्रकार के तपों का अनुष्ठान करके सुख से जिसमें उपवास आदि किये जा सकते हों, ऐसे हेमंत[२] ऋतु में संस्तर का आश्रय लेता है।

ये अड़तालीस यति क्या-क्या उपकार करते हैं ?

चार मुनि क्षपक को उठाना, बिठाना आदि सेवा का काम, संयम में बाधा न आवे, इस प्रकार से करते हैं।

चार मुनि क्षपक को धर्मश्रवण कराते हैं।

चार मुनि आचारांग के अनुकूल क्षपक को आहार कराते हैं।

चार मुनि क्षपक के लिए आहार में पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं।

चार मुनि निष्प्रमादी हुए आहार की वस्तुओं की देखभाल करते हैं।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को स्वच्छ करते हैं।

चार मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं अर्थात् असंयत आदि अयोग्य जनों को अन्दर जाने से रोकते हैं।

चार मुनि उपदेश मंडप के द्वार के रक्षण का भार लेते हैं।

निद्रा विजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण करते हैं।

चार मुनि जहाँ संघ ठहरा है उसके आस-पास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं।

चार मुनि आये हुए दर्शनार्थियों को सभा में उपदेश सुनाते हैं।

चार मुनि धर्म कथा कहने वाले मुनियों की सभा की रक्षा का भार लेते हैं।[३]"

---

१. कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवंता अडतालीसं तु णिज्जवया।।६४८।।

२. एवं वासास्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं।
संथारं पडिवज्जदि हेमन्ते सुहविहारम्मि।।६३१।। (मूलाराधना, पृ. ८३२)

३. गाथा ६४९ से ६७२।

ऐसे ये अड़तालीस मुनि क्षपक की सल्लेखना में पूर्णतया सहयोग देते हैं। आचार्य कहते हैं कि भरत आदि क्षेत्र में यदि इतने मुनि कदाचित् नहीं हों, तो चवालीस, चालीस आदि चार-चार कमती करते हुए कम से कम चार मुनि तो अवश्य ही होने चाहिए। "कदाचित् चार मुनि भी न मिल सकें, तो दो मुनि अवश्य ही होना चाहिए, क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है। बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि हो जाती है।[१]"

"कोई मुनि समाधिमरण कर रहे हैं, ऐसा सुनकर अन्य संघ के साधु भी बड़ी भक्ति से उन क्षपक के दर्शन हेतु आते हैं। यदि अन्य साधु नहीं आते हैं, तो समझना चाहिए कि उनकी उत्तमार्थ मरण में भक्ति नहीं है और जिनकी उत्तमार्थ मरण में भक्ति नहीं है वे साधु मरणकाल में सल्लेखना को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् अपना समाधिमरण करने हेतु साधुओं की समाधि को बार-बार देखना चाहिए, कराना चाहिए और उनके दर्शन करके समाधिमरण विधि सीखना चाहिए क्योंकि यदि एक भव में भी समाधिमरण मिल जाता है तो वह जीव सात-आठ भव में ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इससे अधिक संसार में भ्रमण नहीं करता है।[२]"

चातुर्मास के प्रसंग में साधु बारह योजन (९६ मील) तक सल्लेखना कराने हेतु या क्षपक के दर्शन हेतु जा सकते हैं ऐसी आगम की आज्ञा है। यथा-वर्षाऋतु में देव और आर्षसंघ संबंधी कोई बड़ा कार्य तथा शीतकाल में और ग्रीष्मकाल में छोटा कार्य आ उपस्थित हुआ हो तो उस कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु चला जाये तो वह दोषी नहीं है, बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।[३]"

---

१. णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेव कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते।।६७३।।
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि।।६७४।। (मूलारा. पृ. ८६४)

२. सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिराएण।
भोत्तूण य देवसुहं सो पाइव उत्तमं ठाणं।।६८१।।
एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
णहु हिंडपि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण।।६८२।।
सोदूण उत्तमट्ठस्स साधणं तिव्वभत्तिसंजुत्तो।
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती।।६८३।।
जत्थ पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स।
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि।।६८४।। (मूलाराधना पृ. ८७०)
एगम्हि भवग्गहणे समाहिमरणं लभेज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि।। (मूलाचार)

३. वर्षास्वतुच्छकार्येण हिमे ग्रीष्मे लघीयसि।
योजनानि दश द्वे च कार्ये गच्छन्न दोषभाक्।। (प्राय. समु. पृ. ४९)

क्षपक के पास में अधिक बोलने वाले आगमविरुद्धभाषी या विकथा आदि करने वाले साधु तथा श्रावक नहीं जा सकते हैं। व्यवस्था करने वाले साधु उन्हें बाहर ही रोक देते हैं।

परिचारक मुनि क्षपक को ऐसा उपदेश सुनाते हैं कि जिससे वे अपने चारित्र में पूर्णतया दृढ़ बने रहते हैं। रोग, वेदना आदि की व्याकुलता से अधीर नहीं होने पाते हैं। "परिचारक साधु क्षपक को तेल और कषायलें पदार्थों के कुल्ले कराते हैं कि जिससे उनकी जिह्वा स्वच्छ रहे, बोलने की सामर्थ्य नष्ट नहीं होवे। कान में भी तेल डालते रहने से श्रवण शक्ति नष्ट नहीं होती है।[१]"

निर्यापकाचार्य जब अच्छी तरह क्षपक के वैराग्य को और शरीर स्थिति को देख लेते हैं तब उसे पेय—मट्ठा, जल आदि रखकर बाकी तीन प्रकार का आहार चतुर्विधसंघ के समक्ष त्याग करा देते हैं। पानक पदार्थ सेवन करने वाले क्षपक को उदर के मल की शुद्धि हेतु मधुर रेचक औषधि भी देते हैं। जिससे उदर में मल सूखकर पीड़ा उत्पन्न न करे। जब आचार्य तीन प्रकार के आहार का त्याग करा देते हैं तब क्षपक से सभी साधुओं के प्रति क्षमायाचना कराई जाती है। पुनः सभी साधु भी क्षमायाचना करके क्षपक की निर्विघ्न समाधि हेतु कायोत्सर्ग करते हैं।

निर्यापकाचार्य क्षपक से दीक्षित जीवन के सम्पूर्ण दोषों की आलोचना सुनते हैं। उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाते हैं और दोषों का पूर्णतया शोधन कर देते हैं। तब वह क्षपक अन्तरंग से बिल्कुल निर्मलचित्त निःशल्य होता हुआ अपने को स्वस्थ और लघु (हल्का) अतिचारों के भार से मुक्त समझता हुआ प्रसन्नचित्त हो जाता है।

"अनन्तर शक्ति अत्यन्त क्षीण देखकर आचार्य क्षपक को जल का भी त्याग करा देते हैं। यदि कोई साधु इतने धीर नहीं है तो उन्हें जल आदि पेय का त्याग नहीं कराया जाता है। अन्त समय में ही उसका त्याग कराते हैं क्योंकि किसी भी त्याग से साधु के परिणाम में संक्लेश नहीं उत्पन्न हो जावे, ऐसा ध्यान रखना निर्यापक का कर्तव्य है।[२]' अनन्तर परिचारक साधु मात्र जिनवचन और महामंत्ररूपी अमृत का पान कराते हुए क्षपक की आत्मा का पोषण करते हैं। निर्यापकाचार्य भी संस्तारारूढ़ क्षपक श्रुतज्ञान के अनुसार उपदेश देते हैं और संवेग तथा निर्वेग उत्पन्न करने वाला 'कर्णजाप' देते हैं।

सल्लेखना के दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना। इसमें से आहार का क्रम-क्रम से छोड़ना बाह्य सल्लेखना, द्रव्य सल्लेखना अथवा शरीर सल्लेखना है। सम्यग्दर्शन आदि भावना के द्वारा मिथ्यात्व, कषाय आदि परिणामों को कृश करना अभ्यंतर

---

१. तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाणं बलं होहिदि तुंडं च से विसदं।।६८८।। (मूलाराधना, पृ. ६७४)

२. अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो।
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले।।७०८।। (मूलाराधना, पृ. ८८६)

सल्लेखना, भावसल्लेखना और कषाय सल्लेखना है। अर्थात् सत् सम्यक् प्रकार से लेखना—कृश करना सल्लेखना है। इसमें काय और कषायों को कृश किया जाता है।

यह सल्लेखना आत्मघात नहीं है क्योंकि "जो कषाय से आविष्ठ होकर विष, शस्त्र आदि के द्वारा अपना घात कर लेता है, उसे ही आत्मघात कहते हैं। वह इस सल्लेखना में संभव नहीं है।[१]" क्योंकि "उपसर्ग आ जाने पर दुर्भिक्ष हो जाने पर या अतीव वृद्धावस्था के हो जाने पर अथवा असाध्य व्याधि के हो जाने पर जब उसका प्रतीकार नहीं हो सकता है।" अथवा नेत्रज्योति मंद हो जाने पर या जंघाबल घट जाने पर जब संयम की रक्षा नहीं हो सकती है तब साधु धर्म के लिए-संयम की रक्षा के लिए धर्मध्यानपूर्वक जो शरीर का त्याग करते हैं, उसी का नाम सल्लेखना है।[२]" यदि किसी ने जीवन भर रत्नत्रय का पालन किया है और अन्त समय परिणाम बिगड़ जाते हैं या रत्नत्रय से च्युत हो जाता है तो वह पुनः अनन्तसंसार में डूब जाता है इसलिए अन्त समय संयम या अपने योग्य ग्रहण किये गये धर्म की रक्षा का अत्यधिक महत्त्व है जो कि सल्लेखना से ही सिद्ध हो सकता है। अतएव मरण के अन्त में सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक करना चाहिए।

पूज्यपाद स्वामी ने तो यहाँ तक कहा है कि—"हे भगवन्! बाल्यावस्था से लेकर आज तक मैंने आपके श्रीचरणों की उपासना करके जो कुछ भी पुण्य संचित किया है उसका फल मैं यही मांगता हूँ कि जब मेरे प्राण प्रयाण करने लगें, उस समय आपके नाम को जपने में मेरा कंठ अकुंठित ही बना रहे अर्थात् अन्त समय आपके नाम को पढ़ने में मेरी जिह्वा कुंठित न हो जावे। मैं आपका नाम जपते-जपते ही प्राण त्याग करूँ।[३]" ऐसी भावना सतत भाते रहना चाहिये।

---

१. यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मबधः।।१७८।।-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।

३. आबाल्याज्जिनदेवदेव! भवतः श्रीपादयोः सेवया।
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः।।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कंठोऽस्त्वकुंठो मम।। (समाधिभक्ति)

देव दुर्गति क्या है ?

का देवदुग्गईओ का बोही केण ण बुज्झए मरणं।
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीओ[१]।।६२।।

गाथार्थ—देवदुर्गति क्या है ? बोधि क्या है ? किससे मरण नहीं जाना जाता है ? और किस कारण से यह जीव अनन्तरूप संसार में परिभ्रमण करता है ?।।६२।।

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विस सम्मोहमासुरत्तं च।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति।।६३।।

गाथार्थ—मरण काल में विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियाँ होती हैं।।६३।।

आचारवृत्ति—यहाँ पर द्रव्य और भाव में अभेद करके कहा गया है अर्थात् ये कन्दर्प आदि भावनाएँ भाव हैं और इनसे होने वाली उन–उन जाति के देवों की जो पर्यायें हैं वे यहाँ द्रव्यरूप हैं। इन दोनों में अभेद करके ही यहाँ पर इन भावनाओं को देवदुर्गति कह दिया है। कन्दर्प का भाव कान्दर्प है अर्थात् उपप्लव स्वभाव वाला गुण (शील और गुणों का नाश करने वाला भाव) कान्दर्प है। अभियोग का भाव आभियोग्य है अर्थात् तन्त्र–मन्त्र आदि के द्वारा रस आदि में गृद्धता का होना। किल्विष का भाव कैल्विष्य है अर्थात् प्रतिकूल आचरण का होना। अपने में मोह का होना स्वमोह है उसका भाव स्वमोहत्व है अथवा श्व अर्थात् कुत्ते के मोह के समान मोह वेद का उदय है–जिसके वह श्वमोह है उसका भाव श्वमोहत्व है। अथवा मोह के साथ जो रहता है उसका भाव समोहत्व है अर्थात् मिथ्यात्व का होना। असुर के भाव को असुरत्व कहते हैं अर्थात् रौद्र परिणाम सहित आचारण का होना। ये देवदुर्गतियाँ हैं। अर्थात् इन पाँच अवगुणों से इन्हीं पाँच प्रकार के देवों में जन्म लेना पड़ता है। इसीलिए यहाँ पर इन परिणामों को ही देवदुर्गति कह दिया है। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि मरण के समय सम्यक्त्वगुण की विराधना हो जाने पर ये कन्दर्प, आभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवों की पर्यायों में उत्पत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—इन कन्दर्प आदि भावनाओं को करने से साधु को सम्यक्त्व रहित असमाधि होने से इन्हीं जाति के देवों में जन्म लेने का प्रसंग हो जाता है। आगे इन्हीं कन्दर्प आदि भावनाओं का लक्षण स्वयं बताते हैं।

वह कान्दर्प क्या है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुत जनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है, वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है।।६४।।

मूलाचार भाग–१ पृ. ६६ से ७५ तक।

आचारवृत्ति—जो राग के उद्रेक से सहित होता हुआ स्वयं असत्य बोलता है और बहुत जनों में उसी का प्रतिपादन करते हुए कन्दर्प–भावना को करता है वह कन्दर्प कर्म के निमित्त से कन्दर्प जाति के जो नग्नाचार्य देव हैं उनमें जन्म लेता है। अथवा जो साधु स्वयं असत्य बोलता हुआ और उसी की भावना करता हुआ बहुत जनों को भी अपने समान करता है अर्थात् उन्हें भी असत्य में लगा देता है वह कन्दर्प भावनारूप राग से युक्त होता हुआ कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—अन्यत्र देव जातियों में 'नग्नाचार्य' ऐसा नाम देखने में नहीं आता है। 'मूलाचारप्रदीप' अध्याय १० श्लोक ६१-६२ में 'कन्दर्प जाति के देवों को नग्नाचार्य कहते हैं' ऐसा लिखा है तथा च पं. जिनदास फड़कुले सोलापुर ने 'मूलाचार' की हिन्दी टीका में कन्दर्प देवों का अर्थ 'स्तुतिपाठक देव' किया है। यह अर्थ कुछ संगत प्रतीत होता है।

अभियोग कर्म क्या है और उससे कहाँ उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु अनेक प्रकार के भावों का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्मों से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है।।६५।।

आचारवृत्ति—जो साधु तन्त्र–मन्त्र आदि नाना प्रकार के प्रयोग करता है और हँसी, काय की कुचेष्टा सहित हँसी–कौत्कुच्य और पर में आश्चर्य उत्पन्न कराना आदिरूप बहुत से वाग्जाल को करता है वह इन अभियोग क्रियाओं से युक्त होता हुआ हाथी, घोड़े, मेष, महिष आदिरूप वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जो साधु रस आदि में आसक्त होता हुआ तन्त्र–मन्त्र और भूकर्म आदि का प्रयोग करता है, हँसी–मजाक आदिरूप बहुत बोलता है वह इन कार्यों के निमित्त से वाहन जाति के देवों में जन्म लेता है। वहाँ उसे विक्रिया से अन्य देवों के लिए वाहन हेतु हाथी, घोड़े आदि के रूप बनाने पड़ते हैं।

किल्विष भावना का स्वरूप और उससे होने वाली उत्पत्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—जो तीर्थंकरों के प्रतिकूल है; संघ, जिनप्रतिमा और सूत्र के प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्विष जाति के देवों में जन्म लेता है।।६६।।

आचारवृत्ति—संसार समुद्र से पार होने के उपायरूप तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर हैं, उन्हें अर्हंत भट्टारक कहते हैं उनके जो प्रतिकूल हैं, तथा ऋषि, यति, मुनि और अनगार को संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी चतुर्विध संघ कहते हैं अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान,चारित्र और तप को भी संघ शब्द से कहा है। सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं। जो ऐसे संघ, चैत्य और सूत्र के प्रति विनय नहीं करते हैं और दूसरों को ठगने में कुशल हैं, वे इस किल्विष कार्यों के द्वारा पटह आदि वाद्य बजाने वाले किल्विषक जाति के देवों में उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेषार्थ—इन किल्विषक जाति के देवों को इन्द्र की सभा में प्रवेश करने का निषेध है। ये देव चाण्डाल के समान माने गये हैं। जो साधु सम्यक्त्व से च्युत होकर तीर्थंकर देव आदि की आज्ञा नहीं पालते हैं, उपर्युक्त दोषों को अपने जीवन में स्थान देते हैं वे पूर्व में यदि देवायु बाँध भी ली हो तो मरकर ऐसी देवदुर्गति में जन्म ले लेते हैं।

सम्मोह भावना का स्वरूप और उससे होने वाली देव दुर्गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग का विघातक तथा विरोधी है वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है।।६७।।

आचारवृत्ति—जो उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यात्व आदि का उपदेशकर्ता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की विराधना करने वाला है तथा इसी सन्मार्ग के विपरीत है अर्थात् स्वतीर्थ का प्रवर्तक है, वह साधु मिथ्यात्व अथवा माया के प्रपंच से अन्य लोगों को विपरीत बुद्धिवाला करता हुआ संमोह कर्म के द्वारा स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

अब आसुरी भावना को और उससे होने वाली गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र में संक्लेश रखने वाला है, जो बैर को बाँधने में रुचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवों में उत्पन्न होता है।।६८।।

आचारवृत्ति—जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान–कषायी है, मायाचार प्रवृत्ति रखता है, तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामों में संक्लेष भाव बना रहता है अर्थात् परिणामों में निर्मलता नहीं रहती जो अनन्तानुबन्धी–रूप बैर को बाँधने में रुचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरंग में ग्रंथि के समान बैरभाव बाँध कर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओं के द्वारा असुर जाति में, अन्तर्भेदरूप एक अंबावरीष जाति है, उसमें जन्मता है। ये अंबावरीष जाति के देव ही नरकों में जाकर नारकियों को परस्पर में पूर्वभव के बैर का स्मरण दिला–दिलाकर लड़ाया करते हैं और उन्हें लड़ते–भिड़ते, दुःखी होते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं।

अब व्यतिरेक कथन द्वारा बोधि का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—यहाँ पर जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान सहित और कृष्णलेश्या से मरण करते हैं उनके लिए पुनः बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है।।६९।।

आचारवृत्ति—जो अतत्त्व के श्रद्धान सहित हैं, भविष्य में संसार–सुख की आकांक्षारूप निदान से सहित हैं और अनन्तानुबन्धी कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्या से संयुक्त रौद्र–परिणामी हैं ऐसे जीव यदि यहाँ मरण करते हैं तो पुनः सम्यक्त्व सहित शुभ परिणामरूप बोधि उनके लिए बहुत ही दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि यदि एक बार सम्यक्त्व होकर छूट जाय तो पुनः अधिक से अधिक यह जीव किंचित् कम अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र काल तक संसार में भटक

सकता है। इसीलिए यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र काल ही शेष रहता है और बोधि सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती है अतः बोधि का सम्यक्त्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है इसीलिए यहाँ पर बोधि का लक्षण ही कहा गया है। अर्थात् प्रश्नकर्ता ने बोधि का लक्षण पूछा था सो बोधि की दुर्लभता और सुलभता को बतलाते हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य को बताकर आचार्य ने प्रकारान्तर से बोधि का लक्षण ही बताया है ऐसा समझना।

अब अन्वय द्वारा भी बोधि का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यग्दर्शन में तत्पर है, निदान भावना से रहित हैं और शुक्ललेश्या से परिणत हैं ऐसे जो जीव मरण करते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है।।७०।।

आचारवृत्ति—जो तत्त्वों में रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, इहलोक और परलोक की आकांक्षा से रहित हैं, शुक्ल लेश्यामय निर्मल परिणामवाले हैं ऐसे जीव संन्यास विधि से मरते हैं अतः उन्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ ही है।

यद्यपि पूर्व की गाथा से ही बोधि के महत्त्व का अर्थबोध हो जाता है फिर भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समझने वाले शिष्यों का संग्रह करने के लिए, दोनों प्रकार के शिष्यों को समझाने के लिए ही यहाँ पहले व्यतिरेक मुख से, पुनः अन्वय मुख से, ऐसी दो गाथाओं से बोधि का व्याख्यान किया है तथा एकान्तमत का निराकरण करने के लिए भी यह दोनों प्रकार का कथन है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—कुछेक का कहना है कि केवल अन्वय मुख से अर्थात् अपने विषय को बतलाते हुए ही कथन करना चाहिए तथा कुछेक का कथन है कि व्यतिरेक मुख से अर्थात् पर के निषेधरूप से अथवा वस्तु के दोष प्रतिपादनरूप से ही वस्तु का कथन करना चाहिए, किन्तु जैनाचार्य इन दोनों बातों को महत्त्व देते हुए अनेकान्त की पुष्टि करते हैं, इसीलिए पहले बोधि की दुर्लभता के कारणों को बताकर पुनः अगली गाथा से बोधि की सुलभता के कारणों को बताया है, ऐसा समझना।

अब आचार्य संसार के कारण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो पुनः गुरु के प्रतिकूल हैं, मोह की बहुलता से सहित हैं, शबल—अतिचार सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरण वाले हैं वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त संसारी हो जाते हैं।।७१।।

आचारवृत्ति—जो साधु गुरुओं की आज्ञा नहीं पालते हैं, मोह की प्रचुरता से सहित राग–द्वेष से पीड़ित हो रहे हैं, शबल—लेपसहित अर्थात् कुत्सित आचरण वाले हैं तथा व्रतों की रक्षा करने वाले जो शील हैं उन्हें भी कुत्सितरूप से जो पालते हैं, वे मिथ्यात्व से सहित हो आर्त एवं रौद्रध्यानरूप असमाधि से मरण करके अनन्त नामवाले अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक संसार में ही भटकते रहते हैं।

अब, परीत संसारी कैसे होते हैं, ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी हैं, भाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं, शबल—कुत्सित परिणाम रहित हैं तथा संक्लेशभाव रहित हैं वे संसार का अन्त करने वाले होते हैं।।७२।।

आचारवृत्ति—जो अर्हन्त देव के प्रवचनरूप आगम के अच्छी तरह भक्त हैं, मन्त्र–तन्त्र की या शास्त्रों की आकांक्षा से रहित होकर भक्तिपूर्वक गुरुओं के आदेश का पालन करते हैं, मिथ्यात्व भाव रहित हैं और शुद्ध–परिणामी हैं वे चतुर्गति में गमनरूप संसार को परिमित करने वाले अथवा संसार को समाप्त करने वाले हो जाते हैं।

यदि जिनवचन में अनुराग नहीं होगा तो क्या होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो जिनवचन को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनेक बाद बालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित मरणों से मरण करते रहेंगे।।७३।।

आचारवृत्ति—जो सर्वज्ञ देव के आगम को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनाथ प्राणी, जो अपने लिए अभिप्रेत अर्थात् इष्ट नहीं हैं ऐसे, अनेक प्रकार के मरण से बार–बार मरते रहते हैं।

भावार्थ—यहाँ बालमरण से विवक्षा बालबालमरण की है जो कि मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है क्योंकि बालमरण का लक्षण करते हुए टीकाकार ने असंयत–सम्यग्दृष्टि के मरण को कहा है। तथा अन्य ग्रंथों में भी बालबालमरण करने वाले मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। उन्हीं का यहाँ कथन समझना चाहिए।

वे बालमरण कितने तरह के हैं ? उत्तर में कहते हैं—

गाथार्थ—शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेशकर मरना और पापक्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण–जन्म और मृत्यु की परम्परा को करने वाले हैं।।७४।।

आचारवृत्ति—जो शस्त्र से अपना मरण स्वयं करते हैं या किसी के द्वारा तलवार आदि से जिनका मरण हो जाता है, यहाँ 'शस्त्र ग्रहण' शब्द से स्वयं शस्त्र से आत्मघात करना या शस्त्र के द्वारा मारा जाना दोनों विवक्षित हैं अतः यहाँ पर कार्य में कारण या उपचार किया गया है। विष अर्थात् मरण कराने वाली वस्तु का भक्षण कर लेना, अग्नि में जल कर मरना, जल में प्रवेश कर उच्छ्वास के रुक जाने से प्राणों का त्याग करना, अनाचार—पापक्रिया वही हुआ भांड–द्रव्य उसका सेवन करके मरना अर्थात् पाप प्रवृत्ति करके मरना। अथवा पापी जीवों का जो मरण है वह अनाचार भांडसेवी मरण है। ये मरण जन्म–मरण की परम्परा को करनेवाले हैं अर्थात् संसार के लिए कारणभूत हैं। तात्पर्य यह कि ये सभी मरण संसार के कारण है, और पाप क्रियारूप हैं अतः ये बालमरण कहलाते हैं अथवा अनाचार–सेवन करनेरूप ये मरण संसार के ही हेतु हैं। ये सदाचारी जीव के नहीं होते हैं। यहाँ पर बालमरण शब्द से बालबालमरण को ही ग्रहण करना चाहिए।

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

अमृतवर्षिणी टीका–

विशेष विवेचन– (वसुनन्दिश्रावकाचार से)

पाँच उदुम्बर फल सहित सप्त व्यसन त्यागी दर्शन प्रतिमाधारी

सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बरफल सहित सातों ही व्यसनों का त्याग करता है, वह दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है।

पाँच उदुम्बर फल के नाम

उंबर–बड–पिप्पल–पिंपरीय–संधाण–तरुपसूणाइं।
णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं।।

ऊंबर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर फल, इन पाँचों उदुम्बर फल तथा संधानक (अचार) और वृक्षों के फूल ये सब नित्य त्रसजीवों से संसिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए।

सप्त व्यसन दुर्गति गमन के कारण

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि–चोर–परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।।

जुआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदार–सेवन, ये सातों व्यसन दुर्गति–गमन के कारणभूत पाप हैं।।

सप्तव्यसन के दोषों का वर्णन

(१) द्यूतदोष–वर्णन

जुआ खेलने वाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है।। उस पाप के कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरंगों वाले, दु:खरूप सलिल से भरे हुए और चतुर्गति–गमनरूप आवर्तों (भंवरों) से संयुक्त ऐसे संसार–समुद्र में परिभ्रमण करता है।

(२) मद्यदोष वर्णन

मद्य–पान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है और इसीलिए इस लोक तथा परलोक में अनन्त दु:खों को भोगता है।

(३) मधुदोष वर्णन

मद्यपान के समान मधु–सेवन भी मनुष्य के अत्यधिक पाप को उत्पन्न करता है। अशुचि (मल–मूत्र वमनादिक) के समान निंदनीय इस मधु का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए। भोजन के मध्य में पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँह में रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो आश्चर्य है कि वह मधु–मक्खियों के अंडों के निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रस को अर्थात् मधु को निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है।

(४) मांसदोष वर्णन

मांस अमेध्य अर्थात् विष्टा के समान है, कृमि अर्थात् छोटे–छोटे कीड़ों के समूह से भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, वीभत्स है और पैर से भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खाने के लिए योग्य कैसे हो सकता है ? मांस खाने से दर्प बढ़ता है, दर्प से वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसी से वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषों को प्राप्त होता है।

(५) वेश्यादोष–वर्णन

जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है, वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात, (भील), चंडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगों का जूठा खाता है क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगों के साथ समागम करती है। वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवचनाओं से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुष को अस्थि–चर्म परिशेष करके अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है।

(६) पारद्धिदोष–वर्णन

सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण यतः अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अतः शिकार खेलने वाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है। जो मुक्त–केश हैं, अर्थात् भय के मारे जिनके रोंगटे (बाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दांतों में जो तृण अर्थात् घास को दाबे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवों को शूरवीर पुरुष नहीं मारते हैं। उस शिकार खेलने के पाप से यह जीव संसार में अनन्त दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए देशविरत श्रावक को शिकार का त्याग करना चाहिए।

(७) चौर्यदोष–वर्णन

पराये द्रव्य को हरने वाला अर्थात् चोरी करने वाला मनुष्य इस लोक और परलोक में असाता–बहुल अर्थात् प्रचुर दुःखों से भरी हुई अनेकों यातनाओं को पाता है और कभी भी सुख को नहीं देखता है।

(८) परदारादोष–वर्णन

जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्री को देखकर उसकी अभिलाषा करता है, सो ऐसा करने पर वह पाता तो कुछ नहीं है, केवल पाप का ही उपार्जन करता है। परस्त्री लम्पटी परलोक में इस संसार–समुद्र के भीतर अनन्त दुःख को पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियों को मन वचन काय से त्याग करना चाहिए।

पुण्य और धर्म के स्वामी कौन-कौन हैं

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।81।।

पूजा आदि क्रियाओं में पुण्य होता है। श्रावक सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों से सहित जिनपूजा, दान आदि क्रियाओं को करके सातिशय पुण्य संचित कर लेता है ऐसा उपासकाध्ययन नाम के अंग में जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित है। टीकाकार कहते हैं–सर्वज्ञ वीतराग देव की पूजा आदि निदानबंध से रहित है तो वह तीर्थंकर नाम कर्म के बंध का भी कारण हो सकती है। अतः गृहस्थ का पूजादि से संचित पुण्य स्वर्ग के सुखों का कारण है पुनः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है तथा मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध, बुद्धैक आत्मा का चिच्चमत्कार लक्षण, चिदानंद रूप परिणाम धर्म कहलाता है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। यहाँ पर पुत्र, स्त्री, धन आदि में 'यह मेरा है' ऐसे भाव को मोह कहा है और परीषह उपसर्ग के आ जाने पर चित्त का चंचल हो जाना क्षोभ कहलाता है। निर्विकल्प समाधि में स्थित महामुनि का शुद्धोपयोग रूप स्थिर परिणाम ही धर्म है। टीकाकार कहते हैं यह धर्मरूप परिणाम ''गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्'' गृहस्थों के संभव नहीं है क्योंकि वे पंचसूना-आरंभ आदि से सहित हैं। अतः आज के गृहस्थ को जिनपूजा आदि कार्यों में ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।

(श्री कुन्दकुन्द देव)

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत का स्वरूप

अमृतवर्षिणी टीका–

विशेष विवेचन– (वसुनन्दि श्रावकाचार से)

अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं।
तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण।।

अतिथि के संविभाग को तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए। इस अतिथिसंविभाग के पाँच अधिकार उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के ५ अधिकार

पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं।
दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे।।

पात्रों का भेद, दातार, दान–विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दान का फल, ये पाँच अधिकार क्रम से जानना चाहिए।

पात्रों का भेद

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के पात्र जानना चाहिए। उनमें व्रत, नियम और संयम को धारण करने वाला साधु उत्तम पात्र है।।

ग्यारह प्रतिमा–स्थानों में स्थित श्रावक मध्यम पात्र कहे गये हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को जघन्य पात्र जानना चाहिए।

जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है, वह कुपात्र है सक्यक्त्व, शील और व्रत से रहित जीव अपात्र है।

दातार–वर्णन

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया खमा सत्ती।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति।।

जिस दातार में श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण होते हैं, ज्ञानी जन उस दातार की प्रशंसा करते हैं।

दानविधि–वर्णन

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण–वयण–कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही।।

प्रतिग्रह अर्थात् पड़गाहन—सामने जाकर लेना, उच्चस्थान देना अर्थात् ऊँचे आसन पर बिठाना, पादोदक अर्थात् पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और एषणा अर्थात् भोजन की शुद्धि, ये नौ प्रकार की दान की विधि हैं।

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण।।
णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं।।
पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खय–कुसुम–णेवज्ज–दीव–धूवेहिं य फलेहिं।।
पुप्फंजलि खिवित्ता पयपुरओ वंदण तओ कुज्जा।
चइऊण अट्ट–रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।।
णिट्ठुर–कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।।

पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर—खोजकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए', ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए। पुनः अपने घर में ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊँचे स्थान पर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणों को धोना चाहिए। पवित्र पादोदक को शिर में लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना चाहिए। तदनन्तर चरणों के सामने पुष्पांजलि क्षेपण कर वंदना करे तथा आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मनःशुद्धि करना चाहिए। निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को वचनशुद्धि जानना चाहिए। सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखने वाले दातार के कायशुद्धि होती है।

चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए।
संजयिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी।।

चौदह मल—दोषों से रहित, यत्न से शोधकर संयमी जन को जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा–शुद्धि जानना चाहिए।

विशेषार्थ–नख, जंतु, केश, हड्डी, मल, मूत्र, मांस, रुधिर, चर्म, कंद, फल, मूल, बीज और अशुद्ध आहार ये भोजन–सम्बन्धी चौदह दोष होते हैं।

दाणसमयम्मि एवं सुत्तणुसारेण णव विहाणाणि।
भणियाणि मए एण्हिं दायव्वं वण्णइस्सामि।।

इस प्रकार उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार मैंने दान के समय में आवश्यक नौ विधानों को कहा। अब दातव्य वस्तु का वर्णन करूंगा।

दातव्य–वर्णन

आहारोसह–सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं।
तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे।।

आहार, औषध, शास्त्र और अभय के भेद से चार प्रकार का दान है, वह दातव्य कहलाता है, ऐसा उपासकाध्ययन में कहा गया है।

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त–णव–विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो।।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीन प्रकार के पात्र को देना चाहिए।

अइबुड्ढ बाल–मूयंध–बहिर–देसंतरीय–रोडाणं।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाण त्ति भणिऊण।।

अति वृद्ध, बालक, मूक (गूंगा) अंध, बधिर (बहिरा) देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी, दरिद्री जीवों को 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए।।

उववास–वाहि–परिसम–किलेस–परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं।।

उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए।

आगम–सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जं ति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा।।

जो आगम—शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रों को दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए। तथा जिनवचनों का अध्यापन कराना–पढ़ाना भी शास्त्रदान है।

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण–भयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिंहामणिं सव्वदाणाणं।।

मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सर्व दानों का शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए।

दानफल–वर्णन

अण्णाणिणो वि जम्हा कज्जं ण कुणंति णिप्फलारंभं।
तम्हा दाणस्स फलं समासदो वण्णइस्सामि।।

चूँकि, अज्ञानीजन भी निष्फल आरम्भ वाले कार्य को नहीं करते हैं, इसलिए मैं दान का फल संक्षेप से वर्णन करूंगा।

जह उत्तमम्मि खित्ते पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स।।

जिस प्रकार उत्तम खेत में बोया गया अन्न बहुत अधिक फल को देता है, उसी प्रकार त्रिविध पात्र को दिये गये दान का फल जानना चाहिए।

जह मज्झिमम्मि खित्ते अप्पफलं होइ वावियं बीयं।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं।।

जिस प्रकार मध्यम खेत में बोया गया बीज अल्प फल देता है, उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया दान मध्यम फल वाला जानना चाहिए।

जइ ऊसरम्मि खित्ते पइण्णवीयं ण किं पि रुहेइ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तदा दाणं।।

जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया गया बीज कुछ भी नहीं ऊगता है उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया दान भी फल–रहित जानना चाहिए।

कम्हि अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ।
जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं।।

प्रत्युत किसी अपात्रविशेष में दिया गया दान अत्यन्त दुःख का देने वाला होता है। जैसे विषधर सर्प को दिया गया दूध तीव्र विषरूप हो जाता है।

मेहावीणं एसा सामण्णपरूवणा मए उत्ता।
इण्हिं पभणामि फलं समासओ मंदबुद्धीणं।।

मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषों के लिए मैंने यह उपर्युक्त दान के फल का सामान्य प्ररूपण किया है। अब मन्दबुद्धिजनों के लिए संक्षेप से (किन्तु पहले की अपेक्षा विस्तार से) दान का फन कहता हूँ।

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तमभोयभूमीसु।।

जो मिथ्यादृष्टि भद्र अर्थात् मन्दकषायी पुरुष उत्तम पात्र में दान देता है, उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है।

जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु।।

जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यम पात्र में दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमियों में उत्पन्न होता है।

जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो।।

और जो तथाविध अर्थात् उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्र में दान को देता है, वह जीव उस दान के फल से जघन्य भोगभूमियों में उत्पन्न होता है।

जायइ कुपत्तदाणेण वामदिट्ठी कुभोयभूमीसु।
अणुमोयणेण तिरिया वि उत्तट्ठाणं जहाजोग्गं।।

मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमियों में उत्पन्न होता है। दान की अनुमोदना करने से तिर्यञ्च भी यथायोग्य उपर्युक्त स्थानों को प्राप्त करते हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च उत्तम पात्र दान की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि में, मध्यम पात्रदान की अनुमोदना से मध्यम भोगभूमि में, जघन्य पात्रदान की अनुमोदना से जघन्य भोगभूमि में जाता है। इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र दान की अनुमोदना से भी तदनुकूल फल को प्राप्त होता है।

बद्धाउगा सुदिट्ठी अणुमोयणेण तिरिया वि।
णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु।।

बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्था में पहले मनुष्यायु को बांध लिया है और पीछे सम्यग्दर्शन को उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देने से और उक्त प्रकार के ही तिर्यञ्च पात्र–दान की अनुमोदना करने से नियम से वे उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं।

तत्थ वि दहप्पयारा कप्पदुमा दिंति उत्तमे भोए।
खेत्त सहावेण सया पुव्वज्जियपुण्णसहियाणं।।

उन भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं, जो पूर्वोपार्जित पुण्य–संयुक्त जीवों को क्षेत्र स्वभाव से सदा ही उत्तम भोगों को देते हैं।

जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।
जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा।।

जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकार के पात्रों को दान देने के फल से स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं।

अच्छरसयमज्झगया तत्थाणुहविऊण विविहसुरसोक्खं।
तत्तो चुया समाणा मंडलियाईसु जायंते।।

वहाँ पद सैकड़ों अप्सराओं के मध्य में रहकर नाना प्रकार के देव–सुखों को भोगकर आयु के अन्त में वहां से च्युत होकर मांडलिक राजा आदिकों में उत्पन्न होते हैं।

तत्थ वि बहुप्पयारं मणुयसुहं भुंजिऊण णिव्विग्घं।
विगदभया वेरग्गकारणं किंचि दट्ठूण।।

पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं च घित्तूण।
उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं।।
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण।
सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा।।

वहाँ पर भी नाना प्रकार के मनुष्य–सुखों को निर्विघ्न भोगकर भय–रहित होते हुए वे कोई भी वैराग्य का कारण देखकर प्रतिबुद्धित हो, राज्यलक्ष्मी को छोड़कर और संयम को ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञान को उत्पन्न कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः पुनः प्राप्त कर सात–आठ भव के पश्चात् नियम से कर्मक्षय को करते हैं।

एवं पत्तविसेसं दाणविह्याणं फलं च णाऊण।
अतिहिस्स संविभागो कायव्वो देसविरदेहिं।।

इस प्रकार पात्र की विशेषता को, दान के विधान को और उसके फल को जानकर देश–विरती श्रावकों को अतिथि का संविभाग अर्थात् दान अवश्य करना चाहिए।

पुण्य के 4 भेद हैं

पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत्।
पुण्यं व्रतानुचरणदुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्।।२१९।।

जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से उत्पन्न होने वाला पहला पुण्य है, सुपात्र को दान देने से उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, व्रत पालन करने से उत्पन्न हुआ तीसरा पुण्य है और उपवास करने से उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है। इस प्रकार पुण्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को ऊपर लिखे हुए चार प्रकार के पुण्यों का संचय करना चाहिए।।२१९।।

(आदिपुराण भाग–२ पृ. ६०)

विशेष विवेचन–

सामायिक प्रतिमा का लक्षण

अमृतवर्षिणी टीका–

स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सन्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम–अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वंदना की जाती है, वह सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमास्थान है।।

जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ–अलाभ को, शत्रु–मित्र को, इष्टवियोग–अनिष्ट संयोग को, तृण–कांचन को, चन्दन को और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हन्तजिन के स्वरूप को और सिद्ध भगवान् के स्वरूप को ध्यान करता है अथवा संवेग–सहित अविचल–अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है।

प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषध–विधान कहा गया है। यह श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार एक मास के चारों पर्वों में करना चाहिए।

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजन के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तु का भोजन कर और वहीं पर मुख–शुद्धि को करके, मुख को और हाथ–पैरों को धोकर वहां पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र–भवन जाकर और जिनभगवान् को नमस्कार करके, गुरु के सामने वन्दनापूर्वक क्रम से कृतिकर्म को करके, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्यागरूप उपवास को ग्रहण कर शास्त्र–वाचन, धर्मकथा–श्रवण–श्रावण, अनुप्रेक्षा–चिन्तन, पठन–पाठन आदि के उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा अपराह्निक वंदना करके, रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग से स्थित होकर, भूमि का प्रतिलेखन (संशोधन) करके और अपने शरीर के प्रमाण विस्तर लगाकर रात्रि में कुछ समय तक जिनालय अथवा अपने घर में सोकर अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्ग से बिताकर प्रातःकाल उठकर वंदनाविधि से जिन भगवान को नमस्कार कर तथा देव, शास्त्र और गुरु की द्रव्य वा भावपूजन करके पूर्वोक्त विधान से उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रि को फिर बिताकर पारणा के दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासी को पुनः पूर्व के समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहां अतिथि को आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चय से उत्तम प्रोषधविधि होती है।

जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं।।
मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं।
जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं।।

जिस प्रकार का उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकार का मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जरूरी कार्य को समझकर सावद्य–रहित अपने घर के आरम्भ को यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही जानना चाहिए।

आयंबिल णिव्वयडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं।।

जो अष्टमी आदि पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान अथवा एकभक्त को करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए।

सचित्तत्याग प्रतिमा का लक्षण

सचित्त जल, वनस्पति आदि का त्याग करना, जल को प्रासुक या गरम करके वैसे ही हरित वनस्पति को भी प्रासुक करके ग्रहण करना चाहिए।

सचित्त वस्तु को प्रासुक करने की विधि–

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं।।

अर्थ–जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तप्त हो, आम्लरस तथा लवण मिश्रित हो, कोल्हू, चरखी, चक्की, छुरी आदिक यंत्रों से छिन्न–भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हों, सो सब प्रासुक हैं। यह गाथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में तथा केशववर्णीकृत गोम्मटसार की संस्कृत टीका में भी सत्यवचन के भेदों में कही गई है।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा का लक्षण

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।।

ग्यारहवें प्रतिमास्थान को प्राप्त मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं—प्रथम एक वस्त्र का रखने वाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रह वाला।

एमेव होइ बिइओ णवरिविसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि।।

इस प्रकार ही अर्थात् प्रथम उत्कृष्ट श्रावक के समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) होता है, केवल विशेषता यह है कि उसे नियम से केशों का लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्र में खाना चाहिए।

दिणपडिम–वीरचरिया–तियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंत रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं।।

दिन में प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मी में पर्वत के शिखर पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त–ग्रंथों का अर्थात् केवली, श्रुतकेवली कथित गणधर, प्रत्येकबुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओं से निर्मित ग्रंथों का अध्ययन और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन, इतने कार्यों में देशविरती श्रावकों का अधिकार नहीं है।

उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण।
एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण।।

ग्यारहवें प्रतिमास्थान में उपासकाध्ययन–सूत्र के अनुसार संक्षेप में मैंने उद्दिष्ट आहार के त्यागी दोनों प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया।

पुण्य से चार प्रकार की लक्ष्मी मिलती है

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं।
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं।
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात्।।१२९।।

पुण्य से सबको विजय करने वाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिलती है, इन्द्र की दिव्य लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है, पुण्य से तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्य से ही मिलती है इस प्रकार यह जीव पुण्य से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है, इसलिए हे सुधीजन! तुम लोग भी जिनेंन्द्र भगवान् के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।।१२९।।

(आदिपुराण भाग–२ पृ. ९५)

रात्रिभोजनदोष–वर्णन

(वसुनन्दिश्रावकाचार से)

अमृतवर्षिणी टीका–

एयारसेसु पढमं वि जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा।।

चूँकि, रात्रि को भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियम से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए।

चम्मट्ठि कीड–उंदुर–भुयंग–केसाइ असणमज्झम्मि।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमये।।

भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट–पतंग, सर्प और केश आदि रात्रि के समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा जाता है।

दीउज्जोयं जइ कुणइ तह वि चउरिंदिया अपरिमाणा।
णिवडंति दिट्ठिराएण मोहिया असणमज्झम्मि।।

यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य में गिरते हैं।

इयएरिसमाहारं भुंजंतो आदणासमिह लोए।
पाउणइ परभवम्मि चउगइ संसारदुक्खाइं।।

इस प्रकार के कीट–पतंगयुक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपनी आत्मा का या अपने आप का नाश करता है और परभव में चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को पाता है।

एवं बहुप्पयारं दोसं णिसिभोयणम्मि णाऊण।
तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा।।

इस प्रकार रात्रिभोजन में बहुत प्रकार के दोष जानकर के मन, वचन, काय से रात्रि भोजन का परिहार करना चाहिए।

''जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

जिनेन्द्र देव के गुण

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये जिनेन्द्र भगवान के गुण हैं।

मूलाराधना में लिखा है—

''मरणकाल में एक अर्हंत नमस्कार ही इस जीव के संसार का उच्छेद करने में समर्थ हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव के मत में कहा है।[१]''

नवकेवललब्धि—ज्ञानावरण के अभाव से क्षायिकज्ञान—अनन्तज्ञान प्रगट होता है, जिससे एक समय में सम्पूर्ण लोकालोक, त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों सहित ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने लगता है।

दर्शनावरण के नाश से क्षायिक-अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, जिससे वे सर्वदर्शी कहलाते हैं।

दानान्तराय के सर्वथा अभाव से अनन्त प्राणियों का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है।

समस्त लाभान्तराय के क्षय से कवलाहार क्रिया से रहित केवलियों के क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर में बल प्रदान करने में कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण—कभी प्राप्त न होने वाले परम शुद्ध और सूक्ष्म, ऐसे अनन्त परमाणु प्रतिसमय संबंध को प्राप्त होते हैं।

समस्त भोगान्तराय के नाश से अतिशय वाले ऐसे क्षायिक अनन्तभोग का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं।

समस्त उपभोगान्तराय के क्षय हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं।

वीर्यान्तराय के क्षय से क्षायिक अनन्तवीर्य प्रगट होता है।

अनन्तानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है।

चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक चारित्र प्रगट होता है।

ये अभयदानादि कार्य शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा रखते हैं अतः ''सिद्धों[२] में ये कार्यरूप न होकर केवलज्ञानरूप से अनन्तवीर्य के सदृश परमानन्द के अव्याबाधरूप में ही इनका सद्भाव रहता है।

केवली भगवान इन नवकेवललब्धियों के स्वामी होते हैं। ये जिनेंद्र भगवान के गुणों की संप्राप्ति मुझे होवे।

---

१. अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले।
सो जिणवयणे दिट्ठो संसाररुच्छेदणसमत्थो।।७५५।। (मूलाराधना, पृ. ९१९)

२. तत्त्वार्थवार्तिक पृ. १०६।

एकादश प्रतिमा का सार

'**सुदं मे आउस्संतो !**' में एकादश प्रतिमाव्रतों के नाम आये हैं, फिर भी श्रीगौतमस्वामी प्रणीत ही श्रावक प्रतिक्रमण में ग्यारह प्रतिमा व्रतों के एक–एक श्लोक में लक्षण दिये गये हैं।

अतः यह एक अलग अध्याय संकलित किया गया है।

इसमें सामायिक प्रतिमा में नवदेवों की वंदना का विधान है। 'देववन्दना' विधि को ही सामायिक कहा गया है। यह स्पष्टीकरण 'देववन्दना अपरनाम सामायिक' पुस्तक में विस्तार से अनेक प्रमाण उद्धृत कर मैंने संकलित किया है। पं. पन्नालाल जी सोनी ने भी लगभग ७८ वर्ष पूर्व (वीर नि.सं. २४६२ सन् १९३६ में प्रकाशित) 'क्रियाकलाप' ग्रंथ व 'अभिषेकपाठ संग्रह' में दिया है।

श्रावकों की सामायिक देवपूजापूर्वक होती है। इसके प्रमाण देकर मैंने यह विस्तृत विवेचन किया है।

देवपूजा भगवान के अभिषेक पूर्वक होती है। अभिषेक में पंचामृत अभिषेक के प्रमाण व चंदन विलेपन, पुष्पवृष्टि के प्रमाण 'जयधवला' सिद्धांत ग्रंथ के आधार से लिया है, जो कि बीसवीं शताब्दी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम शिष्य व प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज दिखाया करते थे।

श्री पूज्यपाद स्वामी भी एक महान् आचार्य हो चुके हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ पर 'सर्वार्थसिद्धि' नाम से टीका ग्रंथ लिखा है। इनके द्वारा विरचित पंचामृत अभिषेकपाठ संस्कृत में उपलब्ध है जो कि 'अभिषेकपाठ संग्रह' पुस्तक में प्रारम्भ में छपाया गया है।

इसमें भी श्री पूज्यपादस्वामी ने श्रावकों की अभिषेक पूजा में प्रारंभ में सिद्धभक्ति व अभिषेक, पूजा करके चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति व शांतिभक्ति पढ़ने का विधान किया है। यह सारी विधि प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में उपलब्ध है। यहाँ मैंने वे कतिपय प्रमाण उद्धृत किये हैं।

इस अध्याय में द्वितीय प्रतिमा में—तृतीय अतिथिसंविभाग व्रत में जो आहारदान का विषय है, उसमें वसुनंदि श्रावकाचार के आधार से पात्र व दान के भेदों का स्पष्टीकरण दे दिया है।

वसुनंदि आचार्य ने क्षुल्लक–ऐलक के भेद करके क्षुल्लक की चर्या दो प्रकार से कही है। प्रथम भिक्षावृत्ति से भोजन लेना अथवा आचार्य, मुनि, आर्यिका आदि के आहारचर्या के बाद उन्हीं के पीछे आहारचर्या करना कहा है। वर्तमान में सभी क्षुल्लक–ऐलक आदि की यही विधि प्रचलित है।

आजकल क्षुल्लक, ऐलक संघों में रहते हैं। मुनि, आर्यिका के बाद आहार को निकलते हैं और पड़गाहन विधि से किसी के भी घर में आहार के लिए जाते हैं, वहाँ नवधाभक्ति के बाद थाली में या कटोरे में आहार ग्रहण करते हैं। इनकी नवधाभक्ति में अष्टद्रव्य से पूजन न होकर अर्घ्य मात्र चढ़ाया

जाता है, यही अंतर है। ये आर्यिकाओं को वंदामि करते हैं, चूंकि आर्यिकायें उपचार से महाव्रती हैं। कहा भी है—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति[२]।।३६।।

अहो आश्चर्य है कि ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकता है, किन्तु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्व परिणाम रहित होने से उपचार से महाव्रतिनी कहलाती हैं अर्थात् ऐलक लंगोटी का त्याग कर दिगंबर मुनि बन सकता है फिर भी ममत्व आदि कारणों से धारण किए है, किन्तु आर्यिका तो साड़ी को त्याग करने में समर्थ नहीं है।

इन क्षुल्लक और ऐलक के हाथ में मयूरपंख की पिच्छिका रहती है जैसा कि पद्मपुराण में सिद्धार्थ क्षुल्लक के हाथ में मयूरपंख की पिच्छिका बताई है।

इस प्रकार श्री गौतमस्वामी प्रणीत इन एकादश प्रतिमाओं का यहाँ विस्तृत विवेचन अन्य ग्रंथों के आधार से किया गया है।

इति श्रीगौतमस्वामीप्रणीत–श्रीगौतमगणधरवाण्यां गणिनीज्ञानमती-
विरचित–अमृतवर्षिणीटीकायां एकादशप्रतिमानामा
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

नवदेवता स्तोत्र

–गणिनी ज्ञानमती

सोरठा —**चिच्चिंतामणिरत्न, तीन लोक में श्रेष्ठ हो।**
गाऊँ गुणमणिमाल, जयवंते वर्तो सदा।।१।।

—शेर छंद—

जय जय श्री अरिहंत देवदेव हमारे।
जय घातिया को घात सकल जंतु उबारे।।
जय जय प्रसिद्ध सिद्ध की मैं वंदना करूँ।
जय अष्ट कर्ममुक्त की मैं संस्तुति करूँ।।२।।

आचार्य देव गुण छत्तीस धार रहे हैं।
दीक्षादि दे असंख्य भव्य तार रहे हैं।।
जैवंत उपाध्याय गुरु ज्ञान के धनी।
सन्मार्ग के उपदेश की वर्षा करें घनी।।३।।

जय साधु अठाईस गुणों को धरें सदा।
निज आत्मा की साधना से च्युत न हों कदा।।
ये पंचपरमदेव सदा वंद्य हमारे।
संसार विषम सिंधु से हमको भी उबारें।।४।।

जिनधर्म चक्र सर्वदा चलता ही रहेगा।
जो इसकी शरण ले वो सुलझता ही रहेगा।।
जिन की ध्वनि पीयूष का जो पान करेंगे।
भव रोग दूर कर वे मुक्ति कांत बनेंगे।।५।।

जिन चैत्य की जो वंदना त्रिकाल करे हैं।
वे चित्स्वरूप नित्य आत्म लाभ करे हैं।।
कृत्रिम व अकृत्रिम जिनालयों को जो भजें।
वे कर्मशत्रु जीत शिवालय में जा बसें।।६।।

नव देवताओं की जो नित आराधना करें।
वे मृत्युराज की भी तो विराधना करें।।
मैं कर्मशत्रु जीतने के हेतु ही नमूँ।
सम्पूर्ण ''ज्ञानमती'' सिद्धि हेतु ही भजूँ।।७।।

दोहा —**नवदेवों को भक्तिवश, कोटि कोटि प्रणाम।**
भक्ती का फल मैं चहूँ, निजपद में विश्राम।।८।।

तीर्थंकर स्तोत्र

–गणिनी ज्ञानमती

–दोहा–

तीन लोक की सम्पदा, करें हस्तगत भव्य।
तुम गुणमाला कंठधर, पूरें सब कर्तव्य।।१।।

चाल–हे दीनबन्धु..

जैवंत मुक्तिकन्त देवदेव हमारे।
जैवंत भक्त जन्तु भवोदधि से उबारे।।
हे नाथ ! आप जन्म के छह मास ही पहले।
धनराज रत्नवृष्टि करें मातु के महले।।१।।

माता की सेव करतीं श्री आदि देवियां।
अद्भुत अपूर्व भाव धरें सर्व देवियां।।
जब आप मात गर्भ में अवतार धारते।
तब इन्द्र सपरिवार आय भक्ति भार से।।२।।

प्रभु गर्भ कल्याणक महाउत्सव विधि करें।
माता पिता की भक्ति से अर्चन विधी करें।।
हे नाथ ! आप जन्मते सुरलोक हिल उठे।
इन्द्रासनों के कम्प से आश्चर्य हो उठे।।३।।

इन्द्रों के मुकुट आप से ही आप झुके हैं।
सुरकल्पवृक्ष हर्ष से ही फूल उठे हैं।।
वे सुरतरु स्वयमेव सुमन वृष्टि करे हैं।
तब इन्द्र आप जन्म जान हर्ष भरे हैं।।४।।

तत्काल इन्द्र सिंहपीठ से उतर पड़ें।
प्रभु को प्रणाम करके बार बार पग पड़ें।।
भेरी करा सब देव का आह्वान करे हैं।
जन्माभिषेक करने का उत्साह भरे हैं।।५।।

सुरराज आ जिनराज को सुरशैल ले जाते।
सुरगण असंख्य मिलके महोत्सव को मनाते।।
जब आप हो विरक्त देव सर्व आवते।
दीक्षा विधी उत्सव महामुद से मनावते।।६।।

जब घातिया को घात ज्ञान सम्पदा भरें।
तब इन्द्र आ अद्भुत समवसरण विभव करें।।
तुम दिव्य वच पियूष को पीते असंख्यजन।
क्रम से करें वे मुक्ति वल्लभा का आलिंगन।।७।।

जब आप मृत्यु जीत मुक्ति धाम में बसे।
सिद्धयंगना के साथ परमानन्द सुख चखें।।
सब इन्द्र आ निर्वाण महोत्सव मनावते।
प्रभु पंचकल्याणक पती को शीश नावते।।८।।

हे नाथ ! आप कीर्ति कोटि ग्रंथ गा रहे।
इस हेतु से ही भव्य आप शरण आ रहे।।
मैं आप शरण पायके सचमुच कृतार्थ हूँ।
बस 'ज्ञानमती' पूर्ण होने तक ही दास हूँ।।९।।

–दोहा–

पांच कल्याणक पुण्यमय, हुये आपके नाथ।
बस एकहि कल्याण मुझ, कर दीजे हे नाथ।।१०।।

निषीधिका दंडक

चौबीस तीर्थंकर स्तुति

(श्री जगन्नाथ कवि विरचित)

(स्त्रग्धरा छंद)

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमांकोऽथधर्मः।
हर्यंकः पुष्पदंतो मुनिसुव्रतजिनोऽनंतवाक् श्री सुपार्श्वः।।
शांतिः पद्मप्रभोऽरो विमलविभुरसौ वर्द्धमानोऽप्यजांकः।
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मा सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्।।१।।

अन्वयार्थ—(अथ असौ वृषभजिनपतिः) भोगभूमि के अनंतर होने वाले वे श्रीवृषभदेव जिनराज **(हर्यंकः अपि) हरि**–हाथी के चिन्ह सहित श्री अजितनाथ, ''**अपि**' शब्द से **हरि**–अश्व चिन्ह से सहित श्री संभवनाथ, **हरि**–बंदर चिन्ह से युक्त श्री अभिनंदननाथ, **हरि**–चन्द्र चिन्ह से सहित श्री चन्द्रप्रभु भगवान् और **हरि**–सर्प चिन्ह से समन्वित श्री पार्श्वनाथ भगवान **(सुमतिः)** श्री सुमतिनाथ, **(पद्मप्रभः)** श्री पद्मप्रभ भगवान् **(श्री सुपार्श्वः)** श्री सुपार्श्वनाथ, **(पुष्पदंतः)** श्री पुष्पदंत भगवान **(श्री द्रुमांकः)** श्री द्रुम–श्रीवृक्ष चिन्ह से सहित श्री शीतलनाथ, **(श्रेयान्)** श्री श्रेयांसनाथ **(श्रीवासुपूज्यः)** श्री वासुपूज्य **(विमलविभुः)** श्री विमलनाथ **(अनंतवाक्)** श्री अनंतनाथ **(धर्मः)** श्री धर्मनाथ **(शांतिः)** श्री शांतिनाथ **(अजांकः)** अज–बकरा चिन्ह युक्त श्री कुंथुनाथ **(अरः)** श्री अरनाथ **(मुनिसुव्रतजिनः)** श्री मुनिसुव्रतजिन **(मल्लिः)** श्री मल्लिनाथ **(नमिः)** श्री नमिनाथ **(नेमि)** श्री नेमिनाथ **(वर्द्धमानः)** और श्री महावीर स्वामी ये चौबीसों तीर्थंकर भगवान **(श्री जगन्नाथधीःसत्)** तीनों लोकों के नाथ–स्वामी की बुद्धि से सहित हैं सत्– नित्य हैं या पूज्य हैं **(अं मां अवतु)** वे मुझे स्वीकार कर मेरी रक्षा करें अथवा **(मां श्री जगन्नाथ धीरं अवतु)** मुझ पंडित जगन्नाथ भक्त की रक्षा करें।।१।।

भावार्थ—''हरि'' शब्द कोश के अनुसार हाथी, घोड़ा, बंदर, चन्द्र और सर्प अर्थ में लिया गया है अतः यहाँ इन हाथी आदि चिन्हों से सहित पाँच तीर्थंकर लिये गये हैं। श्री जगन्नाथ कवि ने स्वयं इस एक श्लोक में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुतिरूप से चौबीस अर्थ किये हैं एवं इसका ''**चतुर्विंशतिसंधानकाव्य**'' यह नाम दिया है।

निषिद्धिका (निषीधिका) दंडक

(अध्याय ५)

(प्राकृत एवं पद्यानुवाद)

श्रीगौतमस्वामी उवाच—

श्री गौतमस्वामी ने निषीधिका को नमस्कार किया है—

णमो जिणाणं ३, णमो णिस्सिहीए ३, णमोत्थु दे ३

नमो जिनेभ्यः ३, नमो निषीधिकायै ३, नमोऽस्तु ते ३।

श्रीगौतमस्वामी ने अरहंत, सिद्ध आदि से लेकर महावीरस्वामी को नमस्कार किया है—

अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सममण! सुभमण! सुसमत्थ! समजोग! समभाव! सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह! णिम्मम! णिस्संग! णिस्सल्ल! माण-माय-मोस-मूरण! तवप्पहावण! गुणरयणसीलसायर! अणंत! अप्पमेय! महदिमहावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसिणो चेदि णमोत्थु ए णमोत्थु ए णमोत्थु ए।

श्री गौतमस्वामी ने अरहंत सिद्ध आदि की स्तुति करते हुये मंगलहेतु कहा है—

मम मंगलं अरहंता य सिद्धा य बुद्धा य जिणा य केवलिणो ओहिणाणिणो मणपज्जवणाणिणो चउदसपुव्वंगमिणो सुदसमिदिसमिद्धा य तवो य वारहविहो तवस्सी, गुणा य गुणवंतो य, महरिसी तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी य, संजमो संजदा य, विणीओ विणदा य,

---

–चौबोल छंद–(पद्यानुवाद)–

हे अर्हंत सिद्ध बुद्धा, नीरज निर्मलसम मन सुमना।
हे सुसमर्थ परम शमयोग, शमभावी हे भवशमना।।
शल्यदुखित के शल्यविनाशन, हे निर्भय निराग निर्दोष।
हे निर्मोह विगत ममता निःसंग तथा निःशल्य विरोष।।१।।
मद माया असत्य के मर्दक, तपःप्रभावी हे परमेश।
गुण-शीलादिरत्नत्रयसागर, हे अनंत अप्रमेय महेश।।
महति पूज्य महावीर वीर, हे वर्धमान हे बुद्धि ऋषीश।
नमस्कार हो नमस्कार हो, नमस्कार हो तुम्हें हमेश।।२।।
मेरा मंगल करें सर्व, अर्हंत सिद्ध बुद्धा जिनराज।
केवलि जिन अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी ऋषिराज।।
चौदश पूर्व अंग पारंगत, अंगबाह्य श्रुतसंपन्ना।
बारह तप तपसी गुण और, गुणोंयुत महाऋद्धि शरणा।।३।।

बंभचेरवासो बंभचारी य, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमयपर-समयविदू, खंतिक्खवगा य खंतिवंतो य, खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य बुद्धिमंतो य, चेइयरुक्खा य चेइयाणि।

श्रीगौतम स्वामी ने ऊर्ध्व, अधो, तिर्यग्लोक के संपूर्ण सिद्धायतन–अकृत्रिम–कृत्रिम मंदिर व प्रतिमाओं की तथा 'अष्टापद' आदि निर्वाण क्षेत्रों की एवं सिद्धों की व सिद्धशिला आदि की, ढाईद्वीप के संपूर्ण पंचपरमेष्ठी व साधुवर्गों की वंदना की है—

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि, सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं, गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं पव्वत्तित्थेर-कुल-यराणं, चाउवण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु। जे लोए संति साहवो संजदा तवसी एदे मम मंगलं पवित्तं! एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि, तिविहं तियरणसुद्धो।।९।।

तीर्थ और तीर्थंकर प्रवचन, प्रवचनयुत व ज्ञान ज्ञानी।
सद्दर्शन सम्यग्दृष्टी, संयम व संयमी मुनिध्यानी।।
विनय तथा सुविनययुत साधू, ब्रह्मचर्य व्रत ब्रह्मचारी।
गुप्ति गुप्तिधर मुक्ति मुक्तियुत, समिति और समितिधारी।।४।।
स्वमत और परमत के ज्ञाता, क्षमाशील अरु क्षपक मुनी।
क्षीणमोह यति बोधितबुद्ध, बुद्धिऋद्धीयुत परममुनी।।
चैत्यवृक्ष जिनबिम्ब अकृत्रिम-कृत्रिम जितने त्रिभुवन में।
मेरा मंगल करें सभी ये, ये मंगलप्रद तिहुँजग में।।५।।
ऊर्ध्व अधो अरु मध्यलोक में, सिद्धायतन नमूँ उनको।
सिद्धक्षेत्र अष्टापद सम्मेदाचल ऊर्जयन्त गिरि को।।
चंपा पावा नगरि मध्यमा, हस्तिबालिका मंडप में।
और अन्य भी मनुज लोक में, तीर्थ क्षेत्र सबको प्रणमें।।६।।
मोक्षशिला को प्राप्त सिद्ध, जिनबुद्ध कर्म से मुक्त महान।
विगत कर्मरज नीरज विरहित, भावकर्ममल से अमलान।।
पांच भरत पांच ऐरावत, पांचों महाविदेहों में।
सूरि उपाध्याय गुरू प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर जितने।।७।।
चतुर्वर्णयुत श्रमण संघ के, साधू जितने इस जग में।
संयम तपसी ये सब मेरे, पावन मंगल हेतु बनें।।
भावसहित मैं त्रिविधशुद्धियुत, अंजलि मस्तक पर धरके।
त्रिविधक्रिया में शीश झुकाकर, सबको वंदूँ रुचि करके।।८।।

निषीधिका दण्डक

(अमृतवर्षिणी टीका सहित)

णमो जिणाणं ३, णमो णिस्सिहीए ३, णमोत्थु दे ३।

अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सममण! सुभमण! सुसमत्थ! समजोग! समभाव! सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह! णिम्मम! णिस्संग! णिस्सल्ल! माण-माय-मोस-मूरण! तवप्पहावण! गुणरयणसीलसायर! अणंत! अप्पमेय! महदिमहावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे णमोत्थु दे।

अर्थ—जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो। निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो। आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, हे अर्हंत ! हे सिद्ध ! हे बुद्ध ! हे नीरज ! हे निर्मल ! हे सममन ! हे शुभमन ! हे सुसर्थ ! हे समयोग ! हे समभाव! हे शल्यपीड़ित के शल्यघातक ! हे निर्भय ! हे नीराग ! हे निर्दोष ! हे निर्मोह ! हे निर्मम ! हे निःसंग ! हे निःशल्य ! हे मान–माया–मृषा के मर्दक ! हे तपःप्रभावक ! हे गुणरत्न और शील के सागर ! हे अनंत ! हे अप्रमेय ! हे महति महावीर वर्द्धमान बुद्धर्षि भगवन् ! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

विशेषार्थ—यहाँ जिनेन्द्र देव को तीन बार नमस्कार करने से अति भक्ति सूचित होती है। निषीधिका को भी तीन बार नमस्कार किया है। निषीधिका शब्द से सामान्यतया तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियाँ ली जाती हैं अथवा सामान्य केवली आदि के भी निर्वाण स्थान निषीधिका कहलाते हैं।

टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य ने यहाँ 'निषीधिका' के सत्रह–१७ प्रकार बतलाये हैं–

"णिसीहियाए–निषीधिका शब्दोऽनेकार्थाभिधायी। तथाहि–(१) जिनसिद्धप्रतिबिम्बानि मुनयः (२) तथा तदालयाः। (३) बुद्ध्यादि–लब्धिसंपन्ना मुनयः। (४) तैराश्रितानि क्षेत्राणि। (५) अवधिमनः–पर्यय–केवलज्ञानिनः। (६) ज्ञानोत्पत्तिप्रदेशाः। (७) तैराश्रितक्षेत्राणि। (८) सिद्धजीवाः। (९) तन्निर्वाणक्षेत्राणि। (१०) तैराश्रिताकाशप्रदेशाः। (११) सम्यक्त्वादिचतुर्गुणयुक्तास्तपस्विनः। (१२) तैराश्रिततक्षेत्रम्। (१३) तत्त्यक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१४) योगस्थितास्तपस्विनः। (१५) तैराश्रितक्षेत्रम्। (१६) तन्मुक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (१७) त्रिविधपण्डितमरणस्थिता मुनयः। इत्यादि।[१]

अर्थ—(१) जिन और सिद्ध की कृत्रिम–अकृत्रिम प्रतिमायें। (२) उनके मंदिर, (३) बुद्धि आदि ऋद्धि से सहित मुनिगण, (४) उनसे आश्रित क्षेत्र, (५) अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी,

१. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी पृ. २०।

(६) उनके ज्ञानोत्पत्ति के प्रदेश, (७) उनसे आश्रित क्षेत्र, (८) सिद्धजीव (९) उनके निर्वाण क्षेत्र, (१०) उनसे आश्रित आकाशप्रदेश, (११) सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार से युक्त तपस्वी, (१२) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१३) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१४) योग में स्थित तपस्वी, (१५) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१६) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१७) और तीन प्रकार के पंडितमरण में स्थित मुनिगण। ये सभी 'निषीधिका' शब्द से कहे गये हैं अतः इन सबको यहाँ नमस्कार हो जाता है।

घातिकर्म विरहित अर्हंत देव हैं। आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवान हैं। केवलज्ञान सहित बुद्ध कहलाते हैं। ज्ञानावरण दर्शनावरण रूपीरज से रहित 'नीरज' हैं। द्रव्य और भावरूप कर्म कलंक से रहित निर्मल हैं। तृण और स्वर्ण तथा शत्रु–मित्र में समभाव–रागद्वेष रहित चित्तवाले 'सममन' हैं। शोभन–आर्त, रौद्रध्यान से रहित मन वाले 'सुमन' या शुभमन वाले हैं। कायक्लेश तप के अनुष्ठान में और परीषहों के सहन करने में अच्छी तरह समर्थ होने से 'सुसमर्थ' कहलाते हैं। परम उपशम भाव से सहित होन से 'समयोग' होते हैं। संसार का उपशम करने के लिये अथवा राग द्वेष का परिहार करने के लिये द्वादश अनुप्रेक्षा की भावनारूप से परिणत 'समभाव' कहलाते हैं।

इस प्रकार जो सामान्यरूप से अर्हंत आदि हैं उन्हें नमस्कार करके यहाँ विशेषरूप से अंतिम तीर्थंकर की स्तुति करते हुये कहते हैं–'सल्लघत्ताण'–चतुर्गति संसार में जो जीवों को 'शृणन्ति' कष्ट देते हैं–शारीरिक, मानस और आगंतुक दुःखों द्वारा पीड़ा पहुँचाते हैं वे शल्य कहलाते हैं वे माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य हैं तथा क्रोधादि भी कदाचित् शल्य कहलाते हैं जैसे कि वाणादि शल्य के समान। उन शल्यों से पीड़ित प्राणी 'शल्यघट्ट' कहलाते हैं। उन शल्यपीड़ित जीवों के शल्य घातक हैं अर्थात् उन चतुर्गति के दुःख के लिए कारणभूत जो शल्य हैं उनके विनाशक है। सात भयों से रहित होने से 'निर्भय' कहलाते हैं। मोह और अज्ञान से रहित होने होने से अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट कर देने से भगवान 'निर्मोह' कहलाते हैं। सभी सांसारिक विषयों में ममत्व रहित होने से 'निर्भय' हैं। बाह्य–अभ्यंतर परिग्रहों से रहित होने से 'निःसंग' हैं। माया आदि शल्यों से विरहित होने से 'निःशल्य' हैं। गुण चौरासी लाख हैं, रत्न–सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन हैं और शील के भेद अठारह हजार होते हैं, इन गुण, रत्न और शील के आप सागर हैं–निवास स्थान हैं अतः आप 'गुणरत्नशीलसागर' कहलाते हैं। अनंत केवलज्ञान दर्शन आदि से युक्त होने से 'अनंत' कहलाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान से–हम सभी छद्मस्थ जनों के इन्द्रियज्ञान द्वारा नहीं जाने जा सकते अतः 'अप्रमेय' कहलाते हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट 'महतिमहावीर' और 'वर्द्धमान' इन दो नामों से विभूषित आप 'महतिमहावीर' वर्द्धमान' कहलाते हैं।

भगवान महावीर के गर्भावतार आदि में माता–पिता की इन्द्रों द्वारा महती पूजा की गई थी और रत्नवृष्टि आदि की गई थी, इसीलिये बंधुजनों ने भगवान का 'वर्धमान' यह नाम रखा था। अव–

समंतात् सब तरफ से ऋद्ध–मान अर्थात् पूजा होने से वर्द्धमान–वर्धमान कहलाते हैं। भगवान वर्धमान जब दीक्षा लेकर ध्यान में खड़े थे तब रुद्र ने महान् उपसर्ग किया था किन्तु जब वह उन्हें ध्यान से चलायमान नहीं कर सकता तब उसने प्रसन्न होकर 'महति महावीर' नामकरण किया था। 'बुद्धरिसिणो'–जिन्होंने संपूर्ण पदार्थों को जैसे का तैसा जान लिया है ऐसे 'ऋषि' अर्थात् केवलज्ञान आदि क्षायिक नवकेवल लब्धियों से संपन्न होने से भगवान महावीर 'बुद्धर्षि' कहलाते हैं। इन सभी विशेषणों से समन्वित ऐसे अर्हंत, सिद्ध आदि विशेषणों से विशिष्ट हे महावीर स्वामिन् ! आपके लिये नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

मम मंगलं अरहंता य सिद्धा य बुद्धा य जिणा य केवलिणो ओहिणाणिणो मणपज्जवणाणिणो चोद्दसपुव्वंगमिणो सुदसमिदिसमिद्धा य तवो य बारसविहो तवस्सी, गुणा य गुणवंतो य महरिसी तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी स, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, बंभचेरवासो य बंभचारी, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य मुतीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमय परसमयविदू खंतिक्खगा[१] य खंतिवंतो य खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य बुद्धिमंतो य, चेदियरुक्खा य चेदियाणि।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, बुद्ध, जिन, केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चौदश पूर्वगामी, श्रुतसमिति से समृद्ध, बारह प्रकार के तप और तपस्वी, गुण और गुणधारी, महर्षि, तीर्थ और तीर्थंकर, प्रवचन और प्रवचन वाले, ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, संयम और संयत मुनि, विनय और विनीत मुनि ब्रह्मचर्यव्रत और ब्रह्मचारी, गुप्तियाँ और गुप्तिमान, मुक्ति और मुक्तिमान, समितियाँ और समितिवान् स्वसमय–परसमय के ज्ञाता, क्षांति–क्षपक और क्षांतिमान, क्षीणमोह और क्षीणमोहवान्, बोधिबुद्ध और बुद्धिमान, चैत्यवृक्ष और चैत्य–जिनप्रतिमायें ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

विशेषार्थ—ये अरिहंत सिद्ध आदि सब मेरे मंगल के लिये—मलगालन करने वाले होवें। छ्यालीस गुण सहित भगवान अर्हंत कहलाते हैं। संसाररूपी विषम कष्ट को देने में कारणभूर्त कर्म हैं इन कर्मों को जड़मूल से नष्ट करने वाले 'जिन' कहलाते हैं। केवली भगवान अवधिज्ञानी महामुनि, मनःपर्यय ज्ञानी महामुनि, चतुर्दश पूर्व और द्वादशांग के ज्ञानी, श्रुत–अंगबाह्य अर्थात् कालिक, उत्कालिक आदि भेदों का जो समिति–समूह उनसे समृद्ध–अंगबाह्य श्रुत के ज्ञानी बारह प्रकार के तप–अनशन आदि भेदों सहित और तपस्वी, महासाधु, गण–मूलगुण एवं उत्तरगुण अथवा चौरासी लाख उत्तर गुण और उनके गुणों से युक्त महामुनि। महर्षि–कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि आदि परमऋद्धि युक्त मुनिगण ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

---

१. 'खंतिक्खवगा य खीणमोहा य' प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में ऐसा पाठ है।

तीर्थ, ब्रह्मचर्यवास एवं चैत्य का वर्णन–

तीर्थ—आगम और उस आगम के आधारभूत संघ ये तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान मेरे लिए मंगलकारी होवें। पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित वचन प्रवचन कहलाते हैं ऐसे प्रवचन और प्रवचन वाले महामुनि, मति आदि पंचविध ज्ञान और ज्ञानधारी महासाधु, त्रिविध सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन महामुनि, बारह प्रकार का संयम और संयमधारी संयत, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार इन चार भेदरूप विनय और विनयगुण युक्त मुनिगण ये मंगलकारी होवें।

ब्रह्मचर्यवास—ब्रह्म–गुरुकुल–मुनिसंघ अथवा व्रतों में जो चर्या की जाती है–उनका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम ब्रह्मचर्य है उसके साथ जिनका वास है अर्थात् जो ब्रह्मचर्य युक्त हैं और जो ब्रह्मचर्य से सहित आत्मा–मुनि है। त्रिविध गुप्तियाँ और गुप्तिमान महामुनि हैं। बाह्य और अंतरंग परिग्रह का त्याग मुक्ति है और मुक्ति के परिग्रह के त्यागी अथवा मोक्ष प्राप्त आत्मा मुक्तिमान कहलाते हैं। पाँच समितियाँ और समितिधारी महासाधु होते हैं। स्वसमय–जैनमत, परसमय–जैन से अतिरिक्त वैदिक, बौद्ध आदि मत इन सबके ज्ञाता जो महामुनि है। क्षांति–क्षमाशील, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ महामुनि और क्षमावान मुनि, क्षीणमोह–मोहरहित परिणाम–बारहवां गुणस्थान और उस गुणस्थान वाले क्षीणमोहवान् निर्ग्रंथ महासाधु होते हैं। संसार, शरीर, विषय आदि में उपदेश से वैराग्य को प्राप्त 'बोधितबुद्ध' कहलाते हैं। कोष्ठबुद्धि आदि बुद्धि ऋद्धि से सहित महामुनि बुद्धिमंत कहलाते हैं।

चैत्य—जिनप्रतिमायें और चैत्यवृक्ष—जिनवृक्षों में जिन प्रतिमायें विराजमान रहती हैं ऐसे अकृत्रिम जिनमंदिरों में तथा समवसरण में अशोक, सप्तच्छद, चंपा और आम्र के वनों में ये चैत्यवृक्ष माने गये हैं। इस प्रकार कृत्रिम—देव, मनुष्यों द्वारा बनवायी गयी जिनप्रतिमायें और अनादिनिधन—शाश्वत जिनप्रतिमायें, 'चैत्य' शब्द से कही जाती हैं।

ये अर्हंत, सिद्ध आदि चैत्यवृक्षपर्यंत सभी पूज्य—वंद्य गुण और गुणधारी महापुरुष हम सभी के लिये मंगलकारी होवें।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिबालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं, गुरु–आयरिय–उवज्झायाणं पव्वत्तित्थेरकुलयराणं चाउवण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु, पंचसु महाविदेहेसु। जे लोए संति साहवो संजदा तवस्सी एदे मम मंगलं पवित्तं। एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्हि तिविहं तियरणसुद्धो।[१]

---

१. तिरयणसुद्धो इति प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी ग्रंथ पाठांतरं।

अर्थ—मैं ऊर्ध्वलोक के, अधोलोक के और तिर्यग्लोक—मध्यलोक के सिद्धायतन को नमस्कार करता हूँ। अष्टापद पर्वत, सम्मेद शिखर, ऊर्जयंत, चंपापुर, पावापुर, मध्यमानगरी, हस्तिबालिका मंडप की सिद्धनिषीधिकाओं को नमस्कार करता हूँ।

अन्य जो भी निषीधिकायें इन ढाई द्वीप में हैं। ईषत्प्राग्भार–सिद्धशिला पर सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्र से मुक्त नीरज, निर्मल हैं। जो गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर हैं। चातुर्वर्ण और श्रमणसंघ हैं।

पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे ढाई द्वीपों की ये दश कर्मभूमियाँ हैं। पाँच महाविदेहों में जो कर्मभूमियों में ये गुरु आदि संघ पर्यंत हैं। ये सब मेरे लिये मंगलकारी होवें। लोक में जो भी साधु संयत और तपस्वी हों वे सब मुझे पवित्र करें और मंगलप्रद हों। मैं भाव से विशुद्ध होकर मस्तक झुकाकर हस्तांजलि को मस्तक पर धरकर मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—मेरु के ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक, मेरु के नीचे को अधोलोक और मेरु की ऊँचाई प्रमाण तिर्यग्लोक में जो भी सिद्धों के—मुक्तात्माओं के निषीधिका—निर्वाणक्षेत्र हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये सिद्धनिषीधिकायें कहाँ–कहाँ हैं ?

अष्टापदपर्वत—कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखरपर्वत, ऊर्जयंतपर्वत—गिरनार, चंपापुरी, पावापुरी, मध्यमानगरी और हस्तिवालिका मंडप ये सिद्धनिषीधिकायें हैं। इन निर्वाणक्षेत्रों से अतिरिक्त जिनके नाम निर्विष्ट नहीं किये गये हैं ऐसी जो कोई भी निषीधिकायें इस ढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्तर्गत हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये निषीधिकायें किन किनकी हैं ?

ये सिद्धों की निषीधिकायें हैं।

ईषत्प्राग्भार–मोक्षशिला—सिद्धशिला कहलाती है। उसके ऊपर के तल–भाग पर स्थित जो सिद्ध क्षेत्र भगवान हैं उन्हीं के विशेषण बतलाते हैं। **बुद्धाणं**–संपूर्ण पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले हैं वे सिद्ध जड़रूप नहीं हैं। **कम्मचक्कमुक्काणं**–ज्ञानावरणादिमूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक भेदरूप कर्मों से रहित हैं। **णीरयाणं**–रज—ज्ञानावरण, दर्शनावरण अथवा पाप, इनसे जो रहित हैं। **णिम्मलाणं**–सम्यग्दर्शनादि के अतिचार—दोष और भावकर्मरूपी मलों से रहित हो चुके हैं। इन सिद्धशिला के उपरिम भाग में विराजमान सिद्धों को नमस्कार हो।

गुरु–आयरिय–उवज्झायाणं—गुरु–दीक्षागुरु, शिक्षागुरु आदि गुरु कहलाते हैं। पाँच प्रकार के आचारों के पालन करने वाले और कराने वाले आचार्य कहलाते हैं इनकी जो निषीधिकायें हैं तथा–**पव्वत्तित्थेरकुलयराणं**–सन्मार्ग के प्रवर्तक प्रवर्तित हैं। वयोवृद्ध साधु स्थविर हैं अथवा गुणों में ज्येष्ठ भी स्थविर कहलाते हैं। नंदिसंघ, देवसंघ, सेनसंघ और सिंहसंघ ये संघ कहलाते हैं।

देशिगण, बलात्कारगण, काणूरगण और सूरस्थगण ये गण शब्द से कहे जाते हैं इन संघ और गणों के भेद वाले महामुनियों की जो कोई भी निषीधिकायें हैं। इन सब निषीधिकाओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्रतिक—संयमियों के चार भेद माने हैं–ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन्हें चातुर्वर्ण श्रमणसंघ कहते हैं अथवा ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के भेदरूप चातुर्वर्ण संघ या चतुर्विधसंघ कहलाता है।

यह संघ कहाँ–कहाँ पाया जाता है ?

ढाई द्वीपों में पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे दश क्षेत्र माने हैं तथा पाँच महाविदेह माने हैं। इन पंद्रह कर्मभूमियों में यह चतुर्विध संघ रहता है यह संघ मेरे लिये मंगलकारी होवे।

लोक में–मानुषोत्तर पर्वत वलयाकार है जो कि ढाई द्वीप की सीमा पर है। उन ढाईद्वीप क्षेत्र के अंदर में जो भी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं और कर चुके हैं वे सभी दिगम्बर जैन साधु, संयत, तपस्वी मेरा मंगल करें और मुझे पवित्र करें। मलगालन के लिये जो निमित्त है उसे मंगल कहते हैं अथवा सुख को प्राप्त कराने में जो निमित्त है उसे भी मंगल कहते हैं।

इन सबका मैं भाव से विशुद्ध होता हुआ शिर झुकाकर मंगल करता हूँ अर्थात् स्तुति करता हूँ। कहा भी है–

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेंद्रगुणस्तोत्र-मित्याहुर्मुनिपुंगवाः।।

ग्रंथ रचना के आदि, मध्य और अन्त में बुद्धिमानों को मंगल करना चाहिये। वह जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तोत्र ही है ऐसा महामुनियों ने कहा है–

किस विधि से मैं मंगल–स्तुति करता हूँ ?

मैं देववंदना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय इन तीन प्रकार की क्रियाओं के अनुष्ठान में मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अंजलि को मस्तक पर रखकर, झुकाकर सिद्धों की वंदना करके उपर्युक्त सभी सिद्ध निषीधिकाओं, सिद्धों को, सिद्धक्षेत्रों को, गुरु–आचार्य–उपाध्याय आदि महामुनियों को नमस्कार करता हूँ।

''अरहंत ! सिद्ध !''

अमृतवर्षिणी टीका–

अरिहंत का स्वरूप

जिनके पंचकल्याणक होते हैं ऐसे समवसरण में विराजमान 'अर्हंत' हैं। अथवा जो घातियाँ कर्मों का नाश कर केवली बन जाते हैं वे भी अर्हंत भगवान हैं।

इस भरतक्षेत्र के आर्यखंड में चतुर्थ काल में हमेशा २४ तीर्थंकरों का अवतार होता रहता है। कोई भी महापुरुष तीर्थंकर के पादमूल में रहकर दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं को भाते हैं और उनके प्रसाद से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके स्वर्गों में देवपद को प्राप्त कर लेते हैं।

उन तीर्थंकर होने वाले के मर्त्यलोक में गर्भावतार के छह माह पूर्व ही माता के आंगन में इंद्र की आज्ञा से कुबेर रत्नों की वर्षा करने लगता है। श्री, ह्री, धृति, लक्ष्मी, कीर्ति आदि निन्यानवे[१] विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियाँ भी छह माह पूर्व ही बड़े हर्ष से वहाँ आ जाती हैं और जिनेंद्रदेव के होनहार माता–पिता को नमस्कार करके अपने आने का कारण निवेदन करती हैं। पुनः नाना प्रकार से माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं। कोई माता के गुणों का गान करती हैं, कोई पैर दबाती हैं, कोई दिव्य भोजन की व्यवस्था करती हैं, कोई छत्र लगाती हैं, कोई चमर ढोरती हैं, कोई तलवार, चक्र और स्वर्णमयी बेंत हाथ में लेकर द्वारपाल का काम करती हैं।

पंचकल्याणक का वर्णन

१. गर्भकल्याणक—छह महीने के अनंतर एक दिन रात्रि के पिछले भाग में माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं जो कि क्रम से १. ऐरावत हाथी, २. बैल, ३. सिंह, ४. हाथियों द्वारा अभिषेक होती हुई लक्ष्मी, ५. दो मालायें, ६. चंद्रमा, ७. उगता हुआ सूर्य, ८. मीन युगल, ९. जल से भरे दो कलश, १०. कमल सहित सरोवर, ११. महासमुद्र, १२. सुवर्णमय सिंहासन, १३. देव विमान, १४. नागेन्द्रभवन, १५. महारत्नराशि, १६. निर्धूम अग्नि। इन स्वप्नों को देखकर माता निद्रा को दूर कर प्रातः क्रिया से निवृत होकर राजदरबार में राजा के पास पहुँचती हैं और यथायोग्य आसन पर बैठकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक अपने स्वप्नों को निवेदित करती हैं। उन्हें सुनकर महाराज प्रत्युत्तर में कहते हैं कि–

हे प्रिये! निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर ने अवतार ले लिया है। लगातार छह मास से होने वाली रत्नों की वर्षा और देवियों के द्वारा की हुई शुश्रूषा से हम दोनों को जिनेंद्रदेव के जिस जन्म की सूचना मिली थी वह आज सफल हुई है। यह सुनकर कांति को धारण

---

१. हरिवंश पुराण.....

करती हुई माता अतीव प्रसन्नता को प्राप्त हो जाती हैं।

क्रम–क्रम से गर्भ की वृद्धि होने पर भी माता की त्रिवलि की शोभा भंग नहीं होती है। तीर्थंकर शिशु का गर्भ में निवास वैसा ही होता है कि जैसा जल में प्रतिबिंबित सूर्य का होता है। मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा जगत को देखते हुये जिन बालक, दिक्कुमारियों के द्वारा शुद्ध किये हुये गर्भ में नौ मास तक सुख से स्थित रहते हैं। गर्भ में आने के नौ माह पूर्ण होने तक लगातार रत्नों की वर्षा होती रहती है।

२. जन्मकल्याणक—अनंतर सर्वोच्च शुभ ग्रहों के शुभ नक्षत्र में पूर्व दिशा के सदृश जिनमाता जिन बालकरूपी सूर्य को जन्म देती हैं। उसी समय भवनवावसी देवों के यहाँ अपने आप शंखों का शब्द, व्यंतरों के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद और कल्पवासी देवों के यहाँ घंटाओं का जोरदार शब्द होने लगता है। तीनों लोकों में स्थित सभी इन्द्रों के मुकुट झुक जाते हैं, उनके आसन कंपित हो उठते हैं और उनके कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगती है। अवधिज्ञान से जानकर इंद्र महाराज भगवान् की दिशा में सात पैंड चलकर उन्हें परोक्ष में नमस्कार करके उनके जन्मकल्याणक को मनाने हेतु सभी देवों को चलने की सूचना कर देते हैं।

उधर माता की सेवा में तत्पर हुई देवियाँ शीघ्र ही करने योग्य जातकर्म में लग जाती हैं। विजया, वैजयंती, जयंती, अपराजिता, नंदा, नंदोत्तरा, नंदी और नंदिवर्धना ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथों में झारी लेकर खड़ी हो जाती हैं। सुस्थिता, प्रणिधान्या, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीमती, कीर्तिमती, वसुंधरा और चित्रा ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथों में दर्पण लेकर खड़ी होती हैं। इला, सुरा, पृथिवी, पद्मावती, कांचना, सीता, नवमिका और भद्रिका ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ माता के ऊपर सफेद छत्र धारण करती हैं। श्री, ह्री, धृति, वारुणी, पुण्डरीकिणी, अलंबुसा, अलंबुजास्यश्री और मिश्रकेशी ये दिक्कुमारी देवियाँ चामर ढोरती हैं। चित्रा, कनकचित्रा, सूत्रामणि और त्रिशिरा ये चार विद्युत्कुमारी देवियाँ सर्वत्र प्रकाश फैलाती हैं। विजया, वैजयंती, जयंती और अपराजिता ये चार विद्युत्कुमारियों की प्रधान देवियाँ तथा रुचका, रुचकोज्ज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा ये चार दिक्कुमारियों की प्रधान देवियाँ ये आठों ही देवियाँ जिनेंद्रदेव का जातकर्म करती हैं।

सेनापति के द्वारा सौधर्म इंद्र का आदेश सुनाया जाने पर स्वर्ग के समस्त देव अपनी–अपनी सेना और परिवार सहित सौधर्म इंद्र के निकट आ जाते हैं। समस्त भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव अपने–अपने स्थानों से बाहर आ जाते हैं। सोलह स्वर्ग तक के इंद्र अपने–अपने परिकर सहित चल पड़ते हैं। उस समय हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, बैल, गंर्धव और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं से आकाश मंडल व्याप्त हो जाता है।

सौधर्म इंद्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर चल पड़ता है। असंख्य देवों का समूह निमिष मात्र में तीर्थंकर देव की जन्मनगरी में आ जाता है। उस नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर इंद्र भीतर प्रवेश करता

है और जिनेंद्रशिशु को लाने के लिये इंद्राणी को आज्ञा देता है। इंद्राणी माता के प्रसूतिगृह में प्रवेश कर माया से माता को सुखनिद्रा में निमग्न कर उनके पास मायामयी दूसरा बालक सुलाकर जिनबालक को प्रणाम कर पुनः उन्हें दोनों हाथों से उठा लेती हैं। उस समय अतीव हर्ष से रोमांचित हुई उस देवी को इतना आनंद होता है कि तत्क्षण ही संचित हुआ पुण्य उसे मात्र एक भवावतारी बना देता है। इंद्राणी बालक को गोद में लेकर बाहर आकर इंद्र को सौंप देती हैं। इंद्र उस क्षण हजार नेत्र बनाकर जिनदेव के रूप को देखते हुये भी तृप्त नहीं होता है। पुनः प्रभु को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठ जाता है और महावैभव के साथ अर्ध निमिष मात्र में सुदर्शन मेरु पर पहुँच जाता है। पहले मेरुपर्वत की तीन प्रदक्षिणा देता है पुनः उसके पांडुकवन में पांडुकशिला पर स्थित सिंहासन पर जिनबालक को विराजमान करके आप स्वयं अभिषेक करने के योग्य वेषधारण कर लेता है।

क्षीरोदधि से भर–भरकर लाये गये एक हजार आठ कलशों का दृश्य अतीव मनोरम दिखता है। सबसे प्रथम सौधर्म इंद्र प्रभु का अभिषेक करते हैं पुनः हजारों देव मिलकर अभिषेक करते हैं और "इंद्राणी आदि देवियाँ भी सुगंधित जल से भरे कलशों द्वारा भगवान् का अभिषेक करती हैं।" पुनः भगवान् के शरीर को पोंछकर नाना प्रकार के सुंदर वस्त्रों को और आभूषणों को पहनाकर अलंकृत करती हैं। अनंतर इंद्र जिनबालक का नाम रखकर वापस लाकर माता–पिता को सौंपकर वहाँ पर तांडव नृत्य आदि करते हुये महान् उत्सव मनाते हैं । पश्चात् जिनबालक की सेवा करने के लिये देवों को उनके पास छोड़कर और भगवान् के हाथ के अंगूठे में अमृत आरोपित कर इंद्रादि देव अपने–अपने स्थानों पर चले जाते हैं भगवान् उस अंगूठे को चूसकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे माता के स्तन का पान नहीं करते हैं। भगवान् के बड़े होने पर उनके लिये भोजन और वस्त्र आदि सामग्री देव लोग स्वर्ग से ही लाते हैं। युवावस्था में कोई–कोई तो ब्याह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं और कोई बाल ब्रह्मचारी ही रहते हैं। उनके राज्य पट्ट के समय भी इंद्रादि देवगण आकर उनका राज्याभिषेक करते हैं । प्रभु के राज्य शासन में प्रजा परम सुख और सौभाग्य का अनुभव करती है।

३. दीक्षा कल्याणक– जातिस्मरण, मेघविलय आदि किन्हीं कारणों से जब तीर्थंकर देव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उसी क्षण लौकांतिक देव आ जाते हैं और भगवान् को नमस्कार कर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हुये सातिशय पुण्य संचय करके वापस चले जाते हैं। पुनः सौधर्म इंद्र आदि देवगण आकर प्रभु का महाभिषेक करके उन्हें पालकी में विराजमान करते हैं। पहले राजागण पुनः विद्याधर उस पालकी को ले चलते हैं उसके बाद इंद्रादि देव अपने कंधों पर रखकर आकाशमार्ग से दीक्षावन में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर पहले से ही इंद्राणी चौक पूर कर रखती हैं। उस पर विराजमान होकर भगवान् सर्व आभूषणों का त्याग करके पंचमुष्ठि केशलोंच कर डालते हैं। इंद्र उन केशों को रत्नपिटारे में रखकर ले जाकर उन्हें क्षीरसागर में विसर्जित कर देता है। भगवान् उस समय बेला, तेला आदि उपवास का नियम लेकर ध्यान में लीन हो जाते है। अंतर्मुहूर्त में उन्हें

मन:पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। जब ध्यान समाप्त होता है तब वे पारणा के लिये ग्राम, नगर में प्रवेश करते हैं । कोई महाभाग्यशाली राजा उन्हें पड़गाहन कर निर्दोष और प्रासुक आहार प्रदान करके देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि को प्राप्त करता है । वह दातार नियम से मोक्षगामी होता है। अनंतर भगवान् मौनपूर्वक तपश्चरण करते हुये अपना छद्मस्थ काल व्यतीत करते हैं।

४. ज्ञान कल्याणक—कदाचित् किसी वन में निश्चल ध्यान से आरूढ़ हुये भगवान् क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके घातिया कर्मों का नाश कर देते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर यहाँ आकर समवसरण की रचना कर देता है। उस समवसरण में भगवान चार अंगुल अधर विराजमान रहते हैं । उस समय कोई राजा–महाराजा दीक्षा लेकर भगवान् के गणधर हो जाते हैं । तब भगवान् की दिव्यध्वनि खिरती है, जो कि सात सौ अठारह भाषाओं में होती है अथवा समवसरण की बारह सभा में बैठे हुये असंख्य प्राणी उसे अपनी–अपनी भाषा में समझ लेते हैं । इस समवसरण में चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ होते हैं जिनके दर्शन से मिथ्यादृष्टि लोगों का मान गलित हो जाता है। बारह सभा में दाहिनी ओर से लेकर क्रम से –१. मुनि, २. कल्पवासिनी देवियाँ , ३. आर्यिकायें, ४. ज्योतिषी देवों की देवियाँ, ५. व्यंतर देवों की देवियाँ, ६. भवनवासी देवों की देवियाँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यंतर देव, ९. ज्योतिषी देव, १०. कल्पवासी देव, ११. मनुष्य और, १२. तिर्यंच ये पृथक्–पृथक् अपने–अपने स्थान में बैठकर भगवान् का दिव्य उपदेश श्रवण करते हैं। भगवान् का जहाँ–जहाँ श्री विहार होता है वहाँ –वहाँ दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, शोक आदि संकटों का अभाव हो जाता है। बल्कि ५० वर्ष तक उस भूमि में कोई उपद्रव आदि नहीं होते हैं। पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, पाखंडी, नपुंसक, विकलांग और विकलेंद्रिय जीव उस समवसरण में प्रवेश नहीं कर पाते हैं वे बाहर ही बाहर प्रदक्षिणा देते हैं। समवसरण भूमितल से बीस हजार हाथ प्रमाण ऊँचा रहता है अतः इसमें २० हजार पैड़ियाँ रहती हैं। वृद्ध, बालक आदि कोई भी नर–नारी भक्ति से अंतर्मुहूर्त मात्र में संपूर्ण सीढ़ियों को पार कर जाते हैं। यह सब भगवान् के केवलज्ञान का ही माहात्म्य है।

५. मोक्ष कल्याणक—अधिक से अधिक एक और कम से कम दो दिन की जब आयु शेष रह जाती है तब भगवान् निश्चल ध्यान में आरूढ़ होकर योगों का निरोध कर लेते हैं। उस समय समवसरण विघटित हो जाता है। भगवान् अंत में शेष अघाति कर्मों का भी विनाश कर एक समय मात्र में ऊर्ध्व लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाते हैं वहाँ पर अक्षय, अनंत, अविनाशी, शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं। उसी समय मुनियों का श्रेष्ठ संघ, देवों का समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओं का समूह ये सब तीव्रभक्तिवश गंध, पुष्प, धूप, अक्षत और देदीप्यमान दीपक आदि के द्वारा जगदगुरु देवाधिदेव के शरीर की पूजा कर नमस्कार करते हैं और अग्निकुमार देव के मुकुटानल से उसका संस्कार करके उस पवित्र भस्म को अपने–अपने ललाट आदि उत्तम स्थानों में लगाकर अपने को

पवित्र करके कृतकृत्य होते हुये अपने–अपने स्थान पर चले जाते हैं।

जहाँ पर तीर्थंकर महापुरुष जन्म लेते हैं, दीक्षा ग्रहण करते हैं, केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और निर्वाण को प्राप्त करते हैं ये कल्याणक स्थान कहलाते हैं। ये पवित्र स्थान मनुष्यों ही क्या देव और इंद्रो के द्वारा तथा महामुनियों के द्वारा भी पूज्यता को प्राप्त हुये महातीर्थ कहलाते हैं। आज तीर्थंकरों का अवतार न होने से हमें प्रत्यक्ष में उनके कल्याणकों को देखने का अवसर नहीं मिलता है फिर भी जब जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा विधि की जाती है उस समय उन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों का दृश्य दिखाया जाता है। जो इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को करते हैं, कराते हैं, अनुमोदना देते हैं और देखते हैं तथा सुनते हैं वे सभी महान् पुण्य के भागी होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं हैं।

चौंतीस अतिशय एवं आठ प्रातिहार्य

(तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ से)

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में श्री यतिवृषभाचार्य ने ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्य का वर्णन किया है[१]—

लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान भगवान् अरहन्त देव उन सिंहासनों के ऊपर आकाशमार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।। ८९५।।

(१) स्वेदरहितता, (२) निर्मलशरीरता, (३) दूध के समान धवल रुधिर, (४) आदि का वज्रर्षभनाराचसंहनन, (५) समचतुरस्त्ररूप शरीर संस्थान, (६) अनुपमरूप, (७) नवचम्पक की उत्तम गन्ध के समान गन्ध का धारण करना, (८) एक हजार आठ उत्तम लक्षणों का धारण करना, (९) अनन्त बल–वीर्य और (१०) हित–मित एवं मधुर भाषण, ये स्वाभाविक अतिशय के दश भेद हैं। यह दशभेदरूप अतिशय तीर्थंकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।। ८९६–८९८।।

(१) अपने पास से चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्षता, (२) आकाशगमन, (३) हिंसा का अभाव, (४) भोजन का अभाव, (५) उपसर्ग का अभाव, (६) सबकी ओर मुख करके स्थित होना, (७) छाया रहितता, (८) निर्निमेष दृष्टि, (९) विद्याओं की ईशता, (१०) सजीव होते हुए भी नख और रोमों का समान रहना, (११) अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षरानक्षरात्मक भाषाएँ हैं उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों को छः द्रव्य,

---

१. तिलोयपण्णत्ति–चतुर्थ अधिकार पृ. २६२ से २६५ तक।

नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये महान् आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय तीर्थंकरों को केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रगट होते हैं।।८९९-९०६।।

(१) तीर्थंकरों के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्र, फूल और फलों की वृद्धि से संयुक्त हो जाता है; (२) कंटक और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है, (३) जीव पूर्व बैर को छोड़कर मैत्री भाव से रहने लगते हैं, (४) उतनी भूमि दर्पणतल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है, (५) सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करता है, (६) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य को रचते हैं, (७) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है, (८) वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है, (९) कूप और तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं, (१०) आकाश धुआँ और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है, (११) सम्पूर्ण जीवों को रोगादि की बाधाएँ नहीं होती हैं, (१२) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है, (१३) तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में (विदिशाओं सहित) छप्पन सुवर्णकमल एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजनद्रव्य होते हैं।।९०७-९१४।।

आठ प्रातिहार्यों का वर्णन

ऋषभादि तीर्थंकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वे ही अशोक वृक्ष हैं।। ९१५।।

न्यग्रोध, सप्तपर्ण, शाल, सरल, प्रियंगु, फिर वही (प्रियंगु), शिरीष, नागवृक्ष, अक्ष (बहेड़ा), धूली (मालिवृक्ष), पलाश, तदू, पाटल, पीपल, दधिपर्ण, नन्दी, तिलक, आम्र, कंकेलि (अशोक), चम्पक, वकुल, मेषशृङ्ग, धव और शाल ये (१) अशोक वृक्ष लटकती हुई मालाओं से युक्त और घंटासमूहादिक से रमणीय होते हुए पल्लव एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं से शोभायमान होते हैं।। ९१६-९१८।। ऋषभादिक तीर्थंकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोकवृक्ष बारह से गुणित अपने अपने जिन की ऊँचाई से युक्त होते हुए शोभायमान हैं।। ९१९।। बहुत वर्णन से क्या? इन अशोकवृक्षों को देखकर इन्द्र का भी चित्त अपने उद्यान वनों में नहीं रमता है।।९२०।।

(२) सब तीर्थंकरों के चन्द्रमण्डल के सदृश और मुक्ता समूहों के प्रकाश से संयुक्त तीन छत्र शोभायमान होते हैं।।९२१।।

(३) उन तीर्थंकरों का निर्मल स्फटिक पाषाणों से निर्मित और उत्कृष्ट रत्नों के समूह से खचित जो विशाल सिंहासन होता है, उसका वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।। ९२२।।

(४) गाढ़ भक्ति से आसक्त, हाथों को जोड़े हुए और विकसित मुखकमल से संयुक्त ऐसे सम्पूर्ण गण प्रत्येक तीर्थंकर को घेरकर स्थित रहते हैं।। ९२३।।

(५) विषय-कषायों में अनासक्त और मोह से रहित होकर जिनप्रभु के शरण में जाओ, ऐसा भव्य जीवों को कहने के लिए ही मानों देवों का दुंदुभी बाजा गम्भीर शब्द करता है।। ९२४।।

(६) जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों के मूल में, रुण-रुण शब्द करते हुए भ्रमरों से व्याप्त और उत्तम भक्ति से युक्त देवों के द्वारा छोड़ी गई पुष्पवृष्टि गिरती है।। ९२५।।

(७) जो दर्शन मात्र से ही सम्पूर्ण लोगों को अपने सौ (सात) भवों के देखने में निमित्त है और करोड़ों सूर्यों के समान उज्ज्वल है ऐसा वह तीर्थंकरों का प्रभामण्डल जयवन्त होता है।। ९२६।।

(८) मृणाल, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शंख के समान सफेद तथा देवों के हाथों से नचाये गए (ढोरे गए) चौंसठ चामरों से वीज्यमान जिन भगवान् जयवन्त होवें।। ९२७।।

आदिपुराण में ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्यों का वर्णन—

जन्म के १० अतिशय[१]—

(१) पसीना रहित, (२) मलमूत्र रहित, (३) सुगन्धित शरीर, (४) शुभ लक्षणों से सहित (५) समचतुरस्र संस्थान (६) रुधिर श्वेत (७) वज्रवृषभनाराच संहनन (८) सुन्दरता (९) सौभाग्य (१०) मीठी वाणी।

केवलज्ञान के १० अतिशय—

(१) सौ-सौ योजन तक सुभिक्षता (२) आकाश में गमन (३) हिंसा का अभाव (४) कवलाहार का अभाव (५) उपसर्ग से रहित (६) सब विद्याओं के स्वामी (७) चतुर्मुख दिखना (८) छाया का अभाव (९) नेत्रों की अनुन्मेष वृत्ति (१०) नख-केश का नहीं बढ़ना।

देवकृत १४ अतिशय[२]—

(१) अर्धमागधी भाषा (२) आपस में मित्रता (३) वृक्षों को फूल फल अंकुरों से व्याप्त का दिया (४) पृथिवी मण्डल को दर्पण के आकार में परिवर्तित कर दिया (५) सुगन्धित, शीतल मन्द-मन्द वायु (६) पवनकुमार देवों द्वारा भूमि की निष्कंटकता (७) मेघकुमार जाति के देव द्वारा सुगन्धित जल की वर्षा (८) कमलों पर चरण कमल (९) दिशाओं की निर्मलता (१०) हजार आरे वाला देदीप्यमान धर्मचक्र (११) अष्टमंगलद्रव्य (१२) फहराती हुई ध्वजाओं का समूह (१३) दुंदुभि बाजों का मधुर तथा गम्भीर शब्द (१४) पुष्पों की वर्षा।

अष्ट प्रातिहार्य[३]—

(१) अशोक वृक्ष (२) चमरों के समूह (३) तीन छत्र (४) सिंहासन (५) देवों के द्वारा साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि आदि बाजे (६) गम्भीर दिव्य ध्वनि (ठौना) (७) देवों द्वारा पुष्पों की वर्षा (८) शरीर का प्रभामण्डल।

१-२-३. आदिपुराण भाग १ पृ. ५९७-५९८, ६३२, ५३४, ५९९।

अरिहंत का स्वरूप

जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, जिनमें ४६ गुण हैं और १८ दोष नहीं हैं, उन्हें अरिहंत परमेष्ठी कहते हैं।

दोहा— चौंतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।
अनंतचतुष्टय गुण सहित, छियालीसों पाठ।।१।।

३४ अतिशय + ८ प्रातिहार्य और + ४ अनंतचतुष्टय, ये अरिहंत के ४६ मूलगुण हैं। उत्तरगुण अनन्त हैं।

सर्व साधारण प्राणियों में नहीं पायी जाने वाली अद्‌भुत या अनोखी बात को अतिशय कहते हैं। इन ३४ अतिशयों में जन्म के १०, केवलज्ञान के १० और देवकृत १४ होते हैं।

जन्म के १० अतिशय—

अतिशय रूप सुगंध तन, नाहिं पसेव निहार।
प्रियहित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार।।
लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराचजुत ये जनमत दस जान।।

अतिशय सुन्दर शरीर, अत्यन्त सुगंधित शरीर, पसीना रहित शरीर, मल-मूत्र रहित शरीर, हित-मित-प्रिय वचन, अतुल-बल, सफेद खून, शरीर में १००८ लक्षण, समचतुरस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन ये १० अतिशय अरिहंत भगवान के जन्म से ही होते हैं।

केवलज्ञान के १० अतिशय—

योजन शत इक में सुभिख, गगन-गमन मुख चार।
नहिं अदया, उपसर्ग नहीं, नाहीं कवलाहार।।
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़े नख-केश।
अनिमिष दृग छाया रहित, दश केवल के वेष।।

भगवान के चारों ओर सौ-सौ योजन[१] तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, एक मुख होकर भी चार मुख दिखना, हिंसा न होना, उपसर्ग नहीं होना, ग्रास वाला आहार नहीं लेना, समस्त विद्याओं का स्वामीपना, नख केश नहीं बढ़ना, नेत्रों की पलकें नहीं लगना और शरीर की परछाई नहीं पड़ना। केवलज्ञान होने पर ये दश अतिशय होते हैं।

---

१. चार कोश का एक योजन, दो मील का एक कोश।

देवकृत १४ अतिशय

देव रचित हैं चार दश, अर्ध मागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।।
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान।
चरण कमल तल कमल हैं, नभतैं जय-जय बान।।
मंद सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि।।
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरिहंत के, ये चौंतीस प्रकार।।

भगवान की अर्ध-मागधी भाषा, जीवों में परस्पर मित्रता, दिशाओं की निर्मलता, आकाश की निर्मलता, छहों ऋतुओं के फल-फूलों का एक ही समय में फलना-फूलना, एक योजन तक पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना, चलते समय भगवान् के चरणों के नीचे सुवर्ण कमल की रचना, आकाश में जय-जय शब्द, मंद सुगंधित पवन, सुगंधमय जल की वर्षा, पवन कुमार देवों द्वारा भूमि की निष्कंटकता, समस्त प्राणियों को आनन्द, भगवान् के आगे धर्मचक्र का चलना और आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना ये १४ अतिशय देवों द्वारा किये जाने से देवकृत कहलाते हैं और केवलज्ञान होने पर होते हैं।

आठ प्रातिहार्य —

तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार।
तीन छत्र शिर पर फिरें, भामंडल पिछवार।।
दिव्यध्वनी मुखते खिरें, पुष्पवृष्टि सुर होय।
ढोरें चौंसठ चमर जख, बाजें दुंदुभि जोय।।

भगवान के पास अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, भगवान के सिर पर तीन छत्र, पीठ पीछे भामंडल, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा पुष्प वर्षा, यक्षदेवों द्वारा चौंसठ चंवर ढोरे जाना और दुंदुभि बाजे बजना ये आठ प्रातिहार्य हैं। विशेष शोभा की चीजों को प्रातिहार्य कहते हैं।

अनन्त चतुष्टय —

ज्ञान अनन्त, अनन्त सुख, दरश अनंत प्रमान।
बल अनंत अरिहंत सो, इष्टदेव पहिचान।।

अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय हैं अर्थात् भगवान के ये दर्शन-ज्ञानादि अन्त रहित होते हैं।

अठारह दोषों के नाम —

जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरिहंत के, सो छवि लायक मोष।।

जन्म, बुढ़ापा, प्यास, भूख, आश्चर्य, पीड़ा, दुःख, रोग, शोक, गर्व, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये अठारह दोष अरिहंत भगवान में नहीं होते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

जो आठों कर्मों का नाश हो जाने से नित्य, निरंजन, अशरीरी हैं, लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके आठ मूलगुण होते हैं, उत्तरगुण तो अनन्तानंत हैं।

सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।१।।

समकित दर्शन ज्ञान वीर्य, सूक्ष्मत्व तथा अवगाहन हैं।
अव्याबाध अगुरुलघु ये, सिद्धों के आठ महागुण हैं।।१।।

क्षायिक सम्यक्त्व, अनंत दर्शन, अनन्तज्ञान, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघु ये सिद्धों के आठ महागुण हैं।

आठ कर्मों के नाश से सिद्धों में आठ गुण —

मोहनीय के अभाव में सम्यक्त्व, ज्ञानावरण के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन, अंतराय के अभाव से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयु कर्म के क्षय से अवगाहनत्व, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व और वेदनीय के क्षय से अव्याबाधत्व ऐसे ये आठ गुण सिद्धों में प्रकट होते हैं।

''गुणरयणसीलसायर''

अमृतवर्षिणी टीका–

छत्तीस प्रकार के उत्तरगुणों को पालन करने वाले आचार्य या सामान्य मुनि उत्तरगुणधारी कहलाते हैं। कोई-कोई उत्तरगुण से रहित होते हैं। कोई कुछ उत्तरगुणों को पालन करते हैं और कोई पूर्णतया उत्तरगुणों को पालन करते हैं। अतः उत्तरगुणों की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में अनेकों भेद हो जाते हैं।

शील के १८,००० भेदों का वर्णन

शील के १८०००भेद होते हैं। यथा—३ योग, ३ करण, ४ संज्ञायें, ५ इंद्रिय, १० पृथ्वीकायिक आदि जीव भेद और १० श्रमणधर्म इनका परस्पर में गुणा करने से—३×३×४×५×१०×१०=१८००० भेद हो जाते हैं[१]।

मन, वचन, काय को योग कहते हैं। अशुभ कर्म के ग्रहण में कारणभूत क्रियाओं के निग्रह को करण कहते हैं। निमित्त के भेद से इसके भी मन, वचन और काय ये तीन भेद हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाये हैं। स्पर्शन आदि पाँच इंद्रियाँ हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश जीव के भेद हैं। क्षमा, मार्दव आदि दश धर्म हैं।

इनके सिवाय शील के १८००० भेदों के और भी प्रकार हैं—

(१) विषयाभिलाषा आदि १० (विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीतरससेवन, संसक्तद्रव्यसेवन, शरीरांगोपांगावलोकन, प्रेमी का सत्कार पुरस्कार, शरीरसंस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागत भोगाकांक्षा, इष्टविषयसेवन)।

चिंता आदि १० (चिंता, दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर दाह, आहारारुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जीवनसंदेह, मरण)। इन्द्रिय ५, योग ३ और कृत–कारित–अनुमोदना ये ३, जाग्रत और स्वप्न ये २ तथा चेतन और अचेतन ये २। सबको गुणित करने से १०×१०×५×३×३×२×२=१८००० भेद हो जाते हैं।

(२) स्त्री ३ (देवी, मानुषी, तिरश्ची) को योग ३, कृत–कारित–अनुमोदना ३, संज्ञायें ४ और इंद्रिय १० (५ द्रव्येन्द्रिय ५ भावेन्द्रिय) तथा १६ कषाय से गुणा करने पर १७२८० भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री संबंधी ७२० भेद जोड़ना। यथा—अचेतन स्त्री के ३ भेद (काष्ठ, पाषाण, चित्र) योग २

---

१. जोए करणे सण्णा, इंद्रिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था, अट्ठारससील सहस्सारं।। (मूलाचार पृ. ६१०)

(मन और काय) कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय भेद १० से गुणा करने पर ३×२×३×४×१०=७२० भेद होते हैं। १७२८०+७२०=१८०००।

(३) स्त्री ४× योग ३×कृतादि ३×इन्द्रिय ५×शृंगाररसभेद १०× और कायचेष्टा भेद १०=१८००० भेद हो जाते हैं।

ये सभी भेद अयोगी के पूर्ण माने गये हैं। यथा—जो शील के भेदों के स्वामी हो चुके हैं, जिनके सम्पूर्ण आस्रव रुक चुका है, जो कर्मरज से विप्रमुक्त हैं, ऐसे काययोग से भी रहित अयोग केवली होते हैं।[१]"

चौरासी लाख उत्तरगुणों का वर्णन

हिंसादि २१, अतिक्रमादि ४, पृथ्वी आदि १००, अब्रह्म १०, आलोचना के दोष १० और प्रायश्चित्त के भेद १० इनको परस्पर गुणा करने से २१×४×१००×१०×१०×१०=८४,००००० उत्तरगुण होते हैं।

हिंसादि २१—हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचनमंगुल, कायमंगुल, (पाप संचय करने वाली क्रिया मंगुल है) मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पैशून्य, अज्ञान और अनिग्रह (इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति)

अतिक्रम आदि ४—अतिक्रमण (विषयों की इच्छा), व्यतिक्रमण (विषयों के उपकरण मिलाने के विचार), अतिचार (व्रतों में शिथिलता आ जाना), अनाचार (व्रत भंग हो जाना)।

पृथ्वी आदि १००—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, अनंतकायिक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको परस्पर में गुणित कर देने से १०×१०=१०० हो जाते हैं।

अब्रह्म १०—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन (कोमल शय्या आसन की अभिलाषा), गीतवादित्र, अर्थसंप्रयोग (सुवर्णादि की अभिलाषा), कुशील, संसर्ग, राजसेवा (विषयों की आशा से राजा की सेवा) और रात्रिसंचरण ये १० शील विराधनाएं हैं।

आलोचना के १० दोष—आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी, आलोचना के ये १० दोष हैं।

प्रायश्चित्त के १० भेद—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युसर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दोषों की शुद्धि के १० उपाय हैं। सबका परस्पर गुणन करने से ८४००००० उत्तरगुण होते हैं। इनकी पूर्ति भी चौदहवें गुणस्थान में ही होती है।

---

१. सीलेसिं संपत्तो णिरूद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरय विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि।।६५।। –गोम्मटसार जीवकाण्ड

इस प्रकार से १० धर्म, १२ तप, २२ परीषहजय, १८००० शील और ८४००००० गुण ये सभी उत्तरगुण कहलाते हैं।

विशेष—इन अठारह हजार शीलों की और चौरासी लाख उत्तरगुणों की पूर्ति अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में ही होती है। उसके पहले दिगम्बर मुनि इनकी भावना भाते हुए इन्हीं की पूर्ति के लिए सारे पुरुषार्थ करते हैं और जितने अंशों में पाल सकते हैं पालते हैं। इसलिए इन शील और गुणों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों के अनेकों भेद हो जाते हैं।

वचन चार प्रकार के होते हैं

किञ्चिद्धितं प्रियं चोक्तं किञ्चिच्च हितमप्रियम् ।
किञ्चित्प्रियं सदहितं परं चाहितप्रियम्।।११०।।
अन्त्यद्वयं परित्यज्य शेषाभ्यां भाषता हितम्।
इति निश्चित्य कैलासं तदेवागम्य दर्पिणः।।१११।।

वचन चार प्रकार के होते हैं–कुछ वचन तो हित और प्रिय दोनों ही होते हैं, कुछ हित और अप्रिय होते हैं, कुछ प्रिय होकर अहित होते हैं और कुछ अहित तथा अप्रिय होते हैं। इन चार प्रकार के वचनों में अन्त के दो वचनों को छोड़कर शेष दो प्रकार के वचनों से हित का उपदेश दिया जा सकता है।

(उत्तरपुराण पृ. १०)

''तवो य वारसविहो।''

अमृतवर्षिणी टीका–

द्वादश तप

तवायारो वारसविहो, अब्भंतरो छव्विहो बाहिरो छव्विहो चेदि तत्थ बाहिरो अणसणं आमोदरियं वित्तिपरिसंखा रसपरिच्चाओ सरीर–परिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि। तत्थ अब्भंतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि। अब्भंतरं बाहिरं बारसविहं तवोकम्मं ण कदं णिसण्णेण, पडिक्कंतं, तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।।३।।

छह अभ्यंतर छह बाहिर से बारहविध तप आचार कहा।
उनमें से अनशन अमोदर्य वृतपरिसंख्या रसत्याग कहा।।
तनुपरित्याग–तनुक्लेश विविक्त शयनासन तप बाह्य कहे।
प्रायश्चित विनय सुवैयावृत स्वाध्याय ध्यान व्युत्सर्ग कहे।।

बारह तप—जो कर्म निर्जरा हेतु तपा जाता है, वह तप है। उसके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। इन दोनों के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं।

बाह्य तप के छह भेद—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश और विविक्तशयनासन।

१. अनशन—चतुराहार का त्याग अनशन कहलाता है। इसके दो भेद हैं—इत्तिरिय और यावज्जीवन। इत्तिरिय को साकांक्ष—सापेक्ष या सावधि भी कहते हैं और यावज्जीवन अनशन को निराकांक्ष—निरपेक्ष या निरवधि भी कहते हैं।

एक दिन में भोजन की दो बेला मानी है। उसमें से एक बेला के भोजन का त्याग करके एक एक बार भोजन करना एकभक्त है। उपवास के पहले दिन और अगले दिन एकभुक्ति करके एक-एक भक्त का त्याग करना तथा बीच के दिन दोनों भोजन का त्याग करना, इस प्रकार चार भक्त के त्याग के चतुर्थ-उपवास हैं। ऐसे ही दो दिन उपवास और अगले दिन एक-एक भक्त का त्याग इसे षष्ठ-बेला कहते हैं।

ऐसे ही एक, दो, तीन, चार, पाँच उपवास अथवा पक्षोपवास, मासोपवास आदि रूप से उपवास के अनेक भेद हैं तथा कनकावली, एकावली, विमानपंक्ति, सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार तपों का अनुष्ठान करना। छह महीने तक के उपवास को उत्कृष्ट अनशनतप कहते हैं। इनमें ''इतने काल तक मैं आहार का त्याग करूँगा'' ऐसी काल की अपेक्षा होने से साकांक्ष तप है। इस तपोविधि को 'सिद्धिप्रासादव्रत' कहते हैं क्योंकि ऐसी तपोविधि से सिद्धि—मुक्तिरूपी-राजमहल की प्राप्ति होती है।

सल्लेखना के समय जीवनपर्यन्त के लिए जो आहार का त्याग किया जाता है, वह निराकांक्ष अनशन है। इसके भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन भेद हैं और भी इसी प्रकार के उपवास को निराकांक्ष तप कहते हैं।

२. **अवमोदर्य**—पुरुषों का आहार बत्तीस कवल प्रमाण है और स्त्रियों का अट्ठाईस कवलमात्र है। अर्थात् एक हजार चावल[१] का एक कवल होता है, ऐसे बत्तीस कवल मात्र ही एक पुरुष का स्वाभाविक आहार है इससे न्यून-कम ग्रहण करना अवमोदर्य तप है। उपवास करने की शक्ति नहीं होने से एक ग्रास, दो ग्रास आदि कम करके अल्प भोजन किया जाता है। इसमें कम करते-करते एक चावल तक भी ग्रहण करना अवमोदर्य है। ध्यान, स्वाध्याय की सिद्धि हेतु प्रमाद परिहार के लिए यह तप किया जाता है।

३. **वृत्तपरिसंख्यान**—आहार के लिए जाते समय साधु कुछ भी अटपटा नियम, घरों का, दातार का या अशन आदि का नियम कर लेते हैं, उसे वृत्तपरिसंख्यान तप कहते हैं। 'जैसे कोई वृद्ध पड़गाहन करेगा' तो ही आज आहार लेंगे, या कांसे के पात्र से अथवा सुवर्ण पात्र या मिट्टी के पात्र से आहार देगा, तभी लेंगे अन्यथा नहीं। ऐसा नियम करना वृत्तपरिसंख्यान है।

४. **रसपरित्याग**—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इन रसों का, इनमें से किसी एक, दो आदि का त्याग करना रसपरित्याग तप है तथा तिक्त, कटु, कषायला, आम्ल और मीठा इन रसों में से त्याग करना तप है। ये पदार्थ प्रासुक हैं फिर भी तपोबुद्धि से इनका त्याग किया जाता है।

नवनीत—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं। साधु तो क्या श्रावक भी इनका जीवनपर्यंत के लिए त्याग कर देते हैं क्योंकि ये त्रसजीवों के पिंड हैं।

५. **कायक्लेश**—कायोत्सर्ग करना, एक पार्श्व से या दण्डाकार सोना, उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, मकरमुखासन आदि अनेक प्रकार के आसन से ध्यान करना, इत्यादि प्रकारों से शास्त्रानुसार जो शरीर को कष्ट दिया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहते हैं। वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापन आदि योगों के द्वारा शरीर को क्लेश देना यह सब कायक्लेश तप है। इस तप से शरीर से ममत्व नष्ट होता है और सहनशीलता बढ़ते हुए अनेकों उपसर्ग, परीषहों को विजय करने की शक्ति आती है।

६. **विविक्त शयनासन**—पशु, स्त्री, वेश्या, व्यंतरिणी आदि से रहित, गृहस्थों के संसर्ग से भी रहित ऐसे स्थान में शयन करना और बैठना, यह विविक्तशयनासन तप है। इससे स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि होती है।

---

१. विद्वान् लोग चावल से माप का चावल लेते हैं अतः.....

ये छह प्रकार के बाह्यतप-गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि आदि सभी में प्रसिद्ध हैं। इसलिए बाह्य कहे जाते हैं। साधु अपनी शक्ति के अनुसार आत्मविशुद्धि हेतु इन तपों का अनुष्ठान करते रहते हैं।

अभ्यन्तर तप के भी छह भेद होते हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

(१) प्रायश्चित्त—पूर्वकृत अपराध का शोधन करना प्रायश्चित्त है। इसके दस भेद हैं—

१. आलोचना—आचार्य के अथवा देव के पास जाकर चारित्राचारपूर्वक उत्पन्न हुए अपराधों का निवेदन करना।

२. प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना।

३. तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमणपूर्वक दोषों का निराकरण करना।

४. विवेक—कदाचित् कोई अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या कराने में आ जाये अथवा त्यागी हुई प्रासुक भी वस्तु आदि भूल से ग्रहण करने में आ जाये, तो उसको छोड़ देना विवेक है[१]।

५. व्युत्सर्ग—दुःस्वप्न आदि अतिचार शोधन हेतु कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है।

६. तप—अपराधजन्य दोष दूर करने हेतु उपवास आदि करना।

७. छेद—एक दिन, दो दिन, मास, वर्ष आदि की दीक्षा छेद देना-कम कर देना।

८. मूल—सम्पूर्ण दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना।

९. परिहार—कुछ दिन के विभाग से साधु का अलग कर देना परिहार है।

१०. श्रद्धान—तत्त्व में रुचि करना अथवा क्रोधादि का परित्याग करना।

प्रमाद से या अज्ञान से साधुओं के भी व्रतों में कुछ न कुछ छोटे या बड़े दोष लग जाया करते हैं। तब साधु आचार्य के निकट एकान्त में बैठकर विधिवत्-दश दोष रहित अपने दोषों की आलोचना करते हैं। तब गुरु भी अपरिस्रावी आदि गुणों से संयुक्त हुए उपर्युक्त दश भेदों में से यथायोग्य प्रायश्चित्त देते हैं। लघु दोषों में आलोचना आदि प्रायश्चित्त देते हैं और बड़े दोषों में छेद, मूल आदि प्रायश्चित्त देते हैं। "अर्हंत-गेह, सिद्ध क्षेत्र आदि प्रशस्त स्थानों में शुभ दिन, शुभ नक्षत्रों में प्रायश्चित्त देते हैं पुनः उसके दोष को कभी किसी के सामने प्रगट नहीं करते हैं[२]।"

---

१. विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम्।।५०।। (अन., पृ. ५०२)

२. अर्हत्सिद्धसमुद्राब्जसरःक्षीरफलाकुलम्।
तोरणोद्यानसद्मादियक्षवेश्मबृहद्गृहम्।।
सुप्रशस्तं भवेत्स्थानमन्यदप्येवमादिकम्।
सूरिरालोचनां तत्र प्रतीच्छत्यस्य शुद्धये।। (अनगार. पृ. ४९७)

आलोचना प्रायश्चित्त में एक बात विशेष समझने की है कि यदि मुनि अपने दोषों की आलोचना करते हैं तो आचार्य के पास एकांत में करते हैं और यदि आर्यिकाएँ करती हैं, तो वे अकेली आचार्य के पास नहीं बैठती हैं। उनके साथ या तो एक आर्यिका रहती हैं या आचार्य के निकट एक मुनि बैठते हैं। आलोचना करते समय दश दोषों का त्याग करना चाहिए—

उन दश दोषों के नाम—आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुल, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित।

१. आचार्य बड़ा प्रायश्चित्त न दे दें इस भय से और शंका से उन्हें उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपाय से उनको थोड़ा प्रायश्चित्त देने के लिए अपने अनुकूल करने का नाम आकंपित दोष है।

२. प्रार्थना करने पर मुझे थोड़ा ही प्रायश्चित्त देंगे इस हेतु से 'उन वीर पुरुषों को धन्य है जो महान् तप करते हैं मैं तो शक्तिहीन हूँ इत्यादि' प्रकार से अपनी अशक्ति प्रगट कर अपना अपराध कहना अनुमानित दोष है।

३. यदि अपना अपराध किसी ने देख लिया है, तो गुरु के पास कह दिया अन्यथा नहीं, यह दृष्ट दोष है।

४. गुरु के साथ छोटे-छोटे दोष छिपाकर बड़े-बड़े को कहना बादर दोष है।

५. स्थूल दोषों को छिपाकर केवल सूक्ष्म दोषों को ही कहना सूक्ष्म दोष है।

६. अपने दोष को न कहकर युक्ति से गुरु से पूछना कि भगवन्! इस अपराध के हो जाने पर क्या प्रायश्चित्त है, उत्तर सुनकर आप चुपके से वह अनुष्ठान कर लेना छन्न दोष है।

७. पक्षादि प्रतिक्रमण के समय जब बहुत से लोगों का शब्द हो रहा हो, उस समय कोलाहल में ही गुरु के समक्ष अपने दोष प्रगट करना शब्दाकुल दोष है।

८. बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं, वह बहुजन दोष है।

९. अपने से ज्ञान या संयम में जो हीन हैं, उनसे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त दोष है।

१०. अपने समान अपराधी पार्श्वस्थ से प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित दोष है।

साधु इन दश दोषों से रहित आलोचना करके गुरुमुख से प्रायश्चित्त ग्रहण कर दोषों से मुक्त हो जाते हैं।

(२) विनय—अनुद्धत वृत्ति अर्थात् विनम्रता को विनय कहते हैं।

इसके पाँच भेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक।

१. दर्शन विनय—निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा करना, उनके अवर्णवाद—असत्य आरोपों को दूर करना और उनकी आसादना—अवज्ञा आदि को दूर करना। इत्यादि कार्यों से दर्शन विनय होता है।

२. ज्ञान विनय—काल शुद्धि आदि आठ प्रकार से ज्ञान की आराधना ज्ञान का विनय है।

३. चारित्रविनय—इन्द्रिय और कषायों के व्यापार से हटना, गुप्ति, समिति का पालना इत्यादि चारित्र का विनय है।

४. तपोविनय—तप में, उत्तरगुणों में अनुराग और उत्साह रखना, तप से अधिक साधु में भक्ति करना और तप से हीन साधु से अवहेलना नहीं करना इत्यादि तपोविनय है।

५. उपचार विनय—इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। उसमें भी मन, वचन, काय की अपेक्षा दोनों के तीन भेद हो जाते हैं।

१. प्रत्यक्ष विनय—गुरु को सामने आते हुए देखकर उठकर खड़े हो जाना, कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना, आसन देना, चलते समय उनके पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना इत्यादि कायिक विनय है।

हे भगवन्! इत्यादिरूप से पूजा सत्कार सूचक वचन बोलना, हित, मित, मधुर, आगमानुकूल, अनिष्ठुर-मृदु, कर्कशता रहित अच्छे वचन बोलना वाचनिक विनय है। गुरु के अपमान आदि के परिणाम या पापरूप परिणाम नहीं करना प्रत्युत सम्यग्ज्ञानादि में परिणाम लगाना मानसिक विनय है।

२. परोक्ष विनय—गुरुजनों के परोक्ष में की जाने वाली विनय परोक्ष विनय है। काय से-हाथ जोड़कर कृतिकर्मपूर्वक वंदना करना, उनके प्रति आदर सूचक वचन कहना, मन में भक्ति रखना, उनकी आज्ञा का पालन करना आदि परोक्ष विनय है।

"साधुजन अपने से एक रात्रि भी दीक्षा में बड़े ऐसे मुनियों की, अपने से लघु मुनियों की, आर्यिकाओं की और श्रावकों की भी यथायोग्य[१] विनय करते हैं।" अर्थात् बड़ों को नमस्कार करना, वैयावृत्ति आदि से लघु मुनियों की प्रतिवंदना, वैयावृत्य, मधुर भाषण आदि से, ऐसे आर्यिका और श्रावकों के प्रति यथायोग्य व्यवहार, आदरभाव, वात्सल्य भाव आदिरूप विनय करते हैं क्योंकि अपने से दीक्षा में लघु को या आर्यिका, श्रावक आदि को मुनि नमस्कार नहीं करते।

३. वैयावृत्य—अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्ति है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इनकी तथा बाल-वृद्ध मुनियों से व्याप्त जो गच्छ-साधु-संघ हैं इनकी

---

१. रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण।।

सर्व सामर्थ्य से वैयावृत्ति करनी चाहिए अर्थात् आहार, उपकरण, औषधि, पुस्तक आदि के द्वारा इनका उपचार करना चाहिए। जो अपने से गुणों में अधिक हैं, तपस्वी हैं, शास्त्र शिक्षण में तत्पर हैं, दुर्बल हैं या व्याधिग्रस्त हैं, ऐसे मुनियों की तथा चतुर्विध संघ की सेवा करना।

कोई साधु मार्ग से थके हुए आये हैं या शत्रु, पशु, राजा आदि के द्वारा त्रास हुआ है। ऐसे साधुओं को वसतिका देना, आसन आदि देकर आहार आदि की व्यवस्था कराकर और भी यथोचित शुश्रूषा करना, शास्त्र सुनाना, 'सोंठ, पीपल आदि औषधि[१]' दिलाना इत्यादि सभी वैयावृत्ति तप है।

"जो अपने समान रत्नत्रय साधन करने वालों के ऊपर आई हुई आपत्ति को देखकर भी सो जाता है-दूर करने की चेष्टा नहीं करता है, वह समस्त सम्पत्तियों के विषय में भी सो जाता है क्योंकि अर्हंत देव ने अन्तरंग और बहिरंग सम्पूर्ण तपस्याओं का हृदय तप ही बतलाया है।[२]"

४. स्वाध्याय—स्व—अपने लिए हितकर जो श्रुत का सम्यक् अध्ययन है वह स्वाध्याय है। इसके वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच भेद हैं। यह भी कर्मनिर्जरा और ध्यानसिद्धि के लिए मुख्यतया साधन होने से अन्तरंग तप है।

"बाह्याभ्यंतर भेद युक्त बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तप न हुआ है न होगा[३]।"

५. ध्यान-एकाग्रचिंतानिरोध का नाम ध्यान है अर्थात् किसी एक विषय पर उपयोग का स्थिर होना। इसके चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

६. व्युत्सर्ग—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अभ्यंतर और बाह्य। क्रोधादि कषायें ४, मिथ्यात्व १, वेद ३ और हास्यादि ६, ऐसे चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह हैं तथा क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनआसन, कुप्य और भांड (हिंगु मरीचादि) ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं इनका त्याग करना व्युत्सर्ग है।

"अथवा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए तीन गुप्ति का आश्रय लेना और शरीर में भी निःस्पृह होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग है।"

शरीर के त्याग को भी पूर्वाचार्यों ने अन्तरंगोपधि व्युत्सर्ग कहा है। इसके भी दो भेद हैं—नियतकाल और सार्वकालिक। नियतकाल के भी दो भेद हैं—नित्य और नैमित्तिक। आवश्यक क्रिया आदि में किया जाने वाला काय का त्याग (काय के ममत्व के त्यागरूप कायोत्सर्ग) नित्य है और अष्टमी आदि पर्व संबंधी नैमित्तिक हैं। सार्वकालिक कायत्याग के भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी, प्रायोपगमन की अपेक्षा तीन भेद हैं।"

---

१. औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन। (मूलाचार टीका., पृ. ३०८)

२. सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि।
वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः।।८०।। (अनगार, पृ. ५२०)

३. वारसविधम्हि वि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं।। (मूलाचार, पृ. ३२१)

इस प्रकार से बारह भेदरूप तप का वर्णन हुआ।

१२ तप के क्रम में अन्तर

श्री गौतमस्वामी कृत प्रतिक्रमण पाठ षट्खण्डागम पु. १३	श्री कुंदकुंददेव कृत मूलाचार	श्री उमास्वामी आचार्य कृत तत्त्वार्थसूत्र
बाह्यतप	**बाह्यतप**	**बाह्य तप**
१. अनशन	१. अनशन	१. अनशन
२. अवमौदर्य	२. अवमौदर्य	२. अवमौदर्य
३. वृत्तपरिसंख्यान	३. रस परित्याग	३. वृत्तपरिसंख्यान
४. रसपरित्याग	४. वृत्तपरिसंख्यान	४. रसपरित्याग
५. कायक्लेश	५. कायक्लेश	५. विविक्तशय्यासन
६. विविक्तशयनासन	६. विविक्तशयनासन	६. कायक्लेश
अभ्यंतर तप	**अभ्यंतर तप**	**अभ्यंतर तप**
१. प्रायश्चित्त	१. प्रायश्चित्त	१. प्रायश्चित्त
२. विनय	२. विनय	२. विनय
३. वैयावृत्य	३. वैयावृत्त्य	३. वैयावृत्य
४. स्वाध्याय	४. स्वाध्याय	४. स्वाध्याय
५. ध्यान	५. ध्यान	५. व्युत्सर्ग
६. व्युत्सर्ग	६. व्युत्सर्ग	६. ध्यान

विशेष—प्रतिक्रमण पाठ एवं मूलाचार में तप के क्रम में समानता है। तत्त्वार्थसूत्र में बाह्य तप के भेदों में पाँचवे नंबर पर विविक्तशयनासन एवं छठे पर कायक्लेश लिया है ऐसे ही अभ्यन्तर तप में पाँचवे नंबर पर व्युत्सर्ग एवं छठे नंबर में ध्यान लिया है।

आजकल किन्हीं विद्वानों ने प्रतिक्रमण पाठ में तत्त्वार्थसूत्र का क्रम रखकर मूल पाठ बदल दिया है। यह सर्वथा अनुचित है। हमें और आपको पूर्वाचार्यों की मूल कृतियों में संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन नहीं करना चाहिए, जैसा पाठ है वैसा ही रखना चाहिए, वैसा ही पढ़ना चाहिए।

व्रतों का वर्णन

(१) अष्टाह्निका व्रत

विधि—अष्टाह्निका व्रत कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मासों के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक किया जाता है। तिथि वृद्धि हो जाने पर एक दिन अधिक करना पड़ता है। व्रत के दिनों के मध्य में तिथि ह्रास होने पर एक दिन पहले से व्रत करना होता है। जैसे मध्य में तिथि ह्रास होने से सप्तमी को उपवास, अष्टमी को पारणा, नवमी को कांजी–छाछ, दशमी को ऊनोदर, एकादशी को उपवास, द्वादशी को पारणा, त्रयोदशी को नीरस, चतुर्दशी को उपवास एवं शक्ति होने पर पूर्णिमा को उपवास, शक्ति का अभाव में ऊनोदर तथा प्रतिपदा को पारणा करनी चाहिए। यह सरल और जघन्य विधि अष्टाह्निका व्रत की है। व्रत की उत्कृष्ट विधि यह है कि अष्टमी से षष्ठोपवास अर्थात् अष्टमी, नवमी का उपवास, दशमी को पारणा, एकादशी और द्वादशी को उपवास, त्रयोदशी को पारणा एवं चतुर्दशी और पूर्णिमा को उपवास और प्रतिपदा को पारणा करनी चाहिए।

व्रत के एक दिन पूर्व सप्तमी के दिन व्रत की धारणा करनी होती है। प्रथम ही श्री जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, पूजन सम्पन्न किया जाता है, तत्पश्चात् गुरु के पास और यदि गुरु न हों तो जिनबिम्ब के सम्मुख व्रत ग्रहण किया जाता है। सप्तमी तिथि से प्रतिपदा तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना आवश्यक होता है। भूमि पर शयन, संचित पदार्थों का त्याग, अष्टमी को उपवास, रात्रि को जागरण आदि क्रियाएँ की जाती हैं। अष्टमी तिथि को दिन में नंदीश्वर द्वीप का मण्डल मांडकर अष्टद्रव्यों से पूजा की जाती है। पूजा–पाठ के अनन्तर नंदीश्वर व्रत की कथा पढ़नी चाहिए। व्रत की धारणा और समाप्ति के दिन णमोकार मंत्र का जाप्य करना चाहिए।

मंत्र जाप्य–समुच्चय मंत्र— **ॐ ह्रीं नंदीश्वरद्वीपजिनालयस्थसर्वजिनबिम्बेभ्यो नमः।**

पृथक् मंत्र–जाप्य—

अष्टमी ॐ ह्रीं नंदीश्वरसंज्ञाय नमः।
नवमी—ॐ ह्रीं अष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः।
दशमी—ॐ ह्रीं त्रिलोकसारसंज्ञाय नमः।
एकादशी—ॐ ह्रीं चतुर्मुखसंज्ञाय नमः।
द्वादशी—ॐ ह्रीं पंचमहालक्षणसंज्ञाय नमः।
त्रयोदशी—ॐ ह्रीं स्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः।
चतुर्दशी—ॐ ह्रीं सिद्धचक्राय नमः।
पूर्णिमा—ॐ ह्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः।

(२) रविव्रत–

रविव्रत में आषाढ़ मास शुक्ल पक्ष में प्रथम रविवार पार्श्वनाथ संज्ञक होता है, इससे आरम्भ कर नौ रविवार तक व्रत करना चाहिए। यह व्रत नौ वर्ष तक किया जाता है। प्रथम वर्ष में नौ रविवारों को उपवास, द्वितीय वर्ष में नौ रविवारों को एकाशन, तृतीय वर्ष में नव रविवारों को काञ्जी–छाछ या छाछ से बने महेरी आदि पदार्थ लेकर एकाशन, चतुर्थ वर्ष में नौ रविवारों को बिना घी का रुक्ष, भोजन, पंचम वर्ष में नौ रविवारों को नीरज भोजन, षष्ठ वर्ष में नौ रविवारों को बिना नमक का अलोना भोजन, सप्तम वर्ष में नौ रविवारों को बिना दूध, दही और घृत का भोजन, अष्टम वर्ष में नौ रविवारों को ऊनोदर एवं नवम वर्ष में नौ रविवारों को बिना नमक के नौ ऊनोदर किये जाते हैं। इस प्रकार ८१ व्रत होते हैं।

व्रत के दिन श्री पार्श्वनाथ भगवान का अभिषेक और पूजन किया जाता है। व्रत पूरा होने पर उद्यापन करना चाहिए। रविव्रत की यह शास्त्रीय विधि है किन्तु वर्तमान में पूरे ९ वर्ष तक इसमें मात्र अलोना भोजन का एकाशन या उपवास करने की परम्परा भी दिगम्बर जैन समाज में पाई जाती है। इस दिन विषयकषायों का त्यागकर ब्रह्मचर्य से रहना, रात्रि जागरण और मंत्र जाप्य करना चाहिए।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं अर्हं श्रीपार्श्वनाथाय नमः।

व्रत का फल—रविव्रत करने से वन्ध्या स्त्री पुत्र प्राप्त करती है, दरिद्री व्यक्ति धन प्राप्त करता है, मूर्ख व्यक्ति शास्त्रज्ञान एवं रोगी व्यक्ति व्याधि से छुटकारा प्राप्त करता है। इस व्रत के प्रभाव से मतिसागर सेठ की दरिद्रता दूर हुई।

व्रतोद्यापन—व्रतोद्यापन में नव वर्ष व्रत पूर्णकर नव–नव उपकरण मंदिर में चढ़ाना, नौ शास्त्र लिखवाना, नौ श्रावकों को भोजन कराना, नव–नव फल श्रावकों को बांटना, समवसरण का पाठ पढ़ना, पूजन विधान करना आदि।

(३) सुख चिन्तामणि व्रत–

अर्थ—सुखचिन्तामणि व्रत में चतुर्दशियों में चौदह उपवास, एकादशियों के ग्यारह उपवास, अष्टमियों के आठ, पंचमियों के पाँच उपवास, तृतीयाओं के तीन उपवास, इस प्रकार कुल ४१ उपवास करना चाहिए। इस व्रत में कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का कुछ भी नियम नहीं है, केवल तिथि का नियम है। उपवास के दिन व्रत की विधेय तिथि का होना आवश्यक है। इस व्रत की पाँच भावना होती हैं, प्रत्येक भावना में एक अभिषेक किया जाता है। अभिप्राय यह है कि चौदह चतुर्दशियों के व्रत के पश्चात् एक भावना, ग्यारह एकादशियों के व्रत के पश्चात् एक भावना, आठ अष्टमियों के व्रत के बाद एक भावना, पाँच पंचमियों के व्रत के पश्चात् एक भावना एवं तीन तृतीयाओं के व्रत के पश्चात् एक भावना करनी होती है। प्रत्येक भावना के दिन भगवान का अभिषेक करना होता है।

विवेचन—सुखचिंतामणि व्रत के लिए केवल तिथियों का विधान है। यह व्रत तृतीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को किया जाता है। प्रथम इस व्रत का प्रारंभ चतुर्दशी से करते हैं, लगातार चौदह चतुर्दशी अर्थात् सात महीने की चतुर्दशियों में चतुर्दशीव्रत पूरा होता है। साथ ही चतुर्दशी व्रत के तीन उपवास हो जाने पर एकादशी व्रत प्रारंभ होता है। जिस एकादशी से व्रत आरंभ किया जाता है, उस दिन भगवान का अभिषेक करते हैं तथा व्रत की भावना भाते हैं। तीन चतुर्दशियों के व्रत के उपरांत एकादशी और चतुर्दशी दोनों व्रत अपनी-अपनी तिथि में साथ-साथ में किये जाते हैं।

तीन एकादशी व्रत हो जाने के पश्चात् अष्टमी व्रत प्रारंभ किया जाता है। जिस दिन अष्टमी व्रत प्रारंभ करते हैं, उस दिन भगवान का अभिषेक समारोहपूर्वक करते हैं। यह सदा स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक व्रत के प्रारंभ में अभिषेक १०८ कलशों से किया जाता है। तीन अष्टमी व्रत हो जाने के उपरांत पंचमी व्रत प्रारंभ करते हैं, इसके प्रारंभ करने की विधि पूर्ववत् ही है। चतुर्दशी, एकादशी, अष्टमी और पंचमी ये व्रत एक साथ चलते हैं। दो पंचमी व्रतों के हो जाने पर तृतीया व्रत आरंभ होता है, इस दिन भी वृहद् अभिषेक, पूजन-पाठ आदि धार्मिक कृत्य किये जाते हैं। ये सभी व्रत तीन पक्ष तक अर्थात् तीन तृतीया व्रतों के संपूर्ण होने तक साथ-साथ चलते हैं। तृतीया के दिन ही इन व्रतों की समाप्ति होती है। इस दिन वृहद् अभिषेक समारोहपूर्वक करना चाहिए। उपवास के दिनों में "**ॐ ह्रीं सर्वदुरितविनाशनाय श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यः नमः।**' इस मंत्र का जाप प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल करना चाहिए। सुखचिंतामणि व्रत निश्चित तिथि में ही सम्पन्न किया जाता है। यदि व्रत की तिथि आगे-पीछे के दिनों में होती है तो व्रत आगे-पीछे किया जाता है। यह व्रत चिंतामणिरत्न के समान सभी प्रकार के सुखों को देने वाला है। भावना के दिन चिंतामणि भगवान पार्श्वनाथ की पूजा विशेष रूप से की जाती है तथा '**ॐ ह्रीं सर्वसिद्धिकराय श्री पार्श्वनाथाय नमः**' इस मंत्र का जाप किया जाता है।

इस व्रत में १४ चतुर्दशी, ११ एकादशी, ८ अष्टमी, ५ पंचमी एवं ३ तृतीया ऐसे ४१ व्रत करने होते हैं। यहाँ पर कार्तिक से व्रत प्रारंभ करने पर क्रम से चार्ट दिया जा रहा है। यदि अन्य किसी माह से प्रारंभ करें तो उस माह से चार्ट बना लेवें।

विधि—कार्तिक से वैशाख तक करना है।

१. **कार्तिक कृष्णा १४**	५. **पौष कृष्णा ११, १४**
२. **कार्तिक शुक्ला १४**	६. **पौष शुक्ला ११, १४**
३. **मगसिर कृष्णा १४**	७. **माघ कृष्णा ८, ११, १४**
४. **मगसिर शुक्ला ११, १४**	८. **माघ शुक्ला ८, ११, १४**
९. **फाल्गुन कृष्णा ८, ११, १४**	१२. **चैत्र शुक्ला ३, ५, ८, ११, १४**

१०. फाल्गुन शुक्ला ५, ८, ११, १४ **१३. वैशाख कृष्णा ३, ५, ८, ११, १४**
११. चैत्र कृष्णा ५, ८, ११, १४ **१४. वैशाख शुक्ला ३, ५, ८, ११, १४**

इस व्रत को किसी भी माह से शुरू कर सकते हैं।

(४) षोडशकारण व्रत–

विधि—षोडशकारण व्रत का प्रारम्भ भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा से होता है और पूर्णाभिषेक आश्विन कृष्णा प्रतिपदा को होता है।

भाद्रपद, माघ और चैत्र वदी एकम् से आश्विन, फाल्गुन और वैशाख वदी एकम् (एक वर्ष में तीन बार) पूरे एक–एक मास तक यह व्रत करना चाहिए। इन दिनों तेला, बेला आदि उपवास करें अथवा नीरस वा एक, दो, तीन आदि रस त्यागकर ऊनोदरपूर्वक अतिथि या दीन–दुखी नर या पशुओं को भोजनादि दान देकर एकभुक्त करें। शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) रखें, नित्य षोडशकरण भावना भावें और यंत्र बनाकर पूजाभिषेक करें, त्रिकाल सामायिक करें। इस प्रकार इस व्रत को उत्कृष्ट सोलह वर्ष, मध्यम ५ अथवा २ वर्ष और जघन्य एक वर्ष करके यथाशक्ति उद्यापन करें।

व्रत की समुच्चय जाप्य—इस महामंत्र का दिन में तीन बाद १०८ बार जाप्य करें–

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, उपाध्याय–भक्ति (बहुश्रुतभक्ति), प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सत्वादि– षोडशकारणेभ्यो नमः।

सोलहकारण व्रत जाप्य मंत्र-

(१–१ भावना की २–२ दिन जाप्य करना है)

१. ॐ ह्रीं अर्हं दर्शनविशुद्धिभावनायै नमः २. ॐ ह्रीं अर्हं विनयसंपन्नताभावनायै नमः ३. ॐ ह्रीं अर्हं शीलव्रतेष्वनातिचारभावनायै नमः ४. ॐ ह्रीं अर्हं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावनायै नमः ५. ॐ ह्रीं अर्हं संवेगभावनायै नमः ६. ॐ ह्रीं अर्हं शक्तितस्त्यागभावनायै नमः ७. ॐ ह्रीं अर्हं शक्तितस्तपभावनायै नमः ८. ॐ ह्रीं अर्हं साधुसमाधि-भावनायै नमः ९. ॐ ह्रीं अर्हं वैयावृत्यकरणभावनायै नमः १०. ॐ ह्रीं अर्हं अर्हद्भक्तिभावनायै नमः ११. ॐ ह्रीं अर्हं आचार्यभक्तिभावनायै नमः १२. ॐ ह्रीं अर्हं बहुश्रुतभक्तिभावनायै नमः १३. ॐ ह्रीं अर्हं प्रवचनभक्तिभावनायै नमः १४. ॐ ह्रीं अर्हं आवश्यकापरिहाणिभावनायै नमः १५. ॐ ह्रीं अर्हं मार्गप्रभावनाभावनायै नमः १६. ॐ ह्रीं अर्हं प्रवचनवत्सलत्वभावनायै नमः ।

व्रत का फल—इस व्रत को धारण करने से सुर–नर भवों के सुख भोगकर अक्षय अविनाशी मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। इस व्रत के प्रभाव से कालभैरवी नामक ब्राह्मण कन्या से आगामी भव में सीमंधर तीर्थंकर का पद प्राप्त किया।

व्रतोद्यापन—१६–१६ उपकरण श्रीमंदिर जी में भेंट दें और शास्त्र व विद्यादान करें, शास्त्र भण्डार खोलें, सरस्वती मंदिर बनावें, पवित्र जिनधर्म का उपदेश करें और करावें इत्यादि। यदि द्रव्य खर्च करने की शक्ति न हो तो व्रत द्विगुणित करें।

(५) मेघमाला व्रत

विधि—मेघमाला व्रत भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आश्विन कृष्णा प्रतिपदा तक ३१ दिन तक किया जाता है। इसमें सात उपवास और २४ दिन एकाशना करना होता है। तीनों प्रतिपदाओं के तीन उपवास, दोनों अष्टमियों के दो उपवास एवं दोनों चतुर्दशियों के दो उपवास, इस प्रकार कुल सात उपवास किए जाते हैं। इस व्रत की समाप्ति प्रतिवर्ष आश्विन कृष्णा प्रतिपदा को होती है। यह व्रत प्रतिवर्ष एक–एक मास करके ५ वर्ष तक किया जाता है। इस एक माह में प्रतिदिन श्री जिनालय के आंगन में सिंहासनादि स्थापित करे और उस पर श्रीजिनबिम्ब स्थापित करके महाभिषेक और पूजन नित्यप्रति करे, श्वेत वस्त्र पहने, श्वेत ही चंदोवा बंधावे, मेघधारा के समान १००८ कलशों से महाभिषेक करके पश्चात् पूजा करें। पंच परमेष्ठी की १०८ बार जाप्य करे। भूमिशयन और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, यथाशक्ति चारों प्रकार का दान देवें, हिंसादि पांच पापों का त्याग करे तथा एक मास पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक एकभुक्त, उपवास, बेला, तेला आदि शक्ति प्रमाण करे। निरन्तर षट्रसी व्रत पाले अर्थात् नित्य एक रस छोड़कर भोजन करे। इस प्रकार जब पाँच वर्ष पूर्ण हो जाएं तो शक्ति प्रमाण भाव सहित उद्यापन करे।

व्रत की जाप्य–ॐ ह्रीं पंचपरमेष्ठिभ्यो नमः।

व्रत का फल—इस व्रत के प्रभाव से दरिद्रता, दुख, संकट दूर होते हैं और क्रमशः मोक्षपद की प्राप्ति होती है। इस व्रत के प्रभाव से वत्सराज श्रेष्ठी और उसकी पद्मश्री सेठानी ने अपना सब दारिद्र्य दूर किया, पुनः आगे देवपद को प्राप्त किया और क्रमशः निर्वाण पद पावेंगे।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में पांच जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करावे, पांच महान ग्रंथ लिखावे, पांच प्रकार के पकवान बनाकर श्रावकों के पांच घर में देवे। पांच–पांच घण्टा, झालर, चंदोवा, चमर, छत्र, आदि उपकरण देवे। पांच विद्यार्थियों को भोजन करावे, सरस्वती भवन बनावे, पाठशाला चलावे इत्यादि और अनेकों प्रभावना बढ़ाने वाले कार्य करे।

(६) जिनमुखावलोकन व्रत

विधि—प्रातःकाल जिनेन्द्रमुख देखने के अनन्तर आहार ग्रहण करना जिनमुखावलोकन व्रत है। यह व्रत निरवधि होता है और भाद्रपद मास में किया जाता है। प्रथम प्रोषधोपवास, अनन्तर पारणा, पुनः प्रोषधोपवास पश्चात् पारणा, इसी प्रकार मासान्त तक उपवास और पारणा करते रहना चाहिए।

जिनमुखावलोकन व्रत के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। प्रथम मान्यता इसे एक वर्ष पर्यन्त करने की है और दूसरी मान्यता एक मास तक करने की। प्रथम मान्यता के अनुसार यह व्रत भाद्रपद मास से आरम्भ होकर श्रावण मास में पूर्ण होता है और द्वितीय मान्यता के अनुसार भाद्रपद मास की कृष्ण प्रतिपदा से आरम्भ होकर इस मास की पूर्णिमा को समाप्त हो जाता है। एक वर्ष तक करने का विधान करने वालों के मत से वर्ष में कुल ३६ उपवास और एक मास का विधान मानने वालों के मत से एक मास में १५ उपवास करने चाहिए।

प्रथम मान्यतानुसार भाद्रपद मास की प्रतिपदा को पहला उपवास करना चाहिए पश्चात् इस मास में किन्हीं भी दो तिथियों को दो उपवास करना चाहिए परन्तु यह विशेष ध्यान देना चाहिए कि प्रत्येक मास में कृष्ण पक्ष में दो उपवास और शुक्ल पक्ष में एक उपवास करना पड़ता है। इस व्रत के लिए कोई तिथि निर्धारित नहीं की है। प्रथम मान्यतानुसार उपवास के दिन रात्रि जागरण कर प्रातः श्री जिनेन्द्रप्रभु के मुख का अवलोकन करना चाहिए, रात्रि में 'ॐ अर्हद्भ्यो नमः' मंत्र का जाप्य करना चाहिए। जिन दिनों में उपवास नहीं करना है उन दिनों में इस मंत्र का एक जाप्य अवश्य करना चाहिए। उपवास के दिन पंचाणुव्रतों का पालन करना, ब्रह्मचर्य धारण करना तथा पूजन–सामायिक करना आवश्यक है। जिस दिन मुखावलोकन किया जाता है, उस समय व्रत करने वाला भगवान के समक्ष दोनों घुटने पृथ्वी पर टेककर घुटनों के बल बैठ जाता है अथवा सुखासन से बैठता है तथा नीचे लिखे मंत्रों का उच्चारण करता है। दोनों ही विधियों में आचार्य ने दूसरी मान्यता को प्रधानता दी है।

भगवान के समक्ष बोलने वाले मंत्र—ॐ त्रैलोक्यवशंकराय केवलज्ञानप्राप्ताय श्री अर्हत्परमेष्ठिने नमः। ॐ संसारपरिभ्रमणविनाशनाय अभीष्टफलप्रदानाय धरणेन्द्रफणामण्डल–मण्डिताय श्रीपार्श्वनाथस्वामिने नमः। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा नमः सर्वसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा। इन तीनों मंत्रों का उच्चारण करते हुए अंतिम मंत्र का १०८ बार जाप्य करना चाहिए। प्रोषधोपवास के दिन भी अंतिम मंत्र का तीनों संध्याओं में जाप्य करना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन पारणा करते समय भोज्य वस्तुओं की संख्या निर्धारित कर लेना चाहिए।

दूसरी मान्यतानुसार—उपवास के दिन **''ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा नमः सर्वसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।** इस मंत्र का तीनों सन्ध्याओं में जाप्य करना चाहिए। अन्य दिनों में दिन में एक बार इस मंत्र का जाप्य किया जाता है।

(७) श्रुतस्कंध व्रत

विधि—भाद्रपद मास में भादों कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आश्विन कृष्णा प्रतिपदा तक यह व्रत किया जाता है। इसमें एक महीने में उत्कृष्ट १६ उपवास, मध्यम १० उपवास और जघन्य ८ उपवास करें। पारणा के दिन यथाशक्ति नीरस या एक–दो आदि रस छोड़कर एक बार भोजन (एकाशन) करें। १६ उपवास करने में प्रतिपदा से एक उपवास, एक पारणा ऐसे आश्विन कृष्णा प्रतिपदा तक १६ उपवास होंगे। ऐसे ही १० उपवास में कृष्ण पक्ष में दूज, पंचमी, अष्टमी, दशमी और चौदस तथा शुक्ल पक्ष में भी २, ५, ८, १० और १४ को उपवास करें। ८ उपवास में भी दो पंचमी, दो अष्टमी, २ दशमी और २ चौदस ऐसे ८ उपवास करें अथवा शक्ति अनुसार जैसे भी हो, वैसे ये उपवास करें।

यह व्रत १२ वर्ष अथवा ५ वर्ष तक करें, व्रत पूर्ण कर उद्यापन करें।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांगश्रुतज्ञानेभ्यो नमः।

व्रत का फल—इस व्रत के प्रभाव से भव्यों के श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है और अगले भव में केवली होकर वे परम्परा से केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस व्रत को दो भवों तक करके श्रुतशालिनी नामक कन्या ने प्रथमतः इन्द्र पद प्राप्त किया तथा कालांतर में पश्चिम विदेह में "नयंधर" नामक तीर्थंकर हुए हैं।

व्रतोद्यापन—व्रत पूर्ण कर मंदिर में १२–१२ उपकरण—घंटा, पूजा के बर्तन, छत्र, चंवर, चंदोवा, चौकी, वेष्टन आदि भेंट करें। सरस्वती भवन का निर्माण कराकर श्रुतदेवी की प्रतिमा या श्रुतस्कंध यंत्र स्थापित करें। जिनवाणी के उपदेश आदि द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करें।

(८) चंदन षष्ठी व्रत

विधि—आश्विन वदी षष्ठी (गुजराती भादों वदी षष्ठी) को यह व्रत किया जाता है। इस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास धारण करे तथा जिनालय में जाकर पंचामृत से अभिषेक, पूजन करे अर्थात् छः प्रकार के उत्तम और प्रासुक फलों सहित अष्टद्रव्य से छः पूजन करे (भूतकालीन चतुर्विंशति, वर्तमानकालीन चतुर्विंशति, भविष्यत्कालीन चतुर्विंशति, विद्यमान विंशति तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठी और महावीर स्वामी), एक सौ आठ बार पंचपरमेष्ठियों का चिन्तन करते हुए णमोकार मंत्र का फलों व फूलों द्वारा जाप्य करे और चारों संघ को चार प्रकार का दान देवे। व्रततिथि–निर्णय के अनुसार इसमें भगवान चन्द्रप्रभु की पूजा की जाती है। तीनों काल सामायिक, व्रत, अभिषेक–पूजन करे, घर के आरम्भ व विषयकषायों का उपवास के दिन और रात्रि भर आठ प्रहर तथा धारणा–पारणा के दिन ४ प्रहर ऐसे सोलह प्रहरों तक त्याग करें। खड़े होकर पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए रात बिताने का इस व्रत में विधान है। इस प्रकार यह व्रत छः वर्ष तक किया जाता है। व्रत पूर्ण कर उद्यापन करे।

व्रत की जाप्य— ॐ ह्रीं पंचपरमेष्ठिभ्यो नमः।

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—इस व्रत के प्रभाव से काया निरोगी होती है, नर–सुर के भोगों की प्राप्ति होती है तथा कालांतर में मोक्षसुख मिलता है। इस व्रत को करके ईश्वरदत्त सेठ और चंदना सेठानी ने निरोगी शरीर प्राप्त कर, नर–सुर के सुख भोगकर मोक्ष प्राप्त किया।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में जहाँ जिनमन्दिर न हो वहाँ छः जिनालय बनवाए, छः जिनबिम्ब पधरावे, छः जिनमंदिर का जीर्णोद्धार करावे, छः शास्त्रों का प्रकाशन करे, छः–छः सब प्रकार के उपकरण जिनमंदिर में चढ़ावे, छात्रों को भोजन करावे एवं चारों प्रकार का दान देवें। विशषरूप में इस व्रत का उद्यापन भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को होता है।

(९) दशलक्षण व्रत

विधि—दशलक्षण व्रत भादों, माघ और चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में पंचमी से चतुर्दशी तक किया जाता है परन्तु प्रचलितरूप में केवल भाद्रपद मास ही ग्रहण किया गया है। इस व्रत को दस वर्ष तक पालन किया जाता है पश्चात् उद्यापन कर दिया जाता है। दशलक्षण व्रत के दस दिनों में त्रिकाल सामायिक, वन्दना और प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को सम्पन्न करना चाहिए। व्रतारंभ के दिन से लेकर व्रत समाप्ति तक जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के साथ (चौबीस तीर्थंकर) दशलक्षण यंत्र का भी अभिषेक किया जाता है। नित्य, नैमित्तिक पूजाओं के अनन्तर दशलक्षण पूजा की जाती है। पंचमी, षष्ठी, सप्तमी आदि दस तिथियों में क्रम से प्रत्येक तिथि को दशों धर्म के मंत्र का क्रम से जाप करना चाहिए। समस्त दिन स्वाध्याय, पूजन, सामायिक आदि कार्यों में व्यतीत करे, रात्रि जागरण करे।

इस व्रत की उत्कृष्ट विधि तो यही है कि दस उपवास लगातार करना चाहिए अथवा दसों दिन यथाशक्ति प्रोषध, बेला, तेला, एकाशन, ऊनोदर एवं रसपरित्याग करना चाहिए अथवा पंचमी और चतुर्दशी का उपवास तथा शेष दिनों में एकाशन करना चाहिए, परन्तु यह व्रतविधि शक्तिहीनों के लिए बताई गई है, यह परम मार्ग नहीं है। स्वादिष्ट भोजन का त्याग कर स्वच्छ और सादे वस्त्र धारण करना चाहिए। सब प्रकार के राग–द्वेष व क्रोधादि कषाय तथा इन्द्रिय विषयों को बढ़ाने वाली विकथाओं का तथा व्यापारादि समस्त प्रकार के आरंभों का सर्वथा त्यागकर आत्मचिंतन में लीन रहे। इस प्रकार दस वर्ष तक पालन करने के पश्चात् उत्साह सहित उद्यापन करें।

व्रत की जाप्य—समुच्चय जाप्य–"**ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमक्षमादिदशधर्मेभ्यो नमः**" तीनों समय इस मंत्र का जाप्य करें। साथ ही एक–एक दिन एक–एक मंत्र की भी जाप्य करे।

पंचमी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः।**
षष्ठी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तममार्दवधर्मांगाय नमः।**
सप्तमी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तम–आर्जवधर्मांगाय नमः।**
अष्टमी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसत्यधर्मांगाय नमः।**
नवमी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमशौचधर्मांगाय नमः।**
दशमी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमसंयमधर्मांगाय नमः।**
एकादशी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमतपोधर्मांगाय नमः।**
द्वादशी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमत्यागधर्मांगाय नमः।**
त्रयोदशी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तम–आकिंचन्यधर्मांगाय नमः।**
चतुर्दशी को– **ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्गताय उत्तमब्रह्मचर्यधर्मांगाय नमः।**

व्रत का फल—इस व्रत के प्रभाव से मृंगाकलेखा, कमलसेना, मदनवेगा और रोहिणी इन चार कन्याओं ने विधिपूर्वक इस व्रत को धारण करके स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग तथा मनुष्यगति के सुख भोगकर मोक्षपद प्राप्त किया। इसी प्रकार जो भी भव्य जीव मन, वचन, काय से इस व्रत का पालन करेंगे वे भी उत्तमोत्तम सुखों को प्राप्त करेंगे। इस व्रत का फल स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति है।

व्रतोद्यापन—व्रत पूर्ण कर उद्यापन में छत्र, चमर आदि मंगल द्रव्य, जयमाला, कलश, वस्त्रादि धर्मोपकरण प्रत्येक दस–दस श्रीमंदिरजी में पधराना चाहिए तथा पूजा, विधानादि महोत्सव करना चाहिए, दुखित, भुखितों को भोजनादि दान देना चाहिए।

औषधालय, अनाथालय, वाचनालय, विद्यालय, छात्रालय, पुस्तकालय तथा दीन प्राणीरक्षक संस्थाएँ आदि स्थापित करना चाहिए अथवा शक्ति अनुसार उद्यापन करना चाहिए अथवा सर्वथा असमर्थ हो तो द्विगुणित वर्षों प्रमाण (२० वर्ष) व्रत करे।

(१०) श्री त्रिलोक तीज व्रत

विधि—यह व्रत भाद्रपद शुक्ला तृतीया को किया जाता है। इस दिन चौबीस तीर्थंकरों के ७२ कोठे का मंडल मांडकर तीन चौबीसी पूजा विधान करना चाहिए और तीनों काल में मंत्र जाप्य करना चाहिए। रात्रि को जागरण करके भजन व धर्मध्यान में काल बिताना चाहिए। इस प्रकार तीन वर्ष तक यह व्रत करके उद्यापन करना चाहिए। इसे दूसरे लोग रोट तीज भी कहते हैं और रोट बनाकर भगवान के सम्मुख चढ़ाते हैं।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं भूतवर्तमानभविष्यत्कालसंबंधिचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः।

व्रत का फल—इस व्रत का विधिवत् पालन कर विजयसुन्दरी रानी ने देवों और मनुष्यों के उत्तम सुखों को भोगकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

व्रतोद्यापन—उद्यापन करने के समय तीन चौबीसी का मण्डल मांडकर बड़ा विधान पूजन करना चाहिए और प्रत्येक प्रकार के उपकरण तीन–तीन श्री मंदिर जी में भेंटकर चतुःसंघ को चार प्रकार का दान देना तथा शास्त्र छपाकर बांटना चाहिए। उद्यापन की शक्ति न होने पर द्विगुणित व्रत करना चाहिए।

(११) पुष्पांजलि व्रत

विधि—पुष्पांजलि व्रत भाद्रपद शुक्ला पंचमी से नवमी पर्यन्त किया जाता है। भादों शुक्ला पंचमी से नवमी तक पांच दिन पंचमेरु की स्थापना करके चौबीस तीर्थंकरों की पूजा करनी चाहिए। पांच अष्टक और पांच जयमाला पढ़ी जाती हैं तथा प्रतिदिन अभिषेक किया जाता है। इस व्रत में केतकी, चम्पा आदि विकसित और सुगंधित पुष्पों से चौबीस भगवान की पूजा करें। यदि वास्तविक पुष्प न हों अथवा पुष्प से करना उपयुक्त न समझें तो पीले चावल अथवा लवंग से जाप्य करना चाहिए। पुष्पांजलि शब्द का अर्थ है पुष्पों का समुदाय अर्थात् सुगंधित, विकसित और कीटाणु रहित पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा इस व्रत वाले को करनी चाहिए। पांचों दिन पूजन और जाप्य करना आवश्यक है। इसमें पांच उपवास अपनी शक्ति के अनुसार किए जाते हैं अथवा पंचमी और षष्ठी इन दोनों दिन का उपवास, सप्तमी को पारणा, अष्टमी और नवमी का उपवास तथा दशमी को पारणा की जाती है। तिथिक्षय में एक दिन पहले से और तिथि वृद्धि में एक दिन अधिक व्रत किया जाता है। यदि शक्ति कम हो तो पञ्चमी को उपवास तथा शेष चार दिन रस त्याग कर एकाशन करना चाहिए।

रात्रि जागरण, विषय कषायों को अल्प करने का प्रयत्न एवं आरम्भ–परिग्रह का त्याग करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। विकथाओं को कहने और सुनने का त्याग भी इस व्रत के पालन करने वाले को करना आवश्यक है। इस व्रत का पालन पांच वर्ष तक करना चाहिए, तत्पश्चात् उद्यापन करके व्रत की समाप्ति कर दी जाती है।

व्रत की जाप्य—**'ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसंबंधि–अशीति–जिनालयेभ्यो नमः।** प्रतिदिन ३ बार जाप्य करें।

व्रत का फल—विधिपूर्वक इस व्रत का पालन करने से परम्परा से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, कर्मरोग दूर होता है तथा नाना प्रकार के लौकिक ऐश्वर्य, धन–धान्यादि विभूति प्राप्त होती है। इसकी गणना काम्य व्रतों में की गई है क्योंकि इस व्रत को विधिपूर्वक पालकर कोई भी व्यक्ति अपनी लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की कामनाओं को पूर्ण कर सकता है।

व्रतोद्यापन—व्रत के उद्यापन में छत्र, चमर, झारी, तोरण, घंटा, धूपदान, चंदोवा, दीवट, भामण्डल, पांच बर्तन, पांच शास्त्र, २५ नैवेद्य, २५ सुपारी, पांच नारियल, पंचरत्न की पुड़िया, २५

चांदी या गोटे के स्वस्तिक आदि सामग्री एकत्रित करके उद्यापन की पूजा करनी चाहिए। अनन्तर पांच श्रावकों को भोजन कराना, दान देना आदि क्रियाएँ सम्पन्न करनी चाहिए।

(१२) सप्त परमस्थान व्रत

विधि—यह व्रत श्रावण शुक्ला प्रतिपदा से श्रावण शुक्ला सप्तमी तक किया जाता है। सातों दिन एक ही वस्तु सेवन किया जाता है। इस दिन जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पूजन करके सप्तपरम–स्थान पूजन करना चाहिए, कथा श्रवण, दान आदि कार्यों को करना चाहिए। रात्रि में जागरण आदि करते हुए धर्मध्यान में सारा समय व्यतीत करना चाहिए। व्रत के लिए उत्तम तो उपवास ही है, यदि शक्ति न हो तो एक वस्तु का भोजन करना चाहिए। विधिवत् व्रत करने के उपरांत उद्यापन किया जाता है।

व्रत की जाप्य— **ॐ ह्रीं अर्हं सज्जातिपरमस्थानप्राप्तये श्रीऋषभदेवजिनेन्द्राय नमः।**
ॐ ह्रीं अर्हं सद्गृहस्थपरमस्थानप्राप्तये श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः।
ॐ ह्रीं अर्हं पारिव्राज्यपरमस्थानप्राप्तये श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय नमः।
ॐ ह्रीं अर्हं सुरेन्द्रपरमस्थानप्राप्तये श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्राय नमः।
ॐ ह्रीं अर्हं साम्राज्यपरमस्थानप्राप्तये श्रीशीतलनाथजिनेन्द्राय नमः।
ॐ ह्रीं अर्हं आर्हन्त्यपरमस्थानप्राप्तये श्रीशांतिनाथजिनेन्द्राय नमः।
ॐ ह्रीं अर्हं निर्वाणपरमस्थानप्राप्तये श्रीमहावीरजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—इस व्रत का विधिवत् पालन कर श्रीपाल राजपुत्र ने सप्तपरमस्थान के ऐश्वर्य को प्राप्त करते हुए अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया। इस व्रत का फल उत्तम जाति, ऐश्वर्य, गार्हस्थ्य, उत्तम तप, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद और अर्हंत पद की प्राप्ति होती है। संसार में निर्वाण ही श्रेष्ठ पद है। इस व्रत से यह सातवां परम पद भी प्राप्त हो जाता है। यह व्रत लौकिक अभ्युदय के साथ–साथ निर्वाण पद को भी देने वाला है।

व्रतोद्यापन—सात दिन व्रत करने के उपरान्त यथाशक्ति व्रत का उद्यापन करना चाहिये जिसमें सात–सात उपकरण जिनमंदिर जी में चढ़ावे, सप्तपरमस्थान विधान करे, चतुर्विध संघ को चारों प्रकार का दान देवे। उद्यापन की शक्ति न होने पर दूना व्रत करना चाहिए।

(१३) वृहत्पल्य व्रत

जिस[१] किसी ने मनुष्य जन्म प्राप्त करके यदि पल्य विधान नाम का व्रत किया है, वह भव्य है, यह बात निश्चित है। यह व्रत श्रवण मात्र से ही असंख्यात भवों के पापों का नाश कर देता है और

१.वृहत्पल्यव्रत पूजन से उद्धृत।

तत्काल ही स्वर्गमोक्ष को भी देने वाला है। वृषभदेव भगवान ने पहले इस पल्य विधान का कथन किया है। उसी प्रकार वीर जिनेन्द्र के निकट में गौतम आदि महर्षियों ने भी इसे कहा है। इस विधान के पढ़ने से सहस्रगुणा फल होता है और इसका अनुष्ठान करने से उत्तम अनन्त केवलज्ञान प्राप्त होता है। इस व्रत के अनुषंगिक फल चक्रीपद और इन्द्रपद भी प्राप्त होते हैं किन्तु मुख्यरूप से इसका फल निर्मल तीर्थंकर पद प्राप्त करना ही है।'

वृहत्पल्य व्रत की तिथियाँ, व्रतों के नाम एवं माहात्म्य

तिथि	व्रत का नाम	फल
आश्विन सुदी ६	सूर्यप्रभा	एक पल्य उपवास
आश्विन सुदी १३	चन्द्रप्रभा	दो पल्य उपवास
कार्तिक कृष्णा ५	कुमारसंभव	चार पल्य उपवास
कार्तिक कृष्णा ११	षडशीति	आठ पल्य उपवास
कार्तिक कृष्णा १४	पुष्पोत्तर	एक हजार पल्य उपवास
कार्तिक सुदी १२	नंदीश्वर	दो हजार पल्य उपवास
मगसिर कृष्णा १२	प्रातिहार्य	चार हजार पल्य उपवास
मगसिर सुदी ११	जितेन्द्रिय	पाँच पल्य उपवास
पौष कृष्णा ३	पंक्तिमान	छह पल्य उपवास
पौष कृष्णा १२	सूर्य	सात पल्य उपवास
पौष सुदी ५	पराक्रम	नौ पल्य उपवास
पौष सुदी ११	जयपृथु	दस पल्य उपवास
माघ कृष्णा २	अजित	आठ पल्य उपवास
माघ कृष्णा ५	स्वयंप्रभ	ग्यारह पल्य उपवास
माघ कृष्णा १५	रत्नप्रभ	बारह पल्य उपवास
माघ सुदी ४	चतुर्मुख	तेरह पल्य उपवास
माघ सुदी ७	शील	चौदह पल्य उपवास
माघ सुदी ११	पंचाशीति	पन्द्रह पल्य उपवास

फाल्गुन वदी ३, ८, १४ को उपवास करने से क्रमशः सोलह, सतरह, अठारह पल्य उपवास का फल होता है। ऐसे ही फाल्गुन सुदी ५, ११ को उपवास करना चाहिए। चैत्र कृष्णा ३, ८, ११, चैत्र सुदी १, ५, ८, ११, वैशाख वदी ३, ८, १४, वैशाख सुदी १, ५, ८, ११, ज्येष्ठ वदी ३, ८, १४, ज्येष्ठ सुदी ५, ८, १०, आषाढ़ वदी ८, १४, आषाढ़ सुदी १, ५, ८, १४, श्रावण वदी १, ५, ८, १४, श्रावण-सुदी ३, ५, ८, १४, भाद्रपद वदी ५, ८, १४, भाद्रपद सुदी ५, ११, १४, आश्विन वदी ५, २, १४ इन उपर्युक्त

तिथियों में उपवास करना। इस व्रत में छ्यासठ उपवास होते हैं। यह व्रत एक वर्ष में समाप्त होता है, बहुत ही उत्कृष्ट है। व्रत पूर्ण होने के बाद शक्ति के अनुसार उद्यापन करके पूर्ण करना चाहिए। व्रत के दिन पंचपरमेष्ठी की निम्नलिखित जाप्य करना चाहिए—

ॐ ह्रीं अर्हं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

तथा जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करके नित्यपूजन और पंचपरमेष्ठी की पूजन करना चाहिए।

(१४) चक्रवाल व्रत

विधि–यह व्रत तीन वर्ष और तीन महीने तक किया जाता है, इस व्रत में ३९ व्रत होते हैं जिन्हें उपवासपूर्वक किया जाता है। इस ३९ उपवास से ४० करोड़ ९५ लाख उपवास का फल प्राप्त होता है। फाल्गुन मास से यह व्रत प्रारम्भ होता है। फाल्गुन महीने में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र जिस तिथि को पूरा होगा, इस व्रत के धारकों को शुचिजल से अभ्यंग स्नान करके शुभ्र वस्त्र पहनना, पुनः पूजन सामग्री लेकर मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की भक्ति से वंदना करना, अखण्ड दीप लगाना। वेदी पर गोमुख यक्ष, चक्रेश्वरी यक्षी सहित आदिनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित कर उनका पंचामृत अभिषेक–पूजा करना एवं स्तोत्र पढ़ना, सरस्वती और गुरु की पूजा करना तथा यक्ष, यक्षी और क्षेत्रपाल की भी अर्चना करना। जिनसहस्रनाम स्तोत्र पढ़कर श्री आदिनाथ चरित्र पढ़ना, बाद में एक पात्र में महार्घ्य करके आरती उतारते हुए तीन प्रदक्षिणा देना। उपवासपूर्वक धर्मध्यान में समय व्यतीत करना, ब्रह्मचर्य पालना, दूसरे दिन पारणा करना। इस माह में पूजा करके किए हुए उपवास को 'पंचकल्याण' कहते हैं, इस उपवास के योग से एक लाख उपवास का फल मिलता है, इसी प्रकार अन्य माह के व्रतों की तालिका इस प्रकार है–

माह	नक्षत्र	उपवास का नाम	फल
चैत्र	चित्रा	अष्टमहाविभूति	दो लाख उपवास
वैशाख	विशाखा	जिनदर्शन	चार लाख उपवास
ज्येष्ठ	ज्येष्ठा	चतुर्विंशति तीर्थंकर	आठ लाख उपवास
आषाढ़	पूर्वाषाढा	अनन्त श्रीवर्धन	सोलह लाख उपवास
श्रावण	श्रवण	धर्मानंद	बत्तीस लाख उपवास
भाद्रपद	उत्तरा भाद्रपदा	आयुर्वर्धन	चौंसठ लाख उपवास
आश्विन	आश्विन	श्रीवर्धमान	एक करोड़ २८ लाख उपवास
कार्तिक	कृत्तिका	आरोग्यज्ञानवर्धन	२ करोड़ ५६ लाख उपवास
मगशिर	मृगशिरा	परमैश्वर्यवर्धन	५ करोड़ १२ लाख उपवास

पौष	पुष्य	पंचालंकार	१० करोड़ २४ लाख उपवास
माघ	मघा	धनवर्धन	२० करोड़ ४८ लाख उपवास

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं अर्हं गोमुखयक्षचक्रेश्वरीयक्षीसहिताय श्री–आदिनाथजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—इस व्रत को भगवान महावीर के समवसरण में उनकी दिव्यध्वनि के माध्यम से श्री गौतम स्वामी से सुनकर राजा बुद्धायन की रानी इंद्रायणी ने उसका विधिवत् पालन किया और संन्यास विधि से मरकर स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग में देव हुई तथा कुछ ही भव में मोक्ष प्राप्त करेंगी। जो भव्यात्मा जीव गुरु के पास इस व्रत को ग्रहण कर इसका पालन करते हैं, उनको सभी अभ्युदय सुख प्राप्त होकर क्रम से मुक्तिसुख प्राप्त होता है।

व्रतोद्यापन—व्रत पूर्ण कर उद्यापन में श्री आदिनाथ तीर्थंकर की नूतन सुवर्णमयी गोमुख यक्ष–चक्रेश्वरी यक्षी सहित मूर्ति निर्माण कराके उसकी पंचकल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा कराना, चतुःसंघ को चतुर्विध दान करना, शक्ति न हो तो दूना व्रत करना चाहिए।

(१५) रोहिणी व्रत

विधि—जिस दिन चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में हो उस दिन चतुराहार त्यागकर उपवास करना चाहिए। इस व्रत में हर उपवास के दिन भगवान वासुपूज्य का अभिषेक करके पूजन करना चाहिए। यह रोहिणी नक्षत्र सत्ताईस दिन में आता है। इस तरह सत्ताइसवें दिन उपवास करते हुए पाँच वर्ष और नव दिन में सरसठ उपवास हो जाते हैं। इस दिन व्रत की कथा पढ़नी चाहिए, तीनों कालों में भगवान वासुपूज्य की जाप्य करनी चाहिए और पूरा दिन धर्मध्यान आदि में व्यतीत करना चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—इस व्रत का पूतिगंध राजकुमार और पूतिगंधा ने विधिवत् पालन किया, जिसके प्रभाव से वे स्वर्ग में देव–देवी हुए, आगे हस्तिनापुर के राजा अशोक और रानी रोहिणी हुए। एक बार रूपकुम्भ और स्वर्णकुम्भ नामक चारण मुनि के मुखारविन्द से अपने पूर्व भवों और रोहिणीव्रत का माहात्म्य ज्ञात हुआ, पुनः श्वेत केश देख विरक्त हो राजा ने भगवान वासुपूज्य के समवसरण में दीक्षा ले ली और गणधर बनकर मोक्ष गए तथा रोहिणी ने सुमति आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्रीलिंग छेदकर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र पद प्राप्त किया। इस प्रकार रोहिणी व्रत का माहात्म्य अचिन्त्य है।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में भगवान वासुपूज्य की महापूजा कराके रोहिणी व्रत सम्बन्धी पुस्तक छपाकर और भी अन्य ग्रंथ भव्य जीवों में वितरण करना चाहिए। ध्वजा, कलश, घण्टा, घण्टिका, दर्पण, स्वस्तिक आदि से मंदिर को भूषित करके महापूजा के अनंतर चतुर्विध संघ को आहार आदि

चार प्रकार का दान और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र का दान देना चाहिए।

(१६) णमोकार व्रत

विधि—णमोकार मंत्र की विशेष आराधना के लिए नमस्कार पैंतीसी व्रत किया जाता है। चूँकि णमोकार मंत्र में ३५ अक्षर होते हैं अतः एक–एक अक्षर का एक–एक उपवास किया जाता है। इसमें सप्तमी तिथि के सात उपवास, पंचमी तिथि के पांच उपवास, चतुर्दशी तिथि के चौदह उपवास एवं नवमी तिथि के नौ उपवास किए जाते हैं। उपवास के दिन पंचपरमेष्ठी की पूजन एवं अभिषेक करना होता है। उपवास के पहले और पिछले दिन एकाशन होता है।

इस व्रत के प्रारम्भ करने में किसी मास की किसी विशेष तिथि का नियम नहीं है, केवल तिथि के अनुसार ही व्रत किया जाता है।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्राँ णमो अरिहंताणं। ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं। ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं। ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं। ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं।

व्रतोद्यापन—व्रत के उद्यापन में विधान का अनुष्ठान करें। ३५–३५ शास्त्र वितरण करें, ३५ प्रकार के उपकरण मन्दिर में दान करें। शक्ति न होने पर दूना व्रत करें।

(१७) श्रुतपंचमी व्रत (श्रुतावतार व्रत)

प्रथम विधि—ज्येष्ठ शुक्ल एकम् से इस व्रत को ग्रहण करें। व्रत के दिन पंचपरमेष्ठी भगवान एवं श्रुतस्कंध यन्त्र का पंचामृत अभिषेक करें, पुनः अष्टद्रव्य से पंचपरमेष्ठी, द्वादशांग श्रुतदेवी, गणधरदेवी एवं षट्खण्डागम की पूजा करें, साथ ही यक्ष–यक्षी को अर्घ्य समर्पित करें। जाप्य करें, जाप्य के पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र का पाठ करके णमोकार मंत्र की एक जाप्य करें। शक्ति के अनुसार उपवास आदि करें। व्रत की उत्तम विधि उपवास, मध्यम विधि फलाहार एवं जघन्य विधि एकाशन है। ब्रह्मचर्यपूर्वक धर्मध्यान में दिन व्यतीत करें।

इस प्रकार चार दिन तक पूजादि करते हुए एकाशन करें एवं पांचवें दिन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को उपवास करें। श्रुतभण्डार के शास्त्रों को ठीक–ठीक करके उन पर वस्त्र चढ़ावें। जिनमंदिर में श्रुतस्कंध यंत्रदल बनाकर श्रुतस्कन्ध की आराधना करें। छठवें दिन चतुर्विध संघ को आहारदान देकर व्रत को पूर्ण करें। यह व्रत १२ वर्ष तक किया जाता है।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अर्हं असिआउसा अनाहतविद्यायै नमः स्वाहा।

दूसरी विधि—"जैनेन्द्रव्रत कथा संग्रह" (मराठी) पुस्तक के अनुसार श्रुतपंचमी–ज्येष्ठ शु. पंचमी के दिन ही उपवास करके पांच वर्ष तक यह व्रत कर सकते हैं।

जाप्य—(१) ॐ ह्रीं अर्हं षट्खण्डागमजिनागमेभ्यो नमः।

(२) **ॐ ह्रीं श्री जिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांगश्रुतज्ञानेभ्यो नमः।**

व्रतोद्यापन—उद्यापन में श्रुतस्कंध यंत्र बनवाकर उसकी विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करें। चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान देवें और मंदिर में आवश्यक उपकरण रखें।

(१८) सिंहनिष्क्रीडित व्रत

सिंहनिष्क्रीडित व्रत विधि—सिंह निष्क्रीडित व्रत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार है। इनमें से प्रथम ही जघन्य व्रत की विधि को बतलाते है—

जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रत विधि—इसमें पहले एक उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा करना चाहिए। फिर एक उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, यहाँ अंत में पाँच का अंक आ जाने से पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है। आगे उल्टी संख्या से पहले पाँच उपवास एक पारणा करना चाहिए। फिर चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा करना चाहिए। इस व्रत में समस्त अंकों का जोड़ साठ होता है। इसलिए साठ उपवास होते हैं और स्थान बीस हैं इसलिए पारणाएँ बीस होती हैं। यह व्रत अस्सी दिन में पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार यह है—

पारणा —१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

उपवास —१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ५ ५ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत विधि—पूर्वोक्त विधि में पाँच उपवास तक था ऐसे ही विधि से इसमें नौ उपवास तक बढ़ना चाहिए। उसकी विधि नीचे लिखे प्रस्तार से समझना चाहिए। इस व्रत में १५३ उपवास और ३३ पारणाएँ होने से १८६ दिन में पूर्ण होता है।

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत का प्रस्तार—

पारणा —१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

उपवास—१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ८ ९

पारणा —१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

उपवास —८ ७ ८ ६ ७ ५ ६ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत विधि—उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत में एक से लेकर पन्द्रह तक के अंकों का प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखर में १६ का अंक लिखना चाहिए। इसके बाद

उल्टे क्रम से एक तक के अंक लिखना चाहिए। इस व्रत में ४९६ उपवास और ६१ पारणाएँ होती हैं। यह व्रत ५५७ दिन में पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार अग्र प्रकार है—

पारणा—१ १

उपवास—१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९ ८ १० ९ ११ १० १२ ११

पारणा—१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १

उपवास—१३ १२ १४ १३ १५ १४ १५ १६ १५ १४ १५ १३ १४ १२ १३

पारणा—१ १

उपवास—११ १२ २० ११ ९ १० ८ ९ ७ ८ ६ ७ ५६ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १

व्रत का फल—इस व्रत के फलस्वरूप मनुष्य वज्रवृषभ नाराच संहनन का धारक, अनन्तवीर्य से सम्पन्न, सिंह के समान निर्भय और अणिमा आदि गुणों से युक्त होता हुआ शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

भगवान महावीर के जीव ने 'नन्दन' मुनिराज के भव में कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली और सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेकों व्रतों का अनुष्ठान किया था। उसी प्रकार भगवान नेमिनाथ के जीव ने भी तीर्थंकर से तृतीय भव पूर्व 'सुप्रतिष्ठ' मुनिराज की अवस्था में इन कनकावली आदि अनेकों व्रतों का अनुष्ठान किया था और आज तक बहुत से महापुरुष इन व्रतों का अनुष्ठान करते रहते हैं।

इस व्रत में नवदेवता की जाप्य एवं श्रावक-श्राविकाएँ नवदेवता की पूजा कर सकते हैं।

मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुजिनधर्मजिनागमजिनचैत्यचैत्यालयेभ्यो नमः।**

(१९) त्रिलोकसार व्रत

त्रिलोकसार विधि—जिसमें नीचे से पाँच से लेकर एक तक, फिर दो से लेकर चार तक और उसके बाद तीन से लेकर एक तक बिन्दु रखी जावें यह त्रिलोकसार विधि है। इसका प्रस्तार तीन लोक के आकार का बनाना चाहिए। इसमें तीस धारणाएँ अर्थात् तीस उपवास और ग्यारह पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस विधि में ४१ दिन लगते हैं। इस विधि का फल कोष्ठबीज आदि ऋद्धियाँ तथा तीन लोक के शिखर पर तीन लोक का सारभूत मोक्ष सुख का प्राप्त होना है।

इस व्रत में तीन लोक का मंत्र जपना चाहिए एवं तीन लोक की पूजा करनी चाहिए।

मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हं त्रैलोक्यसंबंधि-कृत्रिमाकृत्रिमजिनालयजिनबिम्बेभ्यो नमः।**

अथवा **ॐ ह्रीं अर्हं त्रैलोक्यसंबंधि-अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुजिनधर्मजिनागम-जिनचैत्यचैत्यालयेभ्यो नमः।**

दोनों मंत्रों में से कोई भी मंत्र जपें या दोनों भी मंत्र कर सकते हैं।

(२०) सुगन्धदशमी व्रत

विधि—भादो सुदी दशमी के दिन चारों प्रकार के आहारों को त्यागकर समस्त गृहारम्भ का त्याग करे और परिग्रह का भी प्रमाण कर जिनालय में जाकर श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र की भाव सहित अभिषेकपूर्वक पूजा करे, सामायिक स्वाध्याय करे। धर्मकथा के सिवाय अन्य विकथाओं का त्याग करे, रात्रि में भजनपूर्वक जागरण करे, पश्चात् दूसरे दिन चौबीस तीर्थंकरों की अभिषेकपूर्वक पूजा करके अतिथियों (मुनि व श्रावक) को भोजन कराकर आप पारणा करे, चारों प्रकार के दान देवे। इस प्रकार दस वर्ष तक यह व्रत पालन कर पश्चात् उद्यापन करे।

उत्तम व्रत उपवास करने से, मध्यम कांजी आहार और जघन्य एकाशन करने से होता है।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं श्रीशीतलनाथजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—उद्यापन में चमर, छत्र, घण्टा, झारी, ध्वजा आदि दस–दस उपकरण जिनमंदिर में भेंट देवे और दस प्रकार के श्रीफल आदि फल दस घर के श्रावकों को बांटे। यदि उद्यापन की शक्ति न होवे तो दूना व्रत करे।

(२१) आकाश पंचमी व्रत

विधि—यह व्रत भादो सुदी पंचमी को किया जाता है। इस दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास धारण करे और अष्टद्रव्य से मंदिर जी में जाकर भगवान का अभिषेकपूर्वक पूजन करे। पश्चात् रात्रि के समय खुले मैदान में या छत पर बैठकर भजनपूर्वक जागरण करे। वहाँ भी सिंहासन रखकर चौबीस तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित कर प्रत्येक प्रहर में अभिषेक पूजन करे और यदि उस समय उस स्थान पर वर्षा आदि के कारण कितने ही उपसर्ग आवें तो सब सहन करे परन्तु स्थान को न छोड़े। तीनों समय णमोकार महामंत्र की जाप्य करे। इस प्रकार ५ वर्ष तक व्रत पूर्ण कर उत्साह सहित उद्यापन करे।

जाप्य—परम्परा में श्री सुमतिनाथ भगवान की पूजा एवं जाप्य करते हैं–

ॐ ह्रीं श्रीसुमतिनाथजिनेन्द्राय नमः।

व्रत का फल—विशाला नाम की वणिक कन्या ने इस व्रत का विधिवत् पालनकर स्वर्ग और मोक्षपद प्राप्त किया।

व्रतोद्यापन—छत्र, चमर, सिंहासन, तोरण, पूजन के बर्तन आदि प्रत्येक ५–५ मंदिर में भेंट करे और कम से कम ५ शास्त्र पधरावे। चतुर्विध संघ को चारों प्रकार का दान देवे और भी विशेष प्रभावना करे।

(२२) नवदेवता व्रत

व्रतविधि–नवदेवता व्रत का दूसरा नाम रूपार्थवल्लरी व्रत है। यह आश्विन शुक्ला एकम् से आश्विन शुक्ला नवमी तक किया जाता है, पुनः दशमी को पूजा करके आहार दानादि देकर व्रत का समापन करें, इस प्रकार ९ वर्ष तक यह व्रत किया जाता है।

"श्री जैनेन्द्र व्रत कथा संग्रह (मराठी)" के अनुसार यह व्रत है। इसमें स्नान आदि कर शुद्ध वस्त्र पहनकर मंदिर जावें, वहाँ मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान को पंचांग नमस्कार करें। पुनः नवदेवता की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक, पूजा करके, श्रुत, गणधर की पूजा एवं क्षेत्रपाल–पद्मावती की अर्चना करें। भगवान को ९ प्रकार के नैवेद्य चढ़ावें, १०८ पुष्पों से मंत्र जाप्य करें, ब्रह्मचर्यपूर्वक दिवस बितावें, दूसरे दिन पूजा–दानादि करके पारणा करें।

इस प्रकार ९ दिन पूजा करके दशवें दिन जिनपूजा करके पूजा का विसर्जन करें। ९ वर्ष करके यथाशक्ति उद्यापन करें, चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान देवें। उत्तम विधि उपवास, मध्यम अल्पाहार व जघन्य विधि एकाशन (एक बार शुद्ध भोजन) है। इस व्रत को करने से पुत्रसुखप्राप्ति, धन की वृद्धि, यश–कीर्ति की प्राप्ति होकर परभव में मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

व्रत की जाप्य–

समुच्चय मंत्र–**ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधु-जिनधर्म-जिनागमजिनचैत्य-चैत्यालयेभ्यो नमः।**

प्रत्येक व्रत के अलग-अलग मंत्र–

१. **ॐ ह्रीं अर्हं अर्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।** २. **ॐ ह्रीं अर्हं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो नमः।**
३. **ॐ ह्रीं अर्हं आचार्यपरमेष्ठिभ्यो नमः।** ४. **ॐ ह्रीं अर्हं उपाध्याय परमेष्ठिभ्यो नमः।**
५. **ॐ ह्रीं अर्हं सर्वसाधुपरमेष्ठिभ्यो नमः।** ६. **ॐ ह्रीं अर्हं जिनधर्मेभ्यो नमः।**
७. **ॐ ह्रीं अर्हं जिनागमेभ्यो नमः।** ८. **ॐ ह्रीं अर्हं जिनचैत्येभ्यो नमः।**
९. **ॐ ह्रीं अर्हं जिनचैत्यालयेभ्यो नमः।**

(२३) नवग्रह शांतिव्रत

विधि–वर्ष में तीन बार आष्टान्हिक पर्व आता है। उन्हीं पर्वों में एक दिन पहले से यह व्रत किया जाता है जैसे कि आषाढ़ शुक्ला सप्तमी से आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तक। कार्तिक शु. सप्तमी से

पूर्णिमा तक एवं फाल्गुन शु.७ से पूर्णिमा तक ऐसे वर्ष में तीन बार यह व्रत करना चाहिए। अधिकतम यह व्रत नौ वर्ष तक (२७ बार), मध्यम में ७ वर्ष तक (१८ बार) एवं कम से कम तीन वर्ष ३×३=९ बार किया जाता है। इस व्रत में आगे कहे गए मंत्रों की क्रम से जाप्य करना चाहिए एवं 'नवग्रह पूजा विधान' से एक-एक पूजाएँ करना चाहिए। व्रत पूर्ण होने पर यथाशक्ति उद्यापन करना चाहिए।

व्रत की जाप्य–**ॐ ह्रीं सर्वग्रहारिष्टनिवारक-श्रीनवतीर्थंकरेभ्यो नमः।**

प्रत्येक व्रत के पृथक्-पृथक् मंत्र—

१. **ॐ ह्रीं सूर्यग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीपद्मप्रभजिनेन्द्राय नमः।**
२. **ॐ ह्रीं सोमग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः।**
३. **ॐ ह्रीं मंगलग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्राय नमः।**
४. **ॐ ह्रीं बुधग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीमल्लिनाथजिनेन्द्राय नमः।**
५. **ॐ ह्रीं गुरुग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीमहावीरजिनेन्द्राय नमः।**
६. **ॐ ह्रीं शुक्रग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीपुष्पदंतनाथजिनेन्द्राय नमः।**
७. **ॐ ह्रीं शनिग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीमुनिसुव्रतनाथजिनेन्द्राय नमः।**
८. **ॐ ह्रीं राहुग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय नमः।**
९. **ॐ ह्रीं केतुग्रहारिष्टशांतिकराय श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्राय नमः।**

इस प्रकार जो इन नवग्रहों की शांति के लिए जाप्य, पूजा एवं व्रत आदि करते हैं वे निश्चित ही अपने सर्व ग्रहों को अनुकूल, सिद्धिकारक बनाकर संसार के सर्व सुखों को प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष को भी प्राप्त करेंगे।

(२४) तत्त्वार्थसूत्र व्रत

तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ जिसका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है, इसमें दश अध्याय हैं। दिगम्बर जैन परंपरा में संस्कृत भाषा में यह पहला सूत्रग्रंथ है। एक-एक अध्याय को आश्रित करके इसके १० व्रत किये जाते हैं। व्रत में भगवान का पंचामृत अभिषेक करके पूजन करें। सरस्वती प्रतिमा या श्रुतस्कंध यंत्र या सरस्वतीयंत्र का पंचामृत अभिषेक करके तत्त्वार्थ सूत्र की पूजा करें।

समुच्चय मंत्र–**ॐ ह्रीं दशाध्यायसहिततत्त्वार्थसूत्रमहाशास्त्रेभ्यो नमः।**

प्रत्येक व्रत के पृथक्-पृथक् मंत्र–

१. **ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रप्रथमाध्यायस्य सम्यग्दर्शनादित्रयस्त्रिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।**
२. **ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रद्वितीयाध्यायस्य औपशमिकादित्रिपंचाशत्सूत्रेभ्यो नमः।**
३. **ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रतृतीयाध्यायस्य रत्नशर्कराादि-एकोनचत्वारिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।**

४. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रचतुर्थाध्यायस्य देवाश्चतुर्णिकायादि–द्विचत्वारिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।

५. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रपंचमाध्यायस्य अजीवकायादि–द्विचत्वारिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।

६. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रषष्ठाध्यायस्य कायवाङ्मनःकर्मयोग–इत्यादि–सप्तविंशतिसूत्रेभ्यो नमः।

७. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रसप्तमाध्यायस्य हिंसानृतस्तेयादि–एकोनचत्वारिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।

८. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्राष्टमाध्यायस्य मिथ्यादर्शनाविरत्यादि-षड्विंशतिसूत्रेभ्यो नमः।

९. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रनवमाध्यायस्य आस्रवनिरोधःसंवर–आदिसप्तचत्वारिंशत्सूत्रेभ्यो नमः।

१०. ॐ ह्रीं तत्त्वार्थसूत्रदशमाध्यायस्य मोहक्षयाज्ज्ञानादि–नवसूत्रेभ्यो नमः।

इस व्रत को पूर्ण कर उद्यापन में तत्त्वार्थसूत्र की पूजा व श्रुतस्कंध विधान करके तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ छपाकर ज्ञानदान में चतुर्विध संघ को प्रदान करें। दश–दश उपकरणादि मंदिर जी में भेंट देवें। यथाशक्ति व्रत पूर्णकर श्रुतज्ञान की वृद्धि करके केवलज्ञान को प्राप्त करने में अपनी आत्मा को सफल बनावें।

(२५) चारित्रमाला व्रत

(शरदपूर्णिमा व्रत)

(जैनेन्द्र व्रत कथा संग्रह मराठी पुस्तक के आधार से)

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा—शरत् पूर्णिमा को उपवास करके यह व्रत किया जाता है। इस व्रत में पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करें। पुनः अष्टदल कमल बनाकर उसके चारों तरफ चौकोन मंडल बनावें। आठ दिशा में आठ मंगल कुंभ स्थापित करके मध्य में एक बड़ा मंगल कुंभ स्थापित करें। ये सभी कुंभ—कलश पंचवर्णी सूत्र से वेष्टित होवें। मध्य में सिंहासन पर पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा विराजमान करके पंचपरमेष्ठी विधान करना चाहिए।

इस व्रत में चार बार पंचामृत अभिषेक करने का विधान है। प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अर्द्धरात्रि में, ऐसे चार महाभिषेक करना है।

व्रत मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः स्वाहा।**

इस मंत्र का १०८ बार सुगंधित पुष्पों से जाप्य करके पुनः णमोकार मंत्र की एक माला जपें।

इस दिवस ब्रह्मचर्य व्रत पालन कर रात्रि जागरण आदि करके धर्माराधना करें। यह व्रत २७ वर्ष करना उत्कृष्ट है, १६ वर्ष मध्यम है और कम से कम सात वर्ष करना जघन्य है। यदि उपवास की शक्ति नहीं है तो एक बार शुद्ध भोजन करके भी व्रत कर सकते हैं।

व्रत की दूसरी विधि इस प्रकार है—शरत् पूर्णिमा के दिन व्रत करके चन्द्रप्रभ भगवान की पूजा करके रात्रि में श्री चंद्रप्रभ प्रतिमा का दूध से महाभिषेक करना चाहिए। उसका मंत्र निम्न प्रकार है—

ॐ ह्रीं अर्हं विजययक्ष-ज्वालामालिनीयक्षीसहिताय श्रीचन्द्रप्रभतीर्थंकराय नमः।

इस व्रत के प्रभाव से पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कीर्ति फैलती है। चारित्र दिन-प्रतिदिन उज्ज्वल होता जाता है। इसके प्रभाव से समस्त लौकिक सुख प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष सुख प्राप्त होता है। संसार में रहते हुए पुत्र, पौत्र, सुख, संतति और धन-सम्पत्ति की वृद्धि होती रहती है। अतएव यह व्रत चारित्र की पूर्ति करके नियम से परमात्मपद को प्राप्त कराने वाला है।

विशेष—इनमें से एक व्रत भी कर सकते हैं अथवा दोनों व्रत करके भी पुण्योपार्जन कर सकते हैं।

(२६) लोकमंगल व्रत

आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी के दिन उपवास करके यह व्रत किया जाता है। पुनः श्रावण कृ. ४, श्रावण शु. ४, भाद्रपद कृ. ४, भाद्रपद शु. ४, आश्विन कृ. ४, आश्विन शु. ४, कार्तिक कृ. ४ और कार्तिक शु. ४, ऐसी नौ चतुर्थी को यह व्रत करना है। इस व्रत में तृतीया और पंचमी को एकाशन एवं चतुर्थी को उपवास यह उत्तम विधि है और मात्र चतुर्थी को एकाशन यह जघन्य विधि है।

व्रत के दिन मंदिर में चौबीस तीर्थंकर की प्रतिमा का या किन्हीं भी भगवान की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करके, चौबीसी समुच्चय पूजा करें पुनः एक चौकी पर चार स्वस्तिक बनाकर उन पर चार पान रखें। पुनः निम्न मंत्रों का उच्चारण कर उन स्वस्तिक पर चार पुंज चढ़ावें, फल-पुष्पादि चढ़ावें।

"चत्तारिमंगलं—अरिहंत मंगलं" बोलकर एक स्वस्तिक पर एक पुंज रखें। "सिद्धमंगलं" बोलकर दूसरा पुंज, 'साहू मंगलं' बोलकर तीसरा पुंज एवं "केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं" बोलकर चौथा पुंज रखें।

संसार में अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म ये चार ही मंगल हैं—मंगलस्वरूप हैं।

पुनः इसी मंत्र की एक माला जपें।

मंत्र—**चत्तारिमंगलं-अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।** (सुगंधित पुष्पों से १०८ बार महामंत्र जपें) पुनः

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं चतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः स्वाहा। (इस मंत्र का भी १०८ बार जाप्य करें)

व्रत के दिन तीर्थंकर भगवान की पूजा, शास्त्र पूजा, गुरुपूजा आदि करके कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को यह व्रत पूर्णकर यथाशक्ति उद्यापन करें। चार-चार उपकरण मंदिर में रखें तथा चौबीस तीर्थंकर विधान करके चतुर्विध संघ को चार प्रकार के दान आदि देकर चार तीर्थों की यात्रा करके व्रत को पूर्ण करें।

(२७) अक्षय निधि व्रत

अक्षयनिधिनियमस्तु श्रावणशुक्ला दशमी भाद्रपदशुक्ला तत्कृष्णा चेति दशमीत्रयं पञ्चवर्षे यावत् व्रतं कार्यम्; दशमीहानौ तु नवम्यां वृद्धौ तु यस्मिन् दिने पूर्णा दशमी तस्मिन्नेव दिने व्रतं कार्यम्; वृद्धिगततिथौ सोदयप्रमाणेऽपि व्रतं न कार्यम्।

अर्थ—अक्षय निधि व्रत श्रावण शुक्ला दशमी, भाद्रपद कृष्णा दशमी, भाद्रपद शुक्ला दशमी, इस प्रकार तीन दशमियों को किया जाता है। यह व्रत पाँच वर्ष तक करना होता है। दशमी तिथि की हानि होने पर नवमी को व्रत और दशमी तिथि की वृद्धि होने पर जिस दिन पूर्ण दशमी हो उस दिन व्रत किया जाता है। वृद्धिंगत तिथि छः घटी से अधिक हो तो भी दूसरे दिन व्रत करने का विधान नहीं है। यह व्रत वर्ष में तीन दिन से अधिक नहीं किया जाता है, तिथि वृद्धि होने पर भी एक दिन अधिक करने का नियम नहीं है।

विवेचन—अक्षयनिधि व्रत श्रावण सुदी दशमी, भादों वदी दशमी और भादों सुदी दशमी इन तीनों दशमी तिथियों को वर्ष में एक बार किया जाता है। इस व्रत का दूसरा नाम अक्षयफल दशमी व्रत भी है। अक्षयनिधि व्रत करने वाले को दशमी के दिन प्रोषध करना चाहिए। गृहारंभ छोड़कर श्रीजिन-मंदिर में जाकर भगवान आदिनाथ का अभिषेक और पूजन करना चाहिए। **'ॐ ह्रीं नमो ऋषभाय'** इस मंत्र का जाप उपवास के दिन १००८ करना चाहिए। रात्रि में जागरण, शक्ति न होने पर अल्प निद्रा ली जाती है। धर्मध्यान व्रत के दिन विशेषरूप से किया जाता है। शीलव्रत श्रावण सुदी नवमी से लेकर भादों सुदी एकादशी तक इस व्रत के धारी को पालना चाहिए।

(२८) ज्येष्ठ जिनवर व्रत

ज्येष्ठकृष्णपक्षे प्रतिपदि ज्येष्ठशुक्ले प्रतिपदि चोपवासः, आषाढकृष्णस्य प्रतिपति चोपवासः, एवमुपवासत्रयं करणीयम्, ज्येष्ठमासस्यावशेषदिवसेष्वेकाशनं करणीयम्, एतद्व्रतं ज्येष्ठजिनवरव्रतं भवति। ज्येष्ठप्रति-पदामारभ्याषाढकृष्णाप्रतिपत्-पर्यन्तं भवति।

अर्थ—ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा, ज्येष्ठशुक्ला प्रतिपदा और आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा, इन तीनों तिथियों में तीन उपवास करने चाहिए। ज्येष्ठ मास के शेष दिनों में एकाशन करना होता है। इस व्रत का नाम ज्येष्ठ जिनवर व्रत है। यह ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा से आरंभ होता है और आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा को समाप्त होता है।

विवेचन—ज्येष्ठजिनवर व्रत ज्येष्ठ महीने में किया जाता है। यह व्रत ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा से प्रारंभ होता है और आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा को समाप्त होता है। इसमें प्रथम ज्येष्ठवदी प्रतिपदा को प्रोषध किया जाता है, पश्चात् कृष्ण पक्ष के शेष १४ दिन एकाशन करते हैं। पुनः ज्येष्ठ सुदी प्रतिपदा को उपवास और शेष १४ दिन एकाशन या आषाढ़ वदी प्रतिपदा को उपवास कर व्रत की समाप्ति कर दी जाती है।

ज्येष्ठ जिनवर व्रत में मिट्टी के पाँच कलशों से प्रतिदिन भगवान आदिनाथ का अभिषेक करना चाहिए। '**ॐ ह्रीं श्रीज्येष्ठजिनाधिपतये नमः कलशस्थापनं करोमि**' इस मंत्र को पढ़कर कलशों की स्थापना की जाती है। पाँच कलशों में से चार कलशों द्वारा अभिषेक स्थापन के समय ही किया जाता है और एक कलश से जयमाल पढ़ने के अनन्तर अभिषेक होता है। इस व्रत में ज्येष्ठ जिनवर की पूजा की जाती है। '**ॐ ह्रीं श्रीऋषभजिनेन्द्राय नमः**' इस मंत्र का जाप करना होता है। ज्येष्ठ मासभर तीनों समय सामायिक करना, ब्रह्मचर्य का पालन एवं शुद्ध और अल्प भोजन करना आवश्यक है।

(२९) सर्वार्थसिद्धि व्रत

कार्तिक सुदी अष्टमी से लगातार आठ दिन उपवास किये जाते हैं तथा कार्तिक सुदी सप्तमी का एकाशन कर मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा को पुनः एकाशन करने का विधान है। इस व्रत में लगातार आठ दिन तक उपवास करना चाहिए। व्रत के दिनों में '**श्रीसिद्धाय नमः**' मंत्र का जाप किया जाता है।

(३०) धर्मचक्र व्रत

धर्मचक्र व्रत २२ दिनों में पूर्ण होता है। इसमें १६ उपवास और ६ पारणाएँ सम्पन्न होती हैं। प्रथम उपवास, पारणा, पश्चात् दो उपवास पारणा, अनन्तर तीन उपवास पारणा, तत्पश्चात् चार उपवास पारणा, पश्चात् पाँच उपवास पारणा एवं अन्त में एक उपवास और पारणा की जाती है। धर्मचक्र व्रत के दिनों में '**ॐ ह्रीं अरिहंतधर्मचक्राय नमः**' मंत्र का जाप गुग्गुल और धूप देकर किया जाता है।

(३१) लघु सुख सम्पत्ति व्रत

इस व्रत में १२० उपवास किये जाते हैं। प्रतिपदा का एक, दो द्वितीयाओं के दो, तीन तृतीयाओं के तीन, चार चतुर्थियों के चार, पाँच पंचमियों के पाँच, छः षष्ठियों के छः, सात सप्तमियों के सात, आठ अष्टमियों के आठ, नौ नवमियों के नौ, दश दशमियों के दश, ग्यारह एकादशियों के ग्यारह, बारह द्वादशियों के बारह, तेरह त्रयोदशियों के तेरह, चौदह चतुर्दशियों के चौदह एवं पन्द्रह पूर्णमासियों के पन्द्रह इस प्रकार एक सौ बीस उपवास सम्पन्न किये जाते हैं। १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०+११+

१२+१३+१४+१५=१२० उपवास। उपवास के दिनों में श्रावक के उत्तरगुणों का पालना और शीलव्रत धारण करना आवश्यक है। इस व्रत में चौबीस तीर्थंकर का मंत्र जपें एवं चौबीसी पूजा करें।

मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हं चतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः** अथवा **ॐ ह्रीं ऋषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः।**

(३२) रत्नावली व्रत

इस व्रत में भी आश्विन शुक्ला तृतीया, पञ्चमी, अष्टमी तथा कार्तिक कृष्णा द्वितीया, पञ्चमी और अष्टमी इस प्रकार प्रत्येक महीने में छः उपवास करने चाहिए। बारह महीनों में कुल ७२ उपवास उपर्युक्त तिथियों में ही करने होते हैं। यह द्वादश मासवाली रत्नावली है। सावधिक मासिक रत्नावली व्रत नहीं होता है।

विवेचन—रत्नावली व्रत में मास गणना अमावस्या से ग्रहण की गई है। अमान्त से लेकर दूसरे अमान्त एक मास माना जाता है। व्रत का आरंभ आश्विन के अमान्त के पश्चात् किया जाता है तथा कनकावली और रत्नावली दोनों व्रतों के लिए वर्षगणना आश्विन के अमान्त से ग्रहण की जाती है। रत्नावली व्रत मासिक नहीं होता है, वार्षिक ही किया जाता है। प्रत्येक महीने में उपर्युक्त तिथियों में छः उपवास होते हैं, इस प्रकार एक वर्ष में कुल ७२ उपवास हो जाते हैं। उपवास के दिन अभिषेक, पूजन आदि कार्य पूर्ववत् ही किये जाते हैं। '**ॐ ह्रीं त्रिकालसंबंधिचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः**' इस मंत्र का जाप इस व्रत में उपवास के दिन करना चाहिए।

(३३) लब्धिविधान व्रत

भाद्रपद, माघ और चैत्र मास में शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लेकर तृतीया तक तीन दिन पर्यन्त लब्धि विधान व्रत किया जाता है। तिथि हानि होने पर एक दिन पहले से व्रत करना होता है और तिथि वृद्धि होने पर पहले वाला क्रम अर्थात् वृद्धिंगत तिथि छः घटी से अधिक हो तो एक दिन व्रत अधिक करना चाहिए।

विवेचन—भादों, माघ और चैत्र सुदी प्रतिपदा से तृतीया तक लब्धि विधान व्रत करने का नियम है। इस व्रत की धारणा पूर्णिमा को तथा पारणा चतुर्थी को करनी होती है। यदि शक्ति हो तो तीनों दिनों का अष्टमोपवास करने का विधान है। शक्ति के अभाव में प्रतिपदा को उपवास, द्वितीया को ऊनोदर एवं तृतीया को उपवास या कांजी-छाछ या माढ़भात लेना होता है। व्रत के दिनों में महावीर स्वामी की प्रतिमा का पूजन, अभिषेक किया जाता है तथा '**ॐ ह्रीं महावीरस्वामिने नमः**' मंत्र का जाप प्रतिदिन तीन बार किया जाता है। त्रिकाल सामायिक करने का भी विधान है। रात्रि जागरण तथा स्तोत्र पाठ, भजन-गान आदि भी व्रत के दिनों की रात्रियों में किये जाते हैं।

आवश्यकता पड़ने अथवा आकुलता होने पर मध्यरात्रि में अल्प निद्रा ली जा सकती है। कषाय और आरंभ परिग्रह को घटाना, विकथाओं की चर्चा का त्याग करना एवं धर्मध्यान में लीन होना आवश्यक है।

(३४) नवलब्धि व्रत

तीर्थंकर भगवन्तों को जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तब अर्हंत अवस्था में उन्हें नव केवललब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। दर्शनमोहनीय के अभाव से क्षायिकसम्यक्त्वलब्धि, चारित्रमोहनीय के अभाव से क्षायिकचारित्रलब्धि, ज्ञानावरणकर्म के नाश से केवलज्ञानलब्धि, दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शनलब्धि, अंतरायकर्म के पाँच भेदों में से क्रमशः दानान्तराय के विनाश से अनंतदानलब्धि, लाभान्तराय कर्म के क्षय से अनंतलाभलब्धि, भोगान्तराय के अभाव से अनंतभोगलब्धि, उपभोगान्तराय के नाश से अनंतउपभोगलब्धि और वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से अनंतवीर्यलब्धि ये नव केवललब्धि स्वरूप अनंतलब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। इन्हीं नवकेवललब्धियों को प्राप्त करने के लिए इस व्रत को करना है। तीर्थंकर भगवन्तों की केवलज्ञान तिथि या किसी भी तिथि को अथवा अष्टमी, चतुर्दशी आदि को इस व्रत को करना है।

उत्तम विधि में व्रत के पूर्व दिन एक बार शुद्ध भोजन करके व्रत के दिन उपवास करें पुनः पारणा के दिन भी एक भुक्ति करें। व्रत के दिन चौबीस तीर्थंकर की पूजा या अर्हंत परमेष्ठी की पूजा करें। पुनः समुच्चय जाप्य करके व्रत की एक-एक जाप्य करें। नवव्रत पूर्ण होने पर तीर्थंकर भगवन्तों की कल्याणकभूमि की वंदना करें। चौबीस तीर्थंकर विधान करें तथा शक्ति के अनुसार नव-नव उपकरण मंदिर में भेंट करें।

मध्यम विधि में व्रत के दिन एक बार अल्पाहार और जघन्यव्रत में एक बार शुद्ध भोजन—एकाशन करके व्रत करना चाहिए।

समुच्चय मंत्र—

ॐ ह्रीं अर्हं नवकेवललब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।

प्रत्येक व्रत की पृथक्-पृथक् जाप्य-

१. **ॐ ह्रीं अर्हं क्षायिकसम्यक्त्वलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**
२. **ॐ ह्रीं अर्हं क्षायिकचारित्रलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**
३. **ॐ ह्रीं अर्हं केवलज्ञानलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**
४. **ॐ ह्रीं अर्हं केवलदर्शनलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**
५. **ॐ ह्रीं अर्हं अनंतदानलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**
६. **ॐ ह्रीं अर्हं अनंतलाभलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।**

७. ॐ ह्रीं अर्हं अनंतभोगलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।

८. ॐ ह्रीं अर्हं अनंतोपभोगलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।

९. ॐ ह्रीं अर्हं अनंतवीर्यलब्धिसमन्वितार्हत्परमेष्ठिभ्यो नमः।

इस व्रत का फल अर्हंत अवस्था को प्राप्त करना है। परंपरा फल संसार के अनेक प्रकार के अभ्युदय चक्रवर्ती आदि के वैभव तथा स्वर्ग के उत्तम सुखों को प्राप्त करना है। इस व्रत के प्रभाव से दरिद्रता, रोग, शोक आदि दुःख दूर होंगे और परभव में नियम से स्वर्ग आदि के वैभव प्राप्त होंगे पुनः परंपरा से ये नव केवललब्धियाँ जहाँ प्रगट होती हैं, ऐसे परमात्मपद की प्राप्ति होगी।

(३५) नवनिधि व्रत

हस्तिनापुर में भगवान शांतिनाथ, भगवान कुंथुनाथ एवं भगवान अरनाथ ये तीन तीर्थंकर जन्मे हैं। ये तीनों ही तीर्थंकर तीन-तीन पद के धारक हुए हैं। ये ही इन तीनों तीर्थंकर भगवन्तों की एवं हस्तिनापुर तीर्थ की विशेषता है। इन तीनों तीर्थंकरों के तीन-तीन पदों की अपेक्षा यह 'नवनिधि व्रत' किया जाता है। इस व्रत के प्रभाव से नवनिधि-ऋद्धि से भंडार भरेगा। सर्व लौकिक संपत्ति के साथ-साथ अलौकिक आध्यात्मिक संपत्ति भी प्राप्त होगी।

व्रत की उत्तम विधि—आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में आष्टान्हिक पर्व में एक दिन पहले सप्तमी से पूर्णिमा तक नवदिन व्रत करना—उत्तम विधि नव उपवास करना, मध्यम में अल्पाहार और जघन्य में एकाशन—एक बार शुद्ध भोजन करना है। व्रत के दिन भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ तीर्थंकरों की समुच्चय पूजन या पृथक्-पृथक् पूजन करके उनके जीवन चरित्र को पढ़ना है।

अथवा लघु व्रत विधि—इस व्रत में लगातार ९ माह तक प्रत्येक माह में तिथि का कोई नियम न करके एक-एक व्रत कर लेना, यह सर्वजघन्य विधि है। ऐसे मात्र नव व्रत करना है।

मंत्र इस प्रकार हैं—

समुच्चय मंत्र—

ॐ ह्रीं अर्हं तीर्थंकरचक्रवर्तिकामदेवपदधारकशांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथतीर्थंकरेभ्यो नमः।

प्रत्येक व्रत के पृथक्-पृथक् मंत्र—

१. ॐ ह्रीं अर्हं षोडशतीर्थंकरपदप्राप्तश्रीशांतिनाथाय नमः।

२. ॐ ह्रीं अर्हं पंचमचक्रवर्तिपदप्राप्तश्रीशांतिनाथाय नमः।

३. ॐ ह्रीं अर्हं द्वादशकामदेवपदप्राप्तश्रीशांतिनाथाय नमः।

४. ॐ ह्रीं अर्हं सप्तदशतीर्थंकरपदप्राप्तश्रीकुंथुनाथाय नमः।

५. ॐ ह्रीं अर्हं षष्ठचक्रवर्तिपदप्राप्तश्रीकुंथुनाथाय नमः।
६. ॐ ह्रीं अर्हं त्रयोदशकामदेवपदप्राप्तश्रीकुंथुनाथाय नमः।
७. ॐ ह्रीं अर्हं अष्टादशतीर्थंकरपदप्राप्तश्रीअरनाथाय नमः।
८. ॐ ह्रीं अर्हं सप्तमचक्रवर्तिपदप्राप्तश्रीअरनाथाय नमः।
९. ॐ ह्रीं अर्हं चतुर्दशकामदेवपदप्राप्तश्रीअरनाथाय नमः।

व्रत पूर्ण करके तीर्थंकर श्री शांतिनाथ भगवान की या तीनों तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करावें। हस्तिनापुर तीर्थ और सम्मेदशिखर तीर्थ की वंदना करके श्री शांतिनाथ का सोलह दिन का महाविधान करके उद्यापन पूर्ण करें और भी अपनी शक्ति के अनुसार ९-९ उपकरण आदि मंदिर में प्रदान करें। मुनि-आर्यिका आदि गुरुओं को आहारदान, पिच्छी-कमण्डलु, शास्त्र दान देवें। इस विधि से इस 'नवनिधि व्रत' को करने वाले नियम से संसार के समस्त सुखों का अनुभव कर चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थंकर आदि पदों को प्राप्त कर अक्षय-अतीन्द्रिय मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे, यही इस व्रत का फल है।

द्वितीय प्रकार से नवनिधि व्रतविधि—इस नवनिधि व्रत में २१ उपवास किये जाते हैं। चौदह चतुर्दशियों के चौदह, नौ नवमियों के नौ, तीन तृतीयाओं के तीन एवं पाँच पञ्चमियों के पाँच उपवास किये जाते हैं। प्रत्येक उपवास के अनन्तर एकाशन करने का विधान है। इस व्रत में '**ॐ ह्रीं अक्षयनिधिप्राप्तेभ्यो जिनेन्द्रेभ्यो नमः**' मंत्र का जाप किया जाता है।

(३६) अनन्त चतुर्दशी व्रत

अनन्तव्रते तु एकादश्यामुपवासः द्वादश्यामेकभक्तं त्रयोदश्यां काञ्जिकं चतुर्दश्यामुपवास-स्तदभावे यथा शक्तिस्तथा कार्यम्। दिनहानिवृद्धौ स एव क्रमः स्मर्त्तव्यः।

अर्थ—अनन्त व्रत में भाद्रपद शुक्ला एकादशी को उपवास, द्वादशी को एकाशन, त्रयोदशी को कांजी—छाछ अथवा छाछ में जौ, बाजरा के आटे को मिलाकर महेरी—एक प्रकार की कढ़ी बनाकर लेना और चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए। यदि इस विधि के अनुसार व्रत पालन करने की शक्ति न हो तो शक्ति के अनुसार व्रत करना चाहिए। तिथि-हानि या तिथि-वृद्धि होने पर पूर्वोक्त क्रम ही अवगत करना चाहिए अर्थात् तिथि-हानि में एक दिन पहले से और तिथि- वृद्धि में एक दिन अधिक व्रत करना होता है।

विवेचन—अनन्तव्रत भादों सुदी एकादशी से आरंभ किया जाता है। प्रथम एकादशी को उपवास कर द्वादशी को एकाशन करे अर्थात् मौन सहित स्वाद रहित प्रासुक भोजन ग्रहण करे, सात प्रकार के गृहस्थों के अन्तराय का पालन करे। त्रयोदशी को जिनाभिषेक, पूजन-पाठ के पश्चात् छाछ

या छाछ में जौ, बाजरा के आटे से बनाई गई महेरी–एक प्रकार की कढ़ी का आहार ले। चतुर्दशी के दिन प्रोषध करे तथा सोना, चाँदी या रेशम-सूत का अनन्त बनाये, जिसमें चौदह गाँठ लगाये।

प्रथम गाँठ पर ऋषभनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक चौदह तीर्थंकरों के नामों का उच्चारण, दूसरी गाँठ पर सिद्धपरमेष्ठी के चौदह[1] गुणों का चिन्तन, तीसरी पर उन चौदह मुनियों का नामोच्चारण जो मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारी हुए हैं, चौथी पर अर्हन्त भगवान के चौदह देवकृत अतिशयों का चिन्तन, पाँचवीं पर जिनवाणी के चौदह पूर्वों का चिन्तन, छठवीं पर चौदह गुणस्थानों का चिन्तन, सातवीं पर चौदह मार्गणाओं का स्वरूप, आठवीं पर चौदह जीवसमासों का स्वरूप, नौवीं पर गंगादि चौदह नदियों का उच्चारण, दसवीं पर चौदह राजू प्रमाण ऊँचे लोक का स्वरूप, ग्यारहवीं पर चक्रवर्ती के चौदह रत्नों[2] का, बारहवीं पर चौदह स्वरों का, तेरहवीं पर चौदह तिथियों का एवं चौदहवीं गाँठ पर आभ्यन्तर चौदह प्रकार के परिग्रह से रहित मुनियों का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार अनन्त का निर्माण करना चाहिए।

पूजा करने की विधि यह है कि शुद्ध कोरा घड़ा लेकर उसका प्रक्षाल करना चाहिए। पश्चात् उस घड़े पर चंदन, केशर आदि सुगंधित वस्तुओं का लेप करना तथा उसके भीतर सोना, चाँदी या ताँबे के सिक्के रखकर सफेद वस्त्र से ढक देना चाहिए। घड़े पर पुष्पमालाएँ डालकर उसके ऊपर थाली प्रक्षाल करके रख देनी चाहिए। थाली में अनन्त व्रत का माड़ना और यंत्र लिखना, पश्चात् चौबीसी एवं पूर्वोक्त विधि से गाँठ दिया हुआ अनन्त विराजमान करना होता है। अनन्त का अभिषेक कर चंदनकेशर का लेप किया जाता है। पश्चात् आदिनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक चौदह भगवानों की स्थापना यंत्र पर की जाती है। अष्ट द्रव्य से पूजा करने के उपरांत **'ॐ ह्रीं अर्हन्नमः अनन्तकेवलिने नमः'** इस मंत्र को १०८ बार पढ़कर पुष्प चढ़ाना चाहिए अथवा पुष्पों से जाप करना चाहिए। पश्चात् **'ॐ झीं क्ष्वीं हं स अमृतवाहिने नमः', अनेन मंत्रेण सुरभिमुद्रां धृत्वा उत्तमगन्धोदकप्रोक्षणं कुर्यात्'** अर्थात् **'ॐ झीं क्ष्वीं हं स अमृतवाहिने नमः'** इस मंत्र को तीन बार पढ़कर सुरभि मुद्रा द्वारा सुगंधित जल से अनन्त का सिंचन करना चाहिए। अनन्तर चौदहों भगवानों की पूजा करनी चाहिए।

'ॐ ह्रीं अनन्ततीर्थंकराय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उसा नमः सर्वशांतिं तुष्टिं सौभाग्यमायुरारोग्यैश्वर्यमष्ट-सिद्धिं कुरु कुरु सर्वविघ्नविनाशनं कुरु कुरु स्वाहा' इस मंत्र से प्रत्येक भगवान की पूजा के अनन्तर अर्घ्य चढ़ाना चाहिए। **'ॐ ह्रीं हं स अनन्तकेवलीभगवान्**

---

1. तपसिद्धि, विनयसिद्धि, संयमसिद्धि, चारित्रसिद्धि, श्रुताभ्यास, निश्चयात्मक भाव, ज्ञान, बल, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व।

2. गृहपति, सेनापति, शिल्पी, पुरोहित, स्त्री, हाथी, घोड़ा, चक्र, असि (तलवार), छत्र, दण्ड, मणि, चर्म, कांकिणी। कांकिणी रत्न की विशेषता यह होती है कि इससे कठोर से कठोर वस्तु पर भी लिखा जा सकता है, इससे सूर्य के प्रकाश से भी तेज प्रकाश निकलता है।

धर्मश्रीबलायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्धिं कुरु कुरु स्वाहा' इस मंत्र को पढ़कर अनन्त पर चढ़ाये हुए पुष्पों की आशिका एवं **'ॐ ह्रीं अर्हन्नमः सर्वकर्मबंधनविमुक्ताय नमः स्वाहा'** इस मंत्र को पढ़कर शांति जल की आशिका लेनी चाहिए। इस व्रत में **'ॐ ह्रीं अर्हं हं स अनन्तकेवलिने नमः'** मंत्र का जाप करना चाहिए। पूर्णिमा को पूजन के पश्चात् अनन्त को गले या भुजा में धारण करे।

कथा—इसी जम्बूद्वीप के आर्यखण्डों में कौशल देश है। उसमें अयोध्या नगरी के पास पद्मखण्ड नाम का ग्राम था। उस ग्राम में सोमशर्मा नाम का एक अति दरिद्र ब्राह्मण अपनी सोमा नाम की स्त्री और बहुत सी पुत्रियों सहित रहता था। वह (ब्राह्मण) विद्याहीन और दरिद्र होने के कारण भिक्षा मांगकर उदर पोषण करता था, तो भी भरपेट खाने को नहीं पाता था।

तब एक दिन अपनी स्त्री की सम्मति से उसने सहकुटुम्ब प्रस्थान किया तो चलते समय मार्ग में शुभ शकुन हुए अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियाँ सन्मुख मिलीं। कुछ और आगे चला तो क्या देखता है कि हजारों नर-नारी किसी स्थान को जा रहे हैं, पूछने से विदित हुआ कि वे सब अनन्तनाथ भगवान के समवसरण में वंदना के लिए जा रहे हैं।

यह जानकर यह ब्राह्मण भी उनके पीछे हो लिया और समवसरण में गया। वहाँ प्रभु की वंदना कर तीन प्रदक्षिणा दी और नर कोठे में यथास्थान जा बैठा, जहाँ समवसरण में दिव्यध्वनि सुनकर उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई।

पश्चात् चारित्र का कथन सुनकर उसने जुआ, माँस, मद्य, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और परस्त्रीसेवन ये सात व्यसन त्याग किये। पंच उदुम्बर और तीन मकार त्याग ये अष्ट मूलगुण भी धारण किये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अतिशय लाभ इन पंच पापों का एकदेश त्यागरूप अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी ग्रहण किये। इस प्रकार सम्यक्त्व सहित बारह व्रत लिए। पश्चात् कहने लगा—

हे नाथ! मेरी दरिद्रता किस प्रकार से मिटे सो कृपा करके कहिए।

तब भगवान ने उसे अनन्त चौदस का व्रत करने को कहा। इस व्रत की विधि इस प्रकार है कि भादों सुदी ११ का उपवास कर १२ और १३ को एकाशन करे अर्थात् एकाशन से मौन सहित स्वादरहित प्रासुक भोजन करे, सात प्रकार गृहस्थों के अन्तराय पाले, पश्चात् चतुर्दशी के दिन उपवास करे तथा चारों दिन ब्रह्मचर्य रखे, भूमि पर शयन करे, व्यापार आदि गृहारंभ न करे। मोहादि रागद्वेष तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादिक कषायों को छोड़े, सोना, चाँदी या रेशम, सूत आदि का अनन्त बनाकर, इसमें प्रत्येक गाँठ पर १४ गुणों का चिन्तवन करके १४ गांठ लगाना।

प्रथम गाँठ पर ऋषभनाथ भगवान से अनन्तनाथ भगवान तक १४ तीर्थंकरों के नाम उच्चारण करे।

दूसरी गाँठ पर सिद्ध परमेष्ठी के १४ गुण चिन्तवन करे। तीसरी पर १४ मुनि जो मति, श्रुत, अवधिज्ञान युक्त हो गये हैं उनके नाम उच्चारण करे।

चौथी पर केवली भगवान के १४ अतिशय केवलज्ञान कृत स्मरण करे। पाँचवी पर जिनवाणी में जो १४ पूर्व हैं उनका चिन्तवन करे।

छठवीं पर चौदह गुणस्थानों का विचार करे। सातवीं पर चौदह मार्गणाओं का स्वरूप विचारे।

आठवीं पर १४ जीवसमासों का विचार करे, नवमीं पर गंगादि १४ नदियों का नामोच्चारण करे। दशवीं पर तीन लोक जो १४ राजू प्रमाण ऊँचा है उसका विचार करे।

ग्यारहवीं पर चक्रवर्ती के चौदह रत्नों का चिन्तवन करे। बारहवीं पर १४ स्वर (अक्षर) का चिन्तवन करे। तेरहवीं पर चौदह तिथियों का विचार करे। चौदहवीं गाँठ पर मुनि के मुख्य १४ दोष टालकर जो आहार लेते हैं, उनका विचार करे। इस प्रकार १४ गाँठ लगाकर मेरु के ऊपर स्थापित प्रतिमा के सन्मुख इस अनन्त को रखकर अभिषेक करे। अनन्त प्रभु की पूजन करे फिर नीचे लिखा मंत्र १०८ बार जपे—

मंत्र—(१) ॐ ह्रीं अर्हं हं स अनन्तकेवलिने नमः।

मंत्र—(२) ॐ नमोऽर्हते भगवते अणंताणंतसिज्झधम्मे भगवदो महाविज्जा-महाविज्जा अणंताणंतकेवलिए अणंतकेवलणाणे अणंतकेवलदंसणे अणुपुज्जवासणे अणंते अणंतागमकेवली स्वाहा।

इस प्रकार चारों दिन अभिषेक, जप और जागरण, भजन, पूजनादि करे। फिर पूनम के दिन उस अनन्त को दाहिनी भुजा पर या गले में बांधे।

पश्चात् उत्तम, मध्यम या जघन्य पात्रों में से जो समय पर मिल सकें उन्हें आहार आदि दान देकर आप पारणा करे। इस प्रकार १४ वर्ष तक करे। पश्चात् उद्यापन करे, तब १४ प्रकार के उपकरण मंदिर में देवे जैसे- शास्त्र, चमर, छत्र, चौकी आदि। चार प्रकार संघों को आमंत्रण करके धर्म की प्रभावना करे। यदि उद्यापन की शक्ति न होवे तो दूना व्रत करे।

इस प्रकार श्रीमुख से व्रत की विधि और उत्तम फल सुनकर उन ब्राह्मण ने स्त्री सहित यह व्रत लिया तथा और भी बहुत लोगों ने यह व्रत लिया।

पश्चात् नमस्कार करके वह ब्राह्मण अपने ग्राम में आया और भाव सहित १४ वर्ष व्रत को विधियुक्त पालन करके उद्यापन किया। इससे दिनोंदिन उसकी बढ़ती होने लगी। इसके साथ रहने से और भी बहुत लोग धर्म-मार्ग में लग गये क्योंकि लोग जब उसकी इस प्रकार बढ़ती देखकर उससे इसका कारण पूछते तो वह अनन्त व्रत आदि व्रतों की महिमा और जिनभाषित धर्म के स्वरूप का कथन कह सुनाता। इससे बहुत लोगों की श्रद्धा उस पर हो जाती और वे उसे गुरु मानने लगते।

इस प्रकार वह ब्राह्मण भले प्रकार सांसारिक सुखों को भोगकर अन्त में संन्यास मरण कर स्वर्ग में देव हुआ। उसकी स्त्री भी समाधि से मरकर उसी स्वर्ग में उसकी देवी हुई। वहाँ अपनी पूर्व-पर्याय का अवधि से विचारकर धर्मध्यान सेवन करके वहाँ से चये, सो वह ब्राह्मण का जीव अनन्तवीर्य नाम का राजा हुआ और ब्राह्मणी उसकी पट्टरानी हुई।

ये दोनों दीक्षा लेकर अनन्तवीर्य तो इसी भव से मोक्ष को प्राप्त हुए और श्रीमती स्त्रीलिंग छेदकर अच्युत स्वर्ग में देव हुई। वहाँ से चयकर मध्यलोक में मनुष्य भव धारण कर संयम ले मोक्ष जावेगी।

इस प्रकार एक दरिद्र ब्राह्मणी अनन्त व्रत पालकर सद्गति को पाकर उत्तमोत्तम गति को प्राप्त हुई। यदि अन्य भव्य जीव यह व्रत पालेंगे तो वे भी सद्गति पावेंगे।

(३७) रत्नत्रय व्रत

विधि—रत्नत्रय व्रत भाद्रपद, चैत्र और माघ मास में किया जाता है। इन महीनों के शुक्ल पक्ष में द्वादशी को शुद्ध भाव से स्नानादि क्रिया करके स्वच्छ श्वेत वस्त्र धारण कर जिनेन्द्र भगवान का पूजन अभिषेक करे। द्वादशी को इस व्रत की धारणा और प्रतिपदा को पारणा होती है अतः द्वादशी को एकाशन के पश्चात् चारों प्रकार के आहार का त्याग कर विकथा और कषायों का त्याग करे।

त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा को प्रोषध तथा प्रतिपदा को जिनाभिषेकादि के अनन्तर किसी अतिथि या किसी दुखित बुभूक्षित को भोजन कराकर एक बार आहार ग्रहण करे। अपने घर में ही अथवा चैत्यालय में जिनबिम्ब के निकट रत्नत्रय यंत्र की भी स्थापना करे। द्वादशी से लेकर प्रतिपदा तक पाँचों ही दिनों को विशेष रूप से धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करें। प्रतिदिन त्रैकालिक सामायिक और रत्नत्रय विधान करना चाहिए। तीनों समय व्रत की जाप्य करनी चाहिए। इस व्रत को १३ वर्ष तक पालने के उपरान्त उद्यापन कर देना चाहिए। यह व्रत की उत्कृष्ट विधि है। इतनी शक्ति न हो तो बेला करे तथा आठ वर्ष व्रत करके उद्यापन कर देना चाहिए, यह व्रत की मध्यम विधि है। यदि इस मध्यम विधि को सम्पन्न करने की भी शक्ति न हो तो त्रयोदशी और पूर्णिमा को एकाशन एवं चतुर्दशी को प्रोषध करना चाहिए, यह जघन्य विधि है। इस विधि से किए गए व्रत का तीन या पाँच वर्ष के बाद उद्यापन कर देना चाहिए। इस व्रत में ५ दिन तक शीलव्रत का पालन आवश्यक है।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः।

व्रत का फल—इस व्रत को वैश्रवण राजा ने करके स्वर्ग के, मनुष्यों के सुख को प्राप्त कर मोक्षपद प्राप्त किया और सदा के लिए जन्म-मरणादि दुखों से छुटकारा पाकर अविनाशी स्वाधीन सुखों को प्राप्त हुए इसलिए जो नर-नारी मन, वचन, काय से इस व्रत की भावना भाते हैं अर्थात् रत्नत्रय को धारण करते हैं, वे भी राजा वैश्रवण के समान स्वर्गादि मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

व्रतोद्यापन—व्रतोद्यापन में जिनमंदिर में जाकर महोत्सवपूर्वक छत्र, चमर, झारी, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा और ठोना आदि मंगल द्रव्य चढ़ावे, चन्दोवा बंधावे और कम से कम तीन शास्त्र मंदिर में पधरावे, प्रतिष्ठा करे, उद्यापन के हर्ष में विद्यादान करे। पाठशाला, छात्रावास, अनाथालय, पुस्तकालय आदि संस्थाएँ ध्रौव्य रूप से स्थापित करे और निरन्तर रत्नत्रय की भावना भाता रहे।

(३८) मुकुट सप्तमी व्रत

विधि—श्रावण शुक्ला सप्तमी को ही मुकुटसप्तमी कहा जाता है, अन्य महीने की सप्तमी का नाम मुकुट सप्तमी नहीं है। इस तिथि को व्रत करने वाले को षष्ठी तिथि को प्रातःकाल भगवान की पूजा–अभिषेक करके एकाशन करना चाहिए, पुनः मध्याह्नकालीन सामायिक के पश्चात् भगवान की प्रतिमा या गुरु के सामने जाकर संयमपूर्वक व्रत करने का संकल्प करना चाहिए। चारों प्रकार के आहार का त्याग सोलह प्रहर के लिए भोजन के समय ही कर देना चाहिए। सप्तमी को प्रातःकाल सामायिक करने के पश्चात् नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर पूजा–पाठ, स्वाध्याय, अभिषेक आदि क्रियाओं को करना चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ और मुनिसुव्रतनाथ की पूजा करने के उपरान्त जयमाला (फूलमाला) को अपने गले में धारण करना चाहिए। मध्याह्न में सामायिक एवं अपराह्न में चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र का पाठ करना चाहिए, तीनों कालों में जाप्य करना चाहिए, रात्रि में भी एक बार जाप्य करना चाहिए। इस प्रकार सात वर्षों तक मुकुटसप्तमी व्रत किया जाता है, पश्चात् उद्यापन करना चाहिए।

व्रत की जाप्य— (१) **ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथाय नमः। एवं**

ॐ ह्रीं श्रीमुनिसुव्रतनाथाय नमः।

व्रत का फल—मुकुटशेखरी एवं विधिशेखरी नामक दो कन्याओं ने इस व्रत का विधिवत् पालन किया और समाधिमरण कर सोलहवें स्वर्ग में स्त्रीलिंग छेदकर इन्द्र और प्रतीन्द्र हुईं, वहाँ से चयकर कर्म काटकर मोक्ष जावेंगे। जो भव्य जीव भाव सहित यह व्रत धारण करेंगे वे भी इसी प्रकार सुख को प्राप्त करेंगे।

व्रतोद्यापन—सात वर्ष तक विधिपूर्वक व्रत करने के बाद उद्यापन करके सात–सात उपकरण जिनालय में भेंट करे। शक्ति न होने पर दूना व्रत करे।

(३९) अक्षय दशमी व्रत

विधि—श्रावण सुदी दशमी को प्रोषध करे श्री जिनमंदिर में जाकर भाव सहित श्री ऋषभदेव भगवान का पूजन विधान करे, पंचामृत अभिषेक करे और व्रत की जाप्य करे। उस दिवस को धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे। दस वर्ष तक यह व्रत करें।

व्रत की जाप्य—ॐ नमो ऋषभाय ।

व्रत का फल—इस व्रत को शुभंकर नामक मुनिराज से राजा मेघनाद एवं रानी पृथ्वीदेवी ने ग्रहण किया। व्रत के माहात्म्य से तथा पूर्व पाप के क्षय होने से राजा को सात पुत्र और पांच कन्याएं हुई। मनुष्योचित सुखों को भोगने के पश्चात् आगे वे समाधिमरण कर पहले स्वर्ग में देव हुए और वहां से चयकर मनुष्य भव लेकर मोक्ष प्राप्त किया। इस व्रत का पालन करने वालों को उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में दस–दस उपकरण मंदिर जी में भेंट करे, दस शास्त्र लिखकर साधर्मियों को भेंट करे और भी दीनदुखी जीवों पर दयादान करे, विद्यादान देवे, अनाथों की रक्षा करे जिससे शीघ्र ही पाप का नाश हो, सातिशय पुण्य लाभ हो। शक्ति न होने पर दूना व्रत करे।

(४०) मंगल त्रयोदशी (धनतेरस) व्रत

विधि—कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन इस व्रत को करने वाले को एक भुक्ति (एकाशन) करना चाहिए। त्रयोदशी की नित्यक्रिया से निवृत्त होकर नवधौत वस्त्र पहनकर मंदिरजी में जाकर ईर्यापथशुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की भक्ति से वन्दना करे, वेदी की तीन प्रदक्षिणा देवे। वेदी पर श्री विमलनाथ भगवान की (पाताल यक्ष एवं वैरोटी यक्षी सहित) प्रतिमा की स्थापना कर उनका पंचामृत अभिषेक करे। एक पाटे पर क्रम से १३ पान रखकर उस पर अक्षत, फल, फूल रखकर श्री आदिनाथ से विमलनाथ तक १३ तीर्थंकरों की अष्टद्रव्य से अर्चना करे। श्रुत और गणधर की पूजा कर यक्ष–यक्षी की अर्चना करे। क्षेत्रपाल को तैलाभिषेक करके सिंदूर लगावे। उसके आगे पांच पान रखकर इस पर अक्षत, फल, फूल रखकर गंध, पुष्पमाला, वस्त्र, आधा गोला, गुड़, लड्डू आदि अर्पण करे। अष्टक, स्तोत्र, जयमाला क्रम से बोलकर यथाविधि अर्चन करे। तेल की ५–५ पूरनपूरी के पाँच नैवेद्य चढ़ावे। १०८ पुष्पों से जाप्य करे तथा णमोकार मंत्र की १०८ बार जाप्य करके इस व्रत की कथा पढ़े। एक थाली में तेरह पान रखकर उस पर अष्ट द्रव्य, श्रीफल रखे और महार्घ्य से जिनालय की तीन प्रदक्षिणा देकर मंगल आरती करे।

उपवास करके ब्रह्मचर्यपूर्वक धर्मध्यान में समय बितावे, सत्पात्र को आहारदान देवे। यदि उपवास करने की शक्ति न हो तो तीन वस्तु का नियम लेकर एकाशन करे, इस प्रकार १३ मास तक उस तिथि में पूजा करके उसका उद्यापन करे।

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं विमलनाथतीर्थंकराय पातालयक्ष–वैरोटीयक्षीसहिताय नमः स्वाहा।

व्रत का फल—दरिद्रता से पीड़ित गुणपाल नामक श्रावक ने सप्तऋद्धि सम्पन्न एक मुनीश्वर से इस व्रत को ग्रहण कर विधिवत् इसका पालन किया जिसके प्रभाव से उसे उत्तम सौख्य प्राप्त हुआ।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में श्री विमलनाथ तीर्थंकर विधान महाभिषेक से करे, चतुःसंघ को चतुर्विध दान देवे। मन्दिर में १३–१३ उपकरण चढ़ावे।

(४१) अक्षय तृतीया व्रत

विधि—यह व्रत वैशाख सुदी तीज से प्रारम्भ कर वैशाख सुदी सप्तमी तक किया जाता है। पांचों दिन शुद्धतापूर्वक एकाशन करे या २ उपवास और ३ एकाशन करे। व्रत के दिन प्रातःकाल नैमित्तिक क्रियाओं से निवृत्त होकर मंदिर जी में जाकर भगवान की शुद्ध भावों से स्तुति करे, पश्चात् भगवान आदिनाथ की प्रतिमा को सिंहासन पर विराजमान कर कलशाभिषेक करे। नित्यपूजा, आदिनाथ पूजा एवं पंचकल्याणक मण्डल जी मांडकर मण्डल की पूजा करे। तीनों काल मंत्र की जाप्य व सामायिक करे। प्रातः सायं णमोकार मंत्र की जाप्य करे।

व्रत के समय गृहादि समस्त क्रियाओं से दूर रहकर स्वाध्याय, भजन, कीर्तन आदि में समय यापन करे, रात्रि में जागरण करे, दिनभर जिनचैत्यालय में रहे, पाँचों दिन ब्रह्मचर्य से रहे, पाँचों पापों का अणुव्रत रूप से त्याग करे, कषायों का शमन करे। प्रतिदिन चतुर्विध संघ को चारों प्रकार का दान देवे, आहार कराकर स्वयं पारणा करे। अक्षय तृतीया व्रत की कथा सुने व सुनावे। इस प्रकार विधिपूर्वक ५ वर्ष तक व्रत को करके उद्यापन करे।

विशेष—(व्रत के समय यदि स्त्री रजस्वला हो जावे तो प्रतिदिन एक रस छोड़कर पारणा करे)

व्रत की जाप्य—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐ अर्हं आदिनाथतीर्थंकराय गोमुखयक्ष–चक्रेश्वरीयक्षी–सहिताय नमः स्वाहा।

व्रत का फल—सुप्रभ नामक चारण मुनि के मुख से पृथ्वी देवी ने इस व्रत को ग्रहण किया। व्रत के प्रभाव से उसने ३२ पुत्र और ३२ कन्याओं को जन्म दिया तथा बहुत ऐश्वर्य से समृद्ध होकर बहुत काल तक राज्यसुख भोगा। आगे उन दम्पत्ति ने वैराग्य भाव से जिनदीक्षा धारण कर तपोबल से मोक्षसुख प्राप्त किया। यह व्रत अक्षय सुख का प्रदाता है।

व्रतोद्यापन—उद्यापन में भगवान आदिनाथ की प्रतिमा मंदिरजी में स्थापित करे तथा चार संघ को चार प्रकार का दान देवे। चमर, छत्र आदि मंदिर जी में भेंट चढ़ावे।

(४२) संपत् शुक्रवार व्रत (पद्मावती व्रत)

विधि—श्रावण महीने में प्रत्येक शुक्रवार को उपवास अथवा एकाशन करे। मंदिर में जाकर पार्श्वनाथ भगवान का धरणेन्द्र–पद्मावती सहित पंचामृत अभिषेक पूजा करके श्री पद्मावती देवी की

मूर्ति को दूसरे एक ऊँचे आसन पर विराजमान करे। नाना प्रकार के वस्त्रालंकारों से उनका शृंगार करे। दीप, धूप, पुष्पहार व केले के खम्भ से मंडप को सजावे। हल्दी, कुमकुम, भीगे चने आदि लेकर पंचोपचार पूजा करे। बाद में पद्मावती महादेवी को मणिमंगल सूत्र आदि आभूषण पहनावे। पुनः आटे के दो दीपक सहित जयमाला बोलकर तीन प्रदक्षिणा देकर पूर्णार्घ्य चढ़ावे। महादेवी की मंगल आरती करके शांतिभक्तिपूर्वक विसर्जन करे। शुक्रवार की व्रतकथा सुने। श्री पद्मावती देवी के सहस्रनाम के प्रत्येक बीजाक्षर मंत्रों को बोलते हुए एक–एक चुटकी कुमकुम या लवंग, पुष्प चढ़ावे, प्रत्येक शतक में अर्घ्य चढ़ावे, गंधोदक सिंचन करे। व्रत की जाप्य लाल कनेर के फूलों से करे। यदि कनेर उपलब्ध न हो तो गुलाब आदि के पुष्पों से जाप्य करे। आखिरी शुक्रवार को ऊपर कही सारी क्रिया परिपूर्ण करके पद्मावती माता को साड़ी पहनावे, षोडश अलंकार से शृंगार करावे और नीचे लिखी सामग्री से गोद भरे–

सामग्री—पांच हरी चूड़ियां, पांच हल्दी की गांठ, पांच खोपरा, पांच चोपड़े, पांच नीबू, पांच केले, पांच छुहारे, पांच मखाना, ५ बताशा, उत्तम नारियल तथा चोली का वस्त्र लेकर गेहूं या चावल से पांच सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा गोद भरावे। पुनः कुटुम्बीजनों को भीगे चने, हल्दी, कुमकुम, मखाना, बताशा, गुड़, खोपरा, पान, सुपारी इत्यादि गोद का प्रसाद बोलकर बांटे। सौभाग्यवती स्त्रियों को हल्दी, कुमकुम लगावे व मंगल गीत गाते हुए घर वापस आवे। इस प्रकार ५ वर्ष तक व्रत करके उद्यापन करे।

व्रत की जाप्य—ॐ आं क्रों ह्रीं ऐं क्लीं ह्र सौं श्री पद्मावतीदेव्यै नमः मम सर्वविघ्नोपशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

अथवा **ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं श्रीपद्मावतीदेव्यै नमः मम ईप्सितं कुरु कुरु स्वाहा।**

व्रत का फल—इस व्रत को भट्टारक जी से ग्रहण कर श्रुणुयात नामक दरिद्र व्यापारी की पत्नी रुक्मावती देवी ने इसका विधिवत् पालन किया और अखण्ड सौभाग्य के साथ, धन–धान्यादि की वृद्धि, लक्ष्मी की प्राप्ति, आरोग्यता के साथ–साथ कीर्ति की प्राप्ति की। इस व्रत की महिमा अपरम्पार है।

(४३) नित्य सौभाग्य व्रत (सप्तज्योति कुंकुम व्रत)

(जैनेन्द्र व्रत कथा संग्रह मराठी पुस्तक के आधार से)

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को उपवास करके मंदिर में जाकर चौबीस तीर्थंकर प्रतिमा का महाभिषेक–पूजा आदि करके, शास्त्र व गुरु की भी पूजा करें पुनः यक्ष–यक्षी आदि की पूजा करें। पुनः चौबीस तीर्थंकर का जाप्य करें–

१. मंत्र—**ॐ ह्रीं यक्ष-यक्षीसहितेभ्यः श्री वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः।**

(१०८ पुष्पों से जाप करें)

२. मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः। (१०८ पुष्पों से जाप्य करें)**

पुनः महा अर्घ्य थाल में लेकर सात बत्तियों का दीपक उसमें रखकर वेदी की तीन प्रदक्षिणा देवें। पुनः सात दीपक लेकर क्रम से निम्नलिखित मंत्र बोलते हुए एक-एक दीपक का अवतरण करें।

१. आत्मज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

२. आचारज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

३. पुरुषज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

४. पुत्रज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

५. पुण्यज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

६. सहोदरज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

७. छत्रज्योतिः नित्यं अस्माकं भवतु स्वाहा।

इस प्रकार सात दीपकों से अवतरण विधि सम्पन्न करें। अनंतर शांति पाठ विसर्जन करके महिलाएँ सात सुवासिनी स्त्रियों को कुंकुम लगावें।

यह पूजा विधि आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से शुरू होकर पूर्णिमा तक पुनः आगे से करते हुए कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक करना है।

इस मध्य प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास या जघन्य विधि एकाशन करना है तथा प्रत्येक दिन पूजा विधि पूरी करें तथा भोजन में शुद्ध भोजन दिन में एक बार अथवा दो बार लेवें, औषधि, दूध, आदि भी दिन में लेवें, रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग रखें।

ऐसे यह व्रत पूर्ण कर यथाशक्ति उद्यापन सम्पन्न करें। चौबीसी प्रतिमा बनवाकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करावें तथा चौबीस तीर्थंकर की जन्मभूमि व निर्वाणभूमि की वंदना करें। कम से कम एक जन्मभूमि व एक निर्वाणभूमि की वंदना अवश्य करें।

व्रत की कथा—राजगृही के महाराजा श्रेणिक के राजश्रेष्ठी जिनदत्त, उनकी पत्नी जिनदत्ता पुत्र वृषभदत्त और पुत्रवधू सुमति, इन चारों ने इस व्रत को किया। इसी मध्य जिनदत्त पर दुष्टों ने भयंकर उपसर्ग किया। व्रत के प्रभाव से उपसर्ग दूर हुआ। पुनः एक दिन सुमति की पुत्री को सांप ने काट लिया। इधर व्रत की पूजाविधि चल रही थी, तभी पुत्री के ऊपर गंधोदक छिड़कते ही विष उतर गया।

इसी मध्य एक दिन सुमति के भाई पर अकस्मात् भयंकर उपसर्ग हुआ तभी यक्ष देवता ने प्रकट होकर उपसर्ग दूर कर दिया। इस प्रकार पूजा विधि का फल प्रत्यक्ष दिखने पर सभी भक्तों का इस व्रत पर विशेष विश्वास हो गया।

अनन्तर सुमति ने इस व्रत के प्रभाव से स्वर्ग सुख प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष प्राप्त किया है।

(४४) रक्षाबन्धन व्रत

हस्तिनापुर में आज से लगभग १२ लाख वर्ष पूर्व श्री अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ था। श्री विष्णुकुमार महामुनि ने विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से उज्जयिनी से आकर बलि आदि मंत्रियों के द्वारा किये गये उपसर्ग को दूर कर मुनियों की रक्षा की थी, वह तिथि 'श्रावण शुक्ला पूर्णिमा' थी, तभी से आज तक यह तिथि 'रक्षाबंधन' पर्व के नाम से सारे भारत में विख्यात है। भले ही आज यह पर्व मात्र भाई-बहन के पर्व के रूप में प्रसिद्ध है, फिर भी गुरुओं की रक्षा ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

व्रत की विधि— श्रावण शु. १३ से पूर्णिमा तक ३ दिन यह व्रत करना चाहिए। त्रयोदशी को एकाशन करके चतुर्दशी को उपवास करें। व्रत के दिन मंदिर में पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करके, यदि श्री अकंपनाचार्य और विष्णुकुमार मुनियों की प्रतिमाएं हों, तो उनका अभिषेक करें या युगल मुनियों के चरणों का अभिषेक करके पंचपरमेष्ठी की पूजा, श्री अकंपनाचार्य व विष्णुकुमार मुनि की पूजा करें। निम्न जाप्य करें—

ॐ ह्रीं श्री-अकंपनाचार्यादि-सप्तशतमुनिभ्यो नमः।

अथवा

ॐ ह्रीं अर्हं महोपसर्गविजयि-श्री-अकंपनाचार्यादिसप्तशतमुनिभ्यो नमः।

व्रतों के दिन रक्षाबंधन की एवं श्री विष्णुकुमार मुनि की कथा अवश्य पढ़ें। पुनः श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन हस्तिनापुर आकर श्री अकंपनाचार्य और श्री विष्णुकुमार महामुनियों की पूजा करके वहाँ पर विराजमान साधुओं को आहारदान देकर स्वयं खीर आदि का भोजन लेकर एकाशन करें अर्थात् एक बार भोजन करें एवं धर्मध्वज स्तंभ में रक्षासूत्र बांधें तथा साधर्मियों को धर्म की एवं धर्मायतन की रक्षा हेतु रक्षासूत्र बांधें। उपर्युक्त दो में से एक जाप्य करके— **ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार महामुनये नमः** मंत्र की भी जाप्य करें। पुनः भाद्रपद कृ. प्रतिपदा को व्रत पूर्ण करें। इस प्रकार यह व्रत सात वर्ष तक करके यथाशक्ति उद्यापन करें। इन मुनियों के चरण बनवाकर या प्रतिमा बनवाकर विधिवत् प्रतिष्ठा कराकर मंदिर में विराजमान करें।

इस व्रत के प्रभाव से अनेक प्रकार की दुर्घटना,रेल, मोटर आदि के एक्सीडेंट आदि का निवारण होगा, अकाल मृत्यु टलेगी। अनेक प्रकार के कष्ट दूर होंगे और सब प्रकार से सुख, शांति, यश, संपत्ति, संतति आदि की वृद्धि होगी।

(४५) सप्तर्षि व्रत

व्रत विधि—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से श्रावण कृष्णा पंचमी तक सात दिन यह व्रत करना चाहिए। इन व्रतों के दिन सप्तर्षि मुनियों की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करके उन्हीं की पूजा करें।

मंत्र की एक समुच्चय जाप्य तथा प्रत्येक दिन की प्रत्येक पृथक्–पृथक् जाप्य करें। सप्तर्षि की कथा पढ़ें। इस व्रत को लगातार सात वर्ष तक करना चाहिए।

आज से लगभग ९ लाख वर्ष पूर्व श्री रामचन्द्र के समय मथुरानगरी के उद्यान में सात महर्षि महामुनि पधारे थे। वहाँ वर्षायोग स्थापित किया था, उनके शरीर से स्पर्शित हवा के प्रभाव से वहाँ पर दैवी प्रकोप—महामारी रोग कष्ट दूर हुआ था। तभी से लेकर आज तक इन सप्तर्षि मुनियों की प्रतिमाएँ मंदिरों में विराजमान कराने की परम्परा चली आ रही है और इनका अभिषेक–भक्ति आदि पूजा की जाती है।

समुच्चय मंत्र—**ॐ ह्रीं अर्हं सुरमन्यु-श्रीमन्यु-श्रीनिचय-सर्वसुन्दर-जयवान-विनयलालस-जयमित्रनाम–सप्तमहर्षिभ्यो नमः।**

प्रत्येक दिन के प्रत्येक पृथक्–पृथक् मंत्र—

१. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीसुरमन्युमहर्षये नमः।
२. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीश्रीमन्युमहर्षये नमः।
३. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीनिचयमहर्षये नमः।
४. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीसर्वसुंदरमहर्षये नमः।
५. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीजयवानमहर्षये नमः।
६. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीविनयलालसमहर्षये नमः।
७. ॐ ह्रीं अर्हं श्रीजयमित्रमहर्षये नमः।

इन सप्तर्षियों की कथा पढ़ें। सात वर्ष तक यह व्रत करके उद्यापन में सप्तर्षियों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराकर मंदिरों में, गृह चैत्यालयों में विराजमान करें। यथाशक्ति मुनि–आर्यिका आदि को आहारदान आदि देकर दीन–दुखियों को भी करुणादान, औषधिदान आदि देवें।

इस व्रत को लगातार सात वर्ष करना चाहिए। इस व्रत के प्रभाव से अकालमृत्यु को दूर कर परम्परा से मृत्युंजयपद मोक्षपद भी प्राप्त किया जा सकता है। जीवन में आने वाले अनेक संकट दूर होंगे। अनेक प्रकार के एक्सीडेंट, रोग, शोक, संकट दूर होंगे। इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

यदि आप मथुरा तीर्थ नहीं जा सकते हैं, तो अन्य किसी भी तीर्थ की वंदना करके व्रत पूर्ण करें।

(४६) वीरशासन जयंती व्रत एवं श्री गौतमस्वामी व्रत

विधि—आषाढ़ शु. पूर्णिमा, गुरूपूर्णिमा को धारणा–एकाशन करके श्रावण कृष्णा एकम् को उपवास करके भगवान् महावीर की, श्री गौतमस्वामी की प्रतिमा एवं सरस्वती देवी की प्रतिमा का या श्रुतस्कंध यंत्र का अभिषेक करके इन तीनों की पूजा करें, पुनः गौतमस्वामी का जीवन परिचय पढ़कर सारा दिन धर्मध्यान में व्यतीत करें। यह श्रावण कृष्णा एकम् वीरशासन जयंती के नाम से

प्रसिद्ध है, इसी दिन भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी, जैन शास्त्रों में इसे युगादि दिवस माना गया है। इसी दिन वीरशासन जयंती व्रत भी कर सकते हैं। वीरशासन जयंती व्रत को ११ अंग, १४ पूर्व के रूप में २५ वर्ष या द्वादशांग के प्रतीक में १२ वर्ष तक करना चाहिए। व्रत को उपवासपूर्वक करें, यदि शक्ति न हो तो अल्पाहार लेकर व्रत करना। गौतम स्वामी व्रत को सात वर्ष तक करना चाहिए।

व्रत की जाप्य—

वीरशासन जयंती व्रत में–ॐ ह्रीं सर्वभाषामयदिव्यध्वनिस्वामिने श्रीमहावीरजिनेन्द्राय नमः।

गौतमस्वामी व्रत में—ॐ ह्रीं सप्तर्द्धिसमन्वितश्रीगौतमस्वामिने नमः।

व्रत का फल—इस व्रत का फल परम्परा से केवलज्ञान प्राप्त कर दिव्यध्वनि के स्वामी बनना है। सर्व अमंगल को दूर कर श्रुतज्ञान का विकास करने वाला यह व्रत है।

व्रतोद्यापन—वीरशासन जयंती व्रत के उद्यापन में भगवान महावीर की प्रतिमा का पंचकल्याणक कराकर विराजमान करावें अथवा अपनी शक्ति के अनुसार ग्रंथों को छपवाकर वितरित करें। भगवान महावीर की केवलज्ञान भूमि जमुही एवं प्रथम देशनास्थली राजगृही तीर्थ की वन्दना कर व्रत को पूर्ण करें।

श्री गौतमस्वामी व्रत के उद्यापन में गणधरवलय विधान करें, श्री गौतमस्वामी से सम्बन्धित साहित्य का वितरण करें एवं गौतमस्वामी की दीक्षाभूमि राजगृही एवं मुक्तिस्थली गुणावाँ जी की वन्दना करे।

(४७) मुक्तावली व्रत

विधि—मगधदेश के (बिहार प्रान्त में राजगृह नगर है। वहाँ के राजा श्रेणिक और रानी चेलना थी। रानी चेलना धर्म और गुणवती थी।

एक समय विपुलाचल पर्वत पर चौबीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी का समवसरण आया। यह सुनकर राजा बहुत आनन्दित हुए और सपरिवार वंदना को गये। वहाँ उन्होंने श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा की और श्री गणधरजी से प्रश्न किया कि हे स्वामिन ! मुक्तावली व्रत का विधान–विधि बताने की अनुकम्पा कीजिए।

श्री गौतमगणधर ने उत्तर दिया कि जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की पूर्व दिशा में अंङ्ग (बिहार) नामक एक देश है। जिसमें अतिसुन्दर चम्पापुर नगर है। इस नगर में सोमशर्मा ब्राह्मण था उसके गृह में एक लड़की थी जो यौवन के मद में भरपूर थी।

उस लड़की ने एक दिन नग्न दिगम्बर साधु को देखा और दुर्वचनों का प्रयोग तथा मन से घृणाभाव किया। जिसके पाप से वह आयु पूर्ण होने पर मरकर नरक गई और वहाँ उसने विविध दुःख

सहे। आयु के अन्त में चलकर अनेक भवों में भ्रमण कर वह एक ब्राह्मण के घर पुत्री है। उसका नाम निर्मामिका रखा गया।

उसके शरीर से भारी दुर्गन्ध आती थी इस कारण लोग उसे दुर्गन्धा कहा करते थे। दुर्गन्ध के कारण कोई उसके निकट तक नहीं ठहर सकता था। वह जैसे तैसे बड़ी हुई परन्तु उसे आजीवन खाने–पीने का कष्ट रहा, उसे बहुधा भिक्षा से भोजन या जूठन द्वारा उदर निर्वाह करना पड़ता था। इस प्रकार उसका जीवन भारी अशांति व दुःख से व्यतीत होता था।

एक दिन सुदैववश उसे किसी दिगम्बर जैन साधु के दर्शन का सौभाग्य उपलब्ध हुआ। दुर्गन्धा ने उन्हें नमस्कार कर प्रश्न किया कि हे गुरुदेव ! मैंने ऐसा कौन सा विशाल पाप किया था जिसके उदय से मेरा शरीर दुर्गन्धमय हुआ और जीवन सतत् दुःख पूर्ण रहा ?

गुरुदेव ने उत्तर दिया कि पूर्वभव में दिगम्बर साधु की निन्दा और उनके प्रति घृणाभाव से तेरे इस शरीर में दुर्गन्ध और जीवन में विशाल दुःख उपलब्ध हुआ है।

यह सुनकर दुर्गन्धा ने करबद्ध विनय की कि हे गुरो ! मुझे कोई ऐसा व्रत दीजिए कि जिसके प्रभाव से मेरा रोग और कष्ट नष्ट हो जाय।

उत्तर में गुरुदेव ने कहा कि तू मुक्तावली व्रत स्वीकार कर, जिससे तेरा रोग और दुःख दोनों दूर हो जावेंगे तथा तुझे इष्ट सम्पत्ति का लाभ होगा। तब दुर्गन्धा ने श्री गुरुदेव से आग्रह किया कि हे गुरुदेव ! इस व्रत की विधि बतलाने की अनुकम्पा कीजिए। गुरुदेव ने उत्तर दिया कि इस व्रत की विधि विधान इस प्रकार है—

मुक्तावली व्रत लघु एम, करिये भवि करके प्रेम।
भादो सुदी साते जानों, पहलो उपवास बखानो।।
असोज कृष्ण छठि तेरस, उजियारी करिये ग्यारस।
कार्तिक वदी बारस नाम, सुदी तीज रू ग्यारस ठाम।।
मगसिर वदी ग्यारस जानों, प्रोषध सुदी तीज ही जानों।
नव नव प्रति वर्ष गहीजे, प्रोषध इक अस्सी कीजे।।
पुरी नव वर्ष मंझारी, जुत शील करहू नर–नारी।।
ताते फल पावे मोटो, मिटे है विधि उदयजु खोटो।।

व्रत की विधि—यह व्रत नववर्ष में पूर्ण होता है। इनमें प्रत्येक वर्ष नौ उपवास होते हैं, कुल ८१ उपवास होते हैं यथा–

भाद्रपद शुक्ला सप्तमी। कुवार कृष्णा छट्ठ, तेरस। कुवार शुक्ला ग्यारस। कार्तिक कृष्णा बारस। कार्तिक शुक्ला तीज, ग्यारस। मगसिर कृष्णा ग्यारस। मागसिर शुक्ला तीज।

जाप्य मंत्र—ॐ ह्रीं श्रीवृषभजिनाय नमः।

इस मंत्र की त्रिकाल जाप करें।

मुक्तावली व्रत के दिन पूजा

भादवसुदी	–सप्तमी	–आदिनाथजी
कुवारवदी	–छट्ठ	–सुमतिनाथजी
कुवारवदी	–तेरस	–चन्द्रप्रभुजी
कुवारसुदी	–ग्यारस	–संभवनाथजी
कार्तिकवदी	–बारस	–पद्मप्रभुजी
कार्तिकसुदी	–तीज	–शांतिनाथजी
कार्तिकसुदी	–ग्यारस	–नंदीश्वर जी
मगसिरवदी	–ग्यारह	–पार्श्वनाथ
मगसिर सुदी	–तीज	–महावीर स्वामी

व्रत उद्यापन की विधि—व्रत के दिन विधिपूर्वक अभिषेक, पूजन, सामायिक, कथावाचन किया जावे तथा आरंभ व परिग्रह का त्याग किया जावे। नववर्ष पर्यंत व्रत का उद्यापन किया जावे। उद्यापन की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—

जिनालय में एक बड़ी टेबल पर पंचपरमेष्ठि विधान का माड़ना मांडा जावे। शुद्ध अष्टद्रव्य तैयारकर श्री जिनेन्द्रदेव का अभिषेक किया जावें, शांतिधारा की जावें, फिर दैनिक पूजा करने के बाद श्री पंचपरमेष्ठि विधान किया जावे, पश्चात् विधिपूर्वक हवन भी किया जावें। अन्त में इस व्रत की जाप या १०८ आहुतियाँ देकर एक श्रीफल वा सूत की माला चढ़ाते हुए मंत्रपूर्वक व्रत छोड़ा जाये।

व्रत का फल—यह व्रत दुर्गन्धा नाम की ब्राह्मण की पुत्री ने किया था। जिसके प्रमाद से वह प्रथम स्वर्ग में देव हुई और वहाँ से चयकर मथुरा में श्रीधर राजा के यहाँ पद्मरथ नामक पुत्र हुआ था। जो वासुपूज्य स्वामी के समवसरण में दीक्षा लेकर उनका गणधर हुआ तथा जिसने कर्मनाश कर मोक्षपद पाया था।

गुरु के समक्ष व्रत ग्रहण करने का आदेश

(व्रततिथि निर्णय के आधार से)

व्रतादानव्रतत्यागः कार्यो गुरुसमक्षतः।
नो चेत्तन्निष्फलं ज्ञेयं कुतः शिक्षादिकं भवेत्।।

यो स्वयं व्रतमादत्ते स्वयं चापि विमुञ्चति।
तद्व्रतं निष्फलं ज्ञेयं साक्ष्याभावात् कुतः फलम्।।
गुरुप्रदिष्टं नियमं सर्वकार्याणि साधयेत्।
यथा च मृत्तिकाद्रोणः विद्यादानपरो भवेत्।।
गुर्वभावतया त्यक्तं व्रतं किं कार्यकृद् भवेत्।
केवलं मृतिकावेश्म किं कुर्यात् कर्तृवर्जितम्।।
अतो व्रतोपदेशस्तु ग्राह्यो गुर्वाननात् खलु।
त्याज्यश्चापि विशेषेण तस्य सातिशया पुनः।।
क्रममुल्लंघ्य यो नारी नरो वा गच्छति स्वयम्।
स एव नरकं याति जिनाज्ञागुरुलोपतः।।

अर्थ—गुरु के समक्ष से ही व्रतों का ग्रहण और व्रतों का त्याग करना चाहिए। गुरु की साक्षी के बिना ग्रहण किये और त्यागे व्रत निष्फल होते हैं अतः उन व्रतों से धन-धान्य, शिक्षा आदि फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती है, जो स्वयं व्रतों को ग्रहण करता है और स्वयं ही व्रतों को छोड़ देता है, उसके व्रत निष्फल हो जाते हैं। गुरु की साक्षी न होने से व्रतों का क्या फल होगा? अर्थात् कुछ भी नहीं। गुरु से यथाविधि ग्रहण किये गये व्रत नियम ही सभी कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं। जैसे-भिल्लराज द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसे गुरु मानकर विद्या-साधन करता था, उसे इस मृत्तिकामय गुरु की कृपा से विद्याएँ सिद्ध हो गई थीं, इस प्रकार गुरु की कृपा से ही व्रत सफल होते हैं। बिना गुरु की भावना के ग्रहण किये गये व्रत कुछ भी कार्यकारी नहीं हो सकते हैं। जैसे मिट्टी का घर बिना कर्त्ता के निरर्थक है, उसी प्रकार गुरु के साक्ष्य के बिना त्यक्त व्रत भी निष्फल हैं। अतएव गुरु के मुख से व्रतों को ग्रहण करना चाहिए तथा उन्हीं की साक्षीपूर्वक व्रतों को छोड़ना चाहिए। जो स्त्री या पुरुष क्रम का उल्लंघन कर स्वेच्छा से व्रत करते हैं, वे गुरु की अवहेलना एवं जिनाज्ञा का लोप करने के कारण नरक में जाते हैं।

विवेचन—व्रत सर्वदा गुरु के सामने जाकर ग्रहण करने चाहिए। यदि गुरु न मिलें तो किसी तत्त्वज्ञ विद्वान्, ब्रह्मचारी, व्रती या अन्य धर्मात्मा से व्रत लेना चाहिए तथा व्रतों को गुरु या विद्वान्, ब्रह्मचारी के समक्ष छोड़ना भी चाहिए। यदि गुरु, विद्वान्, ब्रह्मचारी आदि का सान्निध्य भी प्राप्त न हो सके, तो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के सामने ग्रहण करने तथा छोड़ने चाहिए। बिना साक्ष्य के व्रतों का यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता है।

(गुरु के उपस्थित न रहने पर स्वयं जिनेन्द्र भगवान के सम्मुख व्रत लेते समय अथवा पूर्ण करने पर इसे पढ़ना चाहिए।)

व्रत ग्रहण करते समय का संकल्प मंत्र—ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य ब्रह्मणो मते मासानां मासे ..... मासे ..... पक्षे ..... तिथौ ..... वासरे ..... जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे भारतदेशे ..... प्रदेशे ..... नगरे एतत् अवसर्पिणी कालावसान–चतुर्दशप्राभृतमानिमानितसकललोकव्यवहारे श्रीगौतमस्वामिश्रेणिकमहामण्डलेश्वरसमाचरित–सन्मार्गावशेषे ..... वीरनिर्वाण संवत्सरे अष्टमहाप्रातिहार्यादिशोभितश्रीमदर्हत्परमेश्वरप्रतिमासन्निधौ अहम् ..... व्रतस्य संकल्पं करिष्ये। अस्य व्रतस्य समाप्तिपर्यंतं मे सावद्यत्यागः गृहस्थाश्रमजन्या–रम्भपरिग्रहादी नामपि त्यागः।

व्रत समाप्ति के दिन पढ़ने वाला संकल्प मंत्र—ॐ आद्यानाम् आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे शुभे ..... मासे ..... पक्षे अद्य ..... श्रीमदर्हत्प्रतिमासन्निधौ पूर्वं यद्व्रतं गृहीतं तस्य परिसमाप्तिं करिष्ये–अहम्। प्रमादाज्ञानवशात् व्रते जायमानदोषः शान्तिमुपयान्ति ॐ ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा। श्रीमज्जिनेन्द्रचरणेषु–आनन्दभक्तिः सदास्तु, समाधिमरणं भवतु, पापविनाशनं भवतु ॐ ह्रीं असिआउसा नमः। सर्वशांतिर्भवतु स्वाहा।

चौबीस तीर्थंकरों के पंचकल्याणक की तिथियाँ

(नोट–ये पंचकल्याणक की तिथियाँ श्री गुणभद्र आचार्य विरचित उत्तरपुराण के आधार से दी जा रही हैं।)

महीना-पक्ष-तिथि	भगवान के नाम	कल्याणक
आषाढ़		
आषाढ़ कृ. 2	आदिनाथ	गर्भ
आषाढ़ कृ. 6	वासुपूज्यनाथ	गर्भ
आषाढ़ कृ. 8	विमलनाथ	निर्वाण
आषाढ़ कृ. 10	नमिनाथ	जन्म, तप
आषाढ़ शु. 6	महावीर	गर्भ
आषाढ़ शु. 7	नेमिनाथ	निर्वाण
श्रावण		
श्रावण कृ. 2	मुनिसुव्रतनाथ	गर्भ
श्रावण कृ. 10	कुंथुनाथ	गर्भ
श्रावण शु. 2	सुमतिनाथ	गर्भ
श्रावण शु. 6	नेमिनाथ	जन्म, तप
श्रावण शु. 7	पार्श्वनाथ	निर्वाण
श्रावण शु. 15	श्रेयांसनाथ	निर्वाण
भाद्रपद		
भाद्रपद कृ. 7	शांतिनाथ	गर्भ
भाद्रपद शु. 6	सुपार्श्वनाथ	गर्भ
भाद्रपद शु. 8	पुष्पदंतनाथ	निर्वाण
भाद्रपद शु. 14	वासुपूज्यनाथ	निर्वाण
आश्विन		
आश्विन कृ. 2	नमिनाथ	गर्भ
आश्विन शु. 1	नेमिनाथ	केवलज्ञान
आश्विन शु. 8	शीतलनाथ	निर्वाण
कार्तिक		
कार्तिक कृ. 1	अनन्तनाथ	गर्भ
कार्तिक कृ. 4	संभवनाथ	केवलज्ञान
कार्तिक कृ. 13	पद्मप्रभु	जन्म, तप
कार्तिक कृ. अमा.	महावीर	निर्वाण
कार्तिक शु. 2	पुष्पदंतनाथ	केवलज्ञान
कार्तिक शु. 6	नेमिनाथ	गर्भ
कार्तिक शु. 12	अरनाथ	केवलज्ञान
कार्तिक शु. 15	संभवनाथ	जन्म
मगसिर		
मगसिर कृ. 10	महावीर	तप
मगसिर शु. 1	पुष्पदंतनाथ	जन्म, तप
मगसिर शु. 10	अरनाथ	तप
मगसिर शु. 11	मल्लिनाथ	जन्म, तप
मगसिर शु. 11	नमिनाथ	केवलज्ञान
मगसिर शु. 14	अरनाथ	जन्म
मगसिर शु. 15	संभवनाथ	तप
पौष		
पौष कृ. 2	मल्लिनाथ	केवलज्ञान
पौष कृ. 11	चन्द्रप्रभ, पार्श्वनाथ	जन्म, तप जन्म, तप
पौष कृ. 14	शीतलनाथ	केवलज्ञान
पौष शु. 10	शांतिनाथ	केवलज्ञान
पौष शु. 11	अजितनाथ	केवलज्ञान
पौष शु. 14	अभिनंदननाथ	केवलज्ञान
पौष शु. 15	धर्मनाथ	केवलज्ञान
माघ		
माघ कृ. 6	पद्मप्रभ	गर्भ
माघ कृ. 12	शीतलनाथ	जन्म, तप
माघ कृ. 14	आदिनाथ	निर्वाण
माघ कृ. अमा.	श्रेयांसनाथ	केवलज्ञान
माघ शु. 2	वासुपूज्य	केवलज्ञान
माघ शु. 4	विमलनाथ	जन्म, तप
माघ शु. 6	विमलनाथ	केवलज्ञान
माघ शु. 9	अजितनाथ	तप
माघ शु. 10	अजितनाथ	जन्म
माघ शु. 12	अभिनंदननाथ	जन्म, तप
माघ शु. 13	धर्मनाथ	जन्म
फाल्गुन		
फाल्गुन कृ. 3	अरनाथ	गर्भ
फाल्गुन कृ. 4	पद्मप्रभु	निर्वाण
फाल्गुन कृ. 6	सुपार्श्वनाथ	केवलज्ञान
फाल्गुन कृ. 7	सुपार्श्वनाथ	निर्वाण
फाल्गुन कृ. 7	चन्द्रप्रभु	केवलज्ञान
फाल्गुन कृ. 9	पुष्पदंत	गर्भ
फाल्गुन कृ. 11	श्रेयांसनाथ	जन्म, तप
फाल्गुन कृ. 11	आदिनाथ	केवलज्ञान
फाल्गुन कृ. 12	मुनिसुव्रतनाथ	निर्वाण
फाल्गुन कृ. 14	वासुपूज्यनाथ	जन्म तप
फाल्गुन शु. 5	मल्लिनाथ	निर्वाण
फाल्गुन शु. 7	चन्द्रप्रभु	निर्वाण
फाल्गुन शु. 8	संभवनाथ	गर्भ
चैत्र		
चैत्र कृ. 5	चन्द्रप्रभु	गर्भ
चैत्र कृ. 8	शीतलनाथ	गर्भ
चैत्र कृ. 9	आदिनाथ	जन्म, तप
चैत्र कृ. 14	पार्श्वनाथ	केवलज्ञान
चैत्र कृ. अमा.	अनंतनाथ	केवलज्ञान, निर्वाण
चैत्र कृ. अमा.	अरनाथ	निर्वाण
चैत्र शु. 1	मल्लिनाथ	गर्भ
चैत्र शु. 3	कुंथुनाथ	केवलज्ञान
चैत्र शु. 5	अजितनाथ	निर्वाण
चैत्र शु. 6	संभवनाथ	निर्वाण
चैत्र शु. 11	सुमतिनाथ	जन्म, केवलज्ञान, निर्वाण
चैत्र शु. 13	महावीर	जन्म
चैत्र शु. 15	पद्मप्रभु	केवलज्ञान
वैशाख		
वैशाख कृ. 2	पार्श्वनाथ	गर्भ
वैशाख कृ. 9	मुनिसुव्रतनाथ	केवलज्ञान
वैशाख कृ. 10	मुनिसुव्रतनाथ	तप
वैशाख कृ. 12	मुनिसुव्रतनाथ	जन्म
वैशाख कृ. 14	नमिनाथ	निर्वाण
वैशाख शु. 1	कुंथुनाथ	जन्म, तप, निर्वाण
वैशाख शु. 6	अभिनंदननाथ	गर्भ, निर्वाण
वैशाख शु. 9	सुमतिनाथ	तप
वैशाख शु. 10	महावीर	केवलज्ञान
वैशाख शु. 13	धर्मनाथ	गर्भ
ज्येष्ठ		
ज्येष्ठ कृ. 6	श्रेयांसनाथ	गर्भ
ज्येष्ठ कृ. 10	विमलनाथ	गर्भ
ज्येष्ठ कृ. 12	अनंतनाथ	जन्म, तप
ज्येष्ठ कृ. 14	शांतिनाथ	जन्म, तप, निर्वाण
ज्येष्ठ कृ. अमा.	अजितनाथ	गर्भ
ज्येष्ठ शु. 4	धर्मनाथ	निर्वाण
ज्येष्ठ शु. 12	सुपार्श्वनाथ	जन्म, तप

''महरिसी''

अमृतवर्षिणी टीका–

''महर्षयः कोष्ठबुद्धिबीजबुद्धि–आदिपरमर्द्धियुक्ताः मुनयः।''

ऋद्धियों का वर्णन

तपश्चर्या को करने वाले मुनि अनेक प्रकार की ऋद्धियों के स्वामी हो जाते हैं।

ऋद्धियों के आठ[१] भेद हैं—बुद्धिऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, क्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि।

बुद्धिऋद्धि के १८, विक्रिया के ११, क्रिया के २, तप के ७, बल के ३, औषधि के ८, रस के ६ और क्षेत्र ऋद्धि के २ ऐसे अवान्तर भेद ५७ होते हैं।

(१) बुद्धिऋद्धि के १८ भेद—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारिबुद्धि, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादनत्व, दूरस्पर्श, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दशपूर्वित्व, चौदहपूर्वित्व, निमित्तऋद्धि, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्धित्व और वादित्व।

१. अवधिज्ञान—यह प्रत्यक्षज्ञान अन्तिमस्कंधपर्यन्त परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को जानता है।

२. मनःपर्ययज्ञान—यह ज्ञान चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिन्तित के विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थों को नरलोक के भीतर जानता है।

३. केवलज्ञान—यह ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को, लोक और अलोक को विषय कर लेता है तथा इन्द्रियादि की सहायता से रहित अखण्ड है।

४. बीजबुद्धि—नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी महर्षि की बुद्धि, संख्यातस्वरूप शब्दों के बीच में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को पर के उपदेश से प्राप्त करके उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर ग्रहण करती है, यह बीजबुद्धि है।

५. कोष्ठबुद्धि—उत्कृष्ट धारणा से युक्त कोई मुनि अनेक ग्रंथों के शब्दरूप बीजों को बुद्धि से ग्रहण करके मिश्रण रहित बुद्धिरूपी कोठे में धारण करता है।

६. पदानुसारी—यह बुद्धि आदि, मध्य अथवा अंत में गुरु के उपदेश से एक पद को ग्रहण करके सारे ग्रंथ को ग्रहण कर लेती है। इनके अनुसारिणी, प्रतिसारिणी और उभयसारिणी ऐसे तीन भेद होते हैं।

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. २७१ से २८६ के आधार से है।

७. संभिन्नश्रोतृत्व—इस ऋद्धि वाला मुनि श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर दशों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य-तिर्यंचों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के होने वाले शब्दों को सुनकर प्रत्युत्तर दे सकता है।

८. दूरास्वादित्व—जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रसों के स्वाद को जान लेना।

९. दूरस्पर्शत्व—स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लेना।

१०. दूरघ्राणत्व—घ्राण इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक बहुत प्रकार के गंधों को ग्रहण कर लेना।

११. दूरश्रवणत्व—श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों पर्यन्त में स्थिर रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्य और तिर्यंचों के अक्षरानक्षरात्मक शब्दों को श्रवण कर लेना।

१२. दूरदर्शित्व—चक्षु इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखना यह दूरदर्शित्व है।

१३. दशपूर्वित्व—मुनियों के दशपूर्व के पढ़ने में पाँच सौ महाविद्या और सात सौ लघु विद्याओं के देवता आकर मुनि से आज्ञा मांगते हैं। उस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते, वे दशपूर्वी हैं।

१४. चौदहपूर्वित्व—जो महर्षि सम्पूर्ण श्रुत के पारंगत श्रुतकेवली होते हैं, वे चौदह पूर्वी हैं।

१५. अष्टांगमहानिमित्त—यह ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिन्ह और स्वप्न इन आठ भेदों से युक्त निमित्तज्ञान में कुशल है।

१६. प्रज्ञाश्रमणत्व—इस ऋद्धि से युक्त महामुनि अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वों में से अति सूक्ष्म विषय का निरूपण करने में कुशल होते हैं। इसके औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

१७. प्रत्येकबुद्धि—जिसके द्वारा गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है,

१८. वादित्व—ऋद्धि के द्वारा शक्रादि के पक्ष को भी बहुत वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है, वह वादित्व ऋद्धि है।

(२) विक्रिया ऋद्धि के ग्यारह भेद—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप।

१. अणिमा—अणु के बराबर शरीर को करना। इसके द्वारा महर्षि अणुप्रमाण छिद्र में प्रविष्ट होकर चक्रवर्ती के कटक और निवेश की रचना कर लेते हैं।

२. महिमा—मेरु के बराबर शरीर को कर लेना।

३. लघिमा—वायु से भी लघु शरीर को करना।

४. गरिमा—वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त शरीर को करना।

५. प्राप्ति—भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य, चन्द्र, मेरुशिखर आदि को प्राप्त करना—छू लेना।

६. प्राकाम्य—इस ऋद्धि से जल के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन-निमज्जन करना और पृथ्वी के समान जल में गमन करना।

७. ईशित्व—सब जगत् पर प्रभुता का होना।

८. वशित्व—सभी जीवसमूह का वश में होना।

९. अप्रतिघात—इस ऋद्धि के बल से शैल, शिला और वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के समान गमन करना।

१०. अंतर्धान—जिससे अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अंतर्धान नामक ऋद्धि है।

११. कामरूपित्व—जिससे युगपत् बहुत से रूपों को रचता है, वह कामरूप ऋद्धि है।

(३) क्रिया ऋद्धि के भेद—आकाशगामित्व और चारणत्व ये दो भेद हैं।

१. आकाशगामित्व—इनमें से जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग आसन अथवा अन्य प्रकार से ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर जाता है, वह आकाशगामित्व ऋद्धि है।

२. चारणऋद्धि—इस ऋद्धि को जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूम्रचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतंतुचारण, ज्योतिश्चारण और मरुच्चारण ऐसे अनेकों भेद होते हैं।

चार अंगुलप्रमाण पृथ्वी को छोड़कर आकाश में घुटनों को मोड़े बिना जो बहुत योजनों तक गमन करना है, वह जंघाचारण ऋद्धि है। ऐसे ही सभी के लक्षण समझना।

(४) तप ऋद्धि के भेद—उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रम, अघोरब्रह्मचारित्व ये तप ऋद्धि के सात भेद हैं।

१. उग्रतप ऋद्धि के दो भेद हैं—उग्रोग्रतप, अवस्थित उग्रतप। दीक्षोपवास को आदि करके आमरणांत एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप है।

दीक्षार्थ एक उपवास करके पारणा करे और पुनः एक-एक दिन का अन्तर देकर उपवास करता जाये पुनः कुछ निमित्त पाकर वेला, तेला आदि के क्रम से नीचे न गिरकर उत्तरोत्तर आमरणांत उपवासों को बढ़ाते जाना अवस्थित उग्रतप ऋद्धि है।

२. **दीप्त तप**—जिसके प्रभाव से मन, वचन, काय से बलिष्ठ ऋषि की बहुत उपवासों द्वारा शरीर कान्ति सूर्यवत् दैदीप्यमान होती जाये।

३. **तप्त तप**—तप्त कड़ाही में गिरे हुए जलकणवत् खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाये, मलमूत्र आदि न बने।

४. **महातप**—जिसके बल से मुनि चार प्रकार के सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदरपंक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासों को कर लेवें।

५. **घोरतप**—जिसके बल से ज्वर, शूलादि रोगों से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी दुर्द्धर तपश्चरण हो जाये।

६. **घोरपराक्रम**—जिसके प्रभाव से तीनों लोकों के संहार करने की शक्ति से युक्त अनेकों अद्भुत कार्यों को करने की शक्ति से सहित हो जाते हैं।

७. **अघोरब्रह्मचारित्व**—जिसके प्रभाव से मुनि के क्षेत्र में चौरादि की बाधाएँ, कालमहामारी, महायुद्धादि नहीं होते हैं।

(५) बलऋद्धि के भेद—मन, वचन, काय के भेद से यह ऋद्धि तीन प्रकार की है।

१. **मनबल ऋद्धि**—इस ऋद्धि के बल से मुनि अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में सम्पूर्ण श्रुत का चिंतवन कर लेते हैं।

२. **वचनबल**—इस ऋद्धि के प्रगट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होते हुए मुहूर्त मात्र के भीतर सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत का उच्चारण कर लेते हैं।

३. **कायबल**—इस ऋद्धि से मुनि मास, चार मास आदि पर्यंत कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम से रहित रहते हैं तथा तीनों लोकों को भी कनिष्ठा अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं।

(६) औषधि ऋद्धि के आठ भेद—आमर्षौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि, विप्रुषौषधि, सर्वौषधि, मुखनिर्विष और दृष्टिनिर्विष।

१. **आमर्षौषधि**—जिसके प्रभाव से जीव ऋषि के हाथ, पैरादि के स्पर्शमात्र से नीरोग हो जावें।

२. क्ष्वेलौषधि—इस ऋद्धि से मुनियों के लार, कफ, अक्षिमल आदि जीवों के रोगों को नष्ट कर देते हैं।

३. जल्लौषधि—मुनि के शरीर का पसीना सर्व रोगों को नष्ट कर देता है।

४. मलौषधि—मुनि के दांत, नासिका आदि का मल भी रोगों को नाश कर देवे।

५. विप्रुषौषधि—मुनियों के मूत्र, विष्ठा भी जीवों के भयानक रोगों का नाश कर देवे।

६. सर्वौषधि—दुष्कर तप से युक्त मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल, वायु आदि सम्पूर्ण व्याधियों का नाश कर देवे।

७. वचननिर्विष (मुखनिर्विष)—तिक्त रस व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न जिन-मुनि के वचन से निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

८. दृष्टिनिर्विष—रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा देखने मात्र से ही नीरोगता को प्राप्त कर लेते हैं।

(७) रस ऋद्धि के छह भेद—आशीविष, दृष्टिविष, क्षीरस्रवी (क्षीरस्रावी), मधुस्रवी (मधुस्रावी), अमृतस्रवी (अमृतस्रावी), सर्पिस्रवी (सर्पिस्रावी)।

१. आशीविष—जिस शक्ति से दुष्कर तप से युक्त मुनि के द्वारा 'मर जावो' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जावे।

२. दृष्टिविष—जिससे रोष युक्त मुनि द्वारा देखने मात्र से जीव सहसा मर जावे।[१]

३. क्षीरस्रवी—मुनि के हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादि तत्काल ही दुग्ध परिणाम को प्राप्त हो जाये अथवा जिनके वचन दुग्धवत् पुष्टिकारक होवें।

४. मधुस्रवी—मुनि के हाथ का आहार मधुरस युक्त हो जावे या उनके वचन मनुष्य, तिर्यंचों के दुःखनाशक होवें।

५. अमृतस्रवी—मुनियों के हाथ का रुक्ष आहार अमृतवत् हो जावे या उनके वचन अमृतवत् तुष्टि-प्रद होवें।

६. सर्पिस्रवी—मुनियों के हाथ का रुक्ष आहार क्षणमात्र में घृतरूप को प्राप्त कर ले या जिनके वचन दुःखादि को शांत कर देते हैं।

(८) क्षेत्रऋद्धि के दो भेद—अक्षीणमहानसिक और अक्षीणमहालय।

---

१. इस प्रकार मुनि इन ऋद्धियों के प्रयोग से किसी का घात नहीं करते हैं, अन्यथा वे मुनि नहीं रहेंगे। यहाँ तो ऋद्धि की शक्ति-प्रभाव बतलाया गया है।

१. अक्षीण महानसिक—जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार के बाद शेष भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रियवस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खावे, तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होती है।

२. अक्षीणमहालय—जिस ऋद्धि के प्रभाव से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य-तिर्यंच समा जाते हैं, वह अक्षीणमहालय ऋद्धि है।

घोराघोर तपश्चरण करने वाले मुनियों के ये ऋद्धियाँ प्रगट हो जाया करती हैं। गणधर देव के ये ऋद्धियाँ तत्क्षण ही उत्पन्न हो जाया करती हैं। ये ऋद्धियाँ भावलिंगी मुनियों के ही प्रगट होती हैं, अन्यों के नहीं हो सकती हैं।

सच्चे मित्र से बढ़कर संसार में कोई नहीं है

अत्रामुत्र च मित्रवन्न हितकृतं कोऽप्यस्ति बन्धुःपरो।
गुह्याद् गुह्यतरं गुरोहपि न तद्वाच्यं यदस्योच्यते।।
दुःसाध्यान्यपि साध्यत्यगणयन्प्राणाश्च तत्र स्फुटो।
दृष्टान्तो मणिकेतुरेव कुरुतां तन्मित्रमीदृगिवधम् ।।१४२।।

गौतमस्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक! इस लोक तथा परलोक में मित्र के समान हित करने वाला दूसरा नहीं है और न मित्र से बढ़कर कोई भाई है। जो बात गुरु अथवा माता-पिता से भी नहीं कही जाती ऐसी गुप्त बात मित्र से कही जाती है। मित्र अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता हुआ कठिन से कठिन कार्य को सिद्ध कर देता है। मणिकेतु ही इस विषय का स्पष्ट दृष्टान्त है।

(उत्तरपुराण पृ. १२)

''ससमय–परसमयविदू''

अमृतवर्षिणी टीका–

तत्त्व समीक्षा

(तत्त्व विचार)

चार्वाक—

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों को ही चार तत्त्व मानता है इन भूत चतुष्टय से ही आत्मा, इन्द्रिय, ज्ञान और मन आदि की उत्पत्ति मानता है इसलिए जड़वादी है।

बौद्ध—

बौद्ध कहता है कि आकाश, चित्त संतान की उत्पत्ति तथा चित्तसंतान की उच्छित्ति ये तीन तत्त्व असंस्कृत तथा नित्य है। बाकी सब तत्व संस्कृत, क्षणिक, कर्ता से रहित हैं। (विश्व तत्त्व.पृ. २८५)

एवं इनके यहां रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कंध माने गये हैं, इन पांच स्कंधों से ही सब कार्य होते हैं और तो क्या इनके समूह से ही इन्होंने आत्मा की उत्पत्ति मानी है। जब तक इनकी समष्टि रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। (भारतीय द. पृ.९०)

सांख्य–

सांख्य के यहां पच्चीस तत्त्व हैं – प्रकृति, प्रकृति से महान् (बुद्धि) बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सोलह तत्त्व– पांच ज्ञानेंद्रिय– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। पांच कर्मेंद्रिय–वायु, उपस्थ, वाणी, हस्त, पाद एवं मन ये ग्यारह इन्द्रियां एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएं ऐसे सोलह गण हैं। इन पांच तन्मात्राओं में पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु और आकाश ये पांच महाभूत होते हैं। ऐसे ये प्रकृति, महान, अहंकार, सोलह गण, पांच महाभूत मिलकर चौबीस तत्त्व हुये ये अचेतन हैं एवं पुरुष तत्त्व चेतन हैं। ये चेतन–अचेतन मिलकर पच्चीस तत्त्व होते हैं।

नैयायिक–

नैयायिक के मत में सोलह पदार्थ या तत्व हैं–

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान ये सोलह तत्त्व हैं। इनके भी भेद–प्रभेद अनेक हैं।

वैशेषिक–

वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। इनमें से द्रव्य के नव भेद, गुण के २४, कर्म के ५ भेद आदि पाये जाते हैं

मीमांसक के दो भेद हैं प्रभाकर और भाट्ट।

प्रभाकर आठ पदार्थ मानते हैं–

द्रव्य, गुण, कर्म , सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या।

भाट्टों ने पांच पदार्थ माने हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

भाट्ट ग्यारह द्रव्य मानते हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, अंधकार और शब्द।

वेदांती–

वेदान्ती लोग ब्रह्मवादी हैं – ये लोग "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस कथन से 'एक ब्रह्ममात्र' ही तत्त्व मानते हैं, अन्य कुछ भी नहीं मानते । उनका कहना है कि जगत् में जितने भी चेतन–अचेतन पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म से ही उत्पन्न हुये हैं इत्यादि।

जैन–

जैनाचार्यों ने इन सबकी मान्यता का न्यायदर्शन में निराकरण किया है। देखिये! चार्वाक के द्वारा मान्य भूत चतुष्टय से विजातीय चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति असंभव है।

बौद्धों द्वारा मान्य भी पांच स्कंधों से चेतन–अचेतन कार्य मानना नितांत अनुचित है।

सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में महान् शब्द से बुद्धि को लेकर उसे प्रकृति–अचेतन से उत्पन्न होना कहा है और पुरुष को अकर्ता मानकर एकांत से अकेली जड़ प्रकृति को ही सारे विश्व का कर्ता कहा है यह ठीक नहीं है।

नैयायिक के द्वारा मान्य सोलह पदार्थों में संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, छल, हेत्वाभास, जल्प, वितण्डा आदि को पदार्थ में शामिल करना ठीक नहीं है।

वैशेषिक के सात पदार्थों में कर्म समवाय आदि चीजें पदार्थ नहीं हैं। गुण, धर्म, संबन्ध, क्रिया आदि को पदार्थ कहना ठीक नहीं है।

मीमांसक ने तो परतन्त्रता, अंधकार, सदृशता आदि को भी पदार्थ कह दिया है। वास्तव में अंधकार आदि पदार्थ न होकर पर्यायें हैं ।

वेदांती के द्वारा मान्य 'एक ब्रह्मतत्त्व' तो असंभव ही है। अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य द्रव्य छह हैं–

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तत्त्व सात हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्हीं तत्त्वों में पुण्य–पाप मिला देने से नव पदार्थ बन जाते हैं।

आत्मसमीक्षा

(आत्मा का विचार)

चार्वाक– आत्मा का पृथक्रूप से अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं इनका कहना है कि भूत चतुष्टय से आत्मा का जन्म हुआ है। मरने के बाद आत्मा कोई चीज नहीं है अतः परलोक गमन, पुण्य, पाप आदि कार्य ये लोग नहीं मानते है इसीलिये ये 'नास्तिक' कहलाते हैं। वास्तव में स्वयं अपनी आत्मा के अस्तित्व को न मानकर उसका घात करना महा मूढ़ता है।

बौद्ध–

'विज्ञान स्कंध चित्त हैं इसी को आत्मा कहते हैं' (सर्व.द.पृ.३९) विज्ञान क्षणों का नाम आत्मा है। काय, चित्त और विज्ञान के समूह को आत्मा कहते हैं। मनुष्य एक समिष्ट का नाम है जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह बाह्यरूप युक्त मानसिक अवस्थायें और रूपहीन संज्ञा (विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अंत हो जाता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का एक संग्रह है। इसे पंच स्कंध कहते हैं उनके नाम हैं रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। (भारतीय. ९०) बौद्ध की यह कल्पना भी कल्पित होने से गलत है।

सांख्य–

सांख्य आत्मा को चेतन पुरुष मानते हैं एवं कूटस्थ, नित्य, निरतिशय अपरिणामी मानते हैं, कर्मों का कर्ता नहीं मानते किन्तु भोक्ता अवश्य मानते हैं, इनके यहां पुरुष को–अमूर्त, निर्गुण, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, सूक्ष्म और चेतन माना है तथा ज्ञान से रहित माना है एवं ज्ञानसहित प्रधान के संसर्ग से ज्ञानी माना है। आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय अमूर्त आदि मानना एवं ज्ञानरहित मानना गलत है।

नैयायिक–

नैयायिक का कहना है कि आत्मा , सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होता है, चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्वगतत्व आदि धर्मों से आत्मा की प्रतीति होती है। आत्मा के भोग का आयतन शरीर है। भोग के साधन भूत पांच इन्द्रियां हैं। रूप, रस आदि पंचेन्द्रियों के विषयरूप अर्थ हैं। (षड् द. पृ. १०७) इतना सब कुछ मान करके भी नैयायिकों ने आत्मा में द्रव्यत्व के समवाय से आत्मा को द्रव्य माना है एवं ज्ञान के समवाय से ज्ञानी माना है यह समवाय सम्बन्ध की व्यवस्था गलत है क्योंकि समवाय के पहले आत्मा क्या है और ज्ञान कहां है ? यदि दोनों ही पृथक्–पृथक् कभी भी किसी के दृष्टिगोचर होवें तब तो उनका संबंध भी माना जावे। एवं आत्मा को सर्वगत मानना भी असम्भव हैं क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण ही है।

वैशेषिक–

'आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च' (षड् द. पृ. ४०९) आत्मा जीव है, अनेक है, नित्य, अमूर्त और व्यापक द्रव्य है। **'ज्ञानाधिकरणमात्मा, स द्विविधः– जीवात्मा परमात्मा चेति'**। जिस द्रव्य में समवाय से ज्ञान रहता है वही आत्मा है क्योंकि आत्मा में ज्ञान समवाय संबंध से रहता है। आत्मा के दो भेद हैं – जीवात्मा, परमात्मा। परमात्मा ईश्वर सर्वज्ञ एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न –भिन्न है, व्यापक और नित्य है।(तर्क संग्रह)

अर्थात् नैयायिक के समान वैशेषिक ने भी आत्मा में स्वतः ज्ञान गुण नहीं माना है किन्तु समवाय से माना है अतः उसके यहां भी आत्मा ज्ञान शून्य है एवं आत्मा को सर्वथा व्यापक और नित्य मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

मीमांसक–

मीमांसक जन जीव का लक्षण पूर्वोक्त मानकर भी समवाय नहीं मानते हैं एवं **'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः'** इस नियम से ' स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' ऐसे क्रिया काण्ड, यज्ञ अनुष्ठान आदि से आत्मा को स्वर्ग मानते हैं किन्तु जीव का कर्म से रहित होकर शुद्ध होना नहीं मानते हैं ये लोग जीव को हमेशा कलंक कालिमा सहित अशुद्ध ही मानते हैं। अतएव इन्होंने सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करके अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद वाक्यों से मान लिया है।

इन मीमांसकों में भाट्ट, प्रभाकर, और वेदांती ऐसे तीन संप्रदाय हो गए हैं। भाट्ट, प्रभाकर क्रियाकाण्ड को प्रमुख कहते हैं किन्तु वेदांती 'सारे जगत को एक परमब्रह्म' रूप ही मानते हैं और चेतन, अचेतन को उस ब्रह्म की पर्याय सिद्ध करते हैं, किन्तु यह मान्यता गलत है। आत्मा शुद्ध हो सकती है एवं एक ब्रह्म की पर्याय न होकर प्रत्येक आत्मा निश्चयनय से परमब्रह्म स्वरूप है।

किन्हीं–किन्हीं ने आत्मा को 'वटकणिका मात्र' माना है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि आत्मा को बट बीज के समान मानकर सारे शरीर में संचार माना जाए, तब ऐसे मानने वालों को मन के माध्यम से सुख का अनुभव होगा। शरीर के जिस प्रदेश में आशुगति से आत्मा का संचार होगा, उस समय उस प्रदेश में मन का नया–नया सम्बन्ध मानना पड़ेगा।

अणु परिमाण ज्ञानाश्रय जीव है। **'तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्।' ''वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते''। ''आराग्रमात्रः पुरुष एषोऽणरात्मा चेतसा वेदितव्यः''।**

आत्मा का अणुत्वश्रुति प्रसिद्ध है। केश के अग्रभाग के प्रथम सौ टुकड़े करके पश्चात् एक–एक के सौ–सौ टुकड़े करने से एक भाग का जो परिमाण हो वह जीव का परिमाण है ऐसे जीव अनन्त हैं और जीवरूप पुरुष आरे के अग्र भाग के समान सूक्ष्म हैं। आत्मा–जीव अणु परिणाम चक्षु आदि

इन्द्रियों से अग्राह्य केवल मन से जानने योग्य है।" (सर्वदर्शन से. रामानुजदर्शन पृ.१०९) यह सब मान्यता विवेक शून्य है क्योंकि आत्मा स्वदेह परिमाण है यह बात अनुभव सिद्ध है।

जैन–

जैनाचार्यों ने उपर्युक्त मान्यताओं का विशेष रीति से खण्डन करके जीव का लक्षण स्थापित किया है। यथा – **'उपयोगो लक्षणं' 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।'** (तत्त्वार्थसूत्र द्वि. अ. सूत्र. ८-९)

जीव का लक्षण उपयोग है। चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं । उसके दो भेद है–

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं– मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान एवं कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ३ कुज्ञान ये आठ ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन,ये चार दर्शनोपयोग हैं।

जीव का लक्षण चेतना है ज्ञानदर्शन को ही चेतना कहते हैं। जैनाचार्यों ने अन्यत्र जीव का लक्षण किया है–

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।२।। (द्रव्यसंग्रह)

जीव—जो तीनों कालों में इन्द्रिय,बल, आयु और श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्य प्राणों से एवं चेतना लक्षण भाव प्राणों से। **अजीवत् जीवति जीविष्यति इति जीवः** जीता था, जीता है, जीयेगा वह जीव है, यह उपयोगमयी है–ज्ञान दर्शन स्वरूप है कथंचित् अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वशरीर प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

'संसारिणो मुक्ताश्च ' (तत्त्वार्थसूत्र)

जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं कर्म सहित जीव संसारी हैं, कर्म बंधन से रहित जीव मुक्त जीव कहलाते हैं । जैन सिद्धांत में कर्मों के निमित्त से जीव का ज्ञान गुण ढका रहता है पूर्ण प्रगट नहीं होता है धीरे–धीरे अपने आवरण कर्म का क्षयोपशम होते–होते ज्ञान गुण प्रकट होता चला जाता है जब पूर्ण ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट होकर यह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ज्ञाता, दृष्टा कहलाने लगता है।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिस्त्यजेत्।।४।। (समाधितंत्र)

बहिरात्मा, अंतरातमा और परमात्मा के भेद से आत्मा के तीन भेद होते हैं। उसमें परमात्मा उपादेय– प्राप्त करने योग्य है एवं अंतरात्मा उपायभूत है– परमात्मा को प्राप्त कराने वाला है और बहिरात्मा त्यागने योग्य है। इस प्रकार 'अहं' प्रत्यय से अनुभव में आने वाला आत्मा सभी जीवों को स्वसंवेदन अनुभव से सिद्ध है।

जैनमत स्वसमय है।

भगवान महावीर के तीर्थ में धर्मव्युच्छित्ति नहीं है

श्री यतिवृषभाचार्य कहते हैं—

हुंडावसप्पिणिस्स य दोसेणं सत्त होंति विच्छेदा।
दिक्खाहिमुहाभावे अत्थमिदो धम्मरविदेओ।।१२८०।।

(तिलोयपण्णत्ति अ.४, पृ.३१३)

"सुविधिनाथ को आदि में लेकर सात तीर्थों में उस धर्म की व्युच्छित्ति हुई थी और शेष सत्रह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरंतर बनी रही है। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपल्य, अर्द्धपल्य, पौन पल्य, एक पल्य, पौन पल्य, अर्द्धपल्य और पावपल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का व्युच्छेद रहा है। हुँडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात धर्म के विच्छेद हुये हैं। उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालों का अभाव होने पर धर्मरूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था।"

तात्पर्य यह है कि वृषभदेव से लेकर पुष्पदंतनाथ तक धर्म परम्परा अव्युच्छिन्नरूप से चली आई थी। पुनः पुष्पदंत के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है, अनंतर जब शीतलनाथ तीर्थंकर हुये तब धर्मतीर्थ चला उनके तीर्थ में अर्द्ध पल्य, श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, वासुपूज्य के तीर्थ में एक पल्य, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, अनंतनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य तक धर्म का अभाव रहा है। अर्थात् कोई भी मनुष्य जैनेश्वरी दीक्षा लेने वाले नहीं हुए अतः धर्म का अभाव हो गया।

आचार्यः कुंदकुंदाख्यो (५) वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः।।४।।
पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
ऊर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने[१]।।६३।।

समस्त राजाओं से पूजित पादपद्म वाले मुनिवर 'भद्रबाहु' स्वामी के पट्टकमल को उद्योत करने में सूर्य के समान 'श्री गुप्तिगुप्त' मुनि आप लोगों को शुभसंगति दें। श्री मूलसंघ में नंदिसंघ उत्पन्न हुआ, इस संघ में अतिरमणीय बलात्कारगण हुआ और उस गण में पूर्व के जानने वाले, मनुष्य व देवों से वंद्य श्री 'माघनंदिस्वामी' हुये। उनके पट्ट पर मुनिश्रेष्ठ 'जिनचंद्र' हुये और इनके पट्ट पर पाँच

१. "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" पु.४, पृ.३९३-३९९।

नामधारक मुनिचक्रवर्ती 'श्री पद्मनंदी स्वामी' हुये। कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदी उनके ये पाँच नाम थे। (ये ही कुंदकुंदाचार्य समयसार आदि ग्रंथ के कर्त्ता हैं।)

पुनः उनके पट्ट पर दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्धकर्त्ता मिथ्यात्व तिमिर के लिये सूर्य के समान 'उमास्वाति' (उमास्वामी) आचार्य हुये, इत्यादि।

इसी क्रम से १०२ आचार्यों की परम्परा बताकर अंत में श्री कुंदकुंद स्वामी की विशेषताओं का स्मरण करते हुए उन्हें नमस्कार किया है।

"श्री पद्मनंदी (कुंदकुंद) गुरु ने बलात्कारगण में अग्रसर होकर पट्टारोहण किया और जिन्होंने पाषाण घटित सरस्वती को ऊर्जयंत गिरि पर वादी के साथ वादित कराया (बुलवाया), तब से ही सारस्वतगच्छ चला। इसी उपकृति के स्मरणार्थ उन श्री पद्मनंदी मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ।"

इस श्लोक से वृन्दावन कवि की पंक्तियाँ स्मरण में आये बिना नहीं रहती हैं जो कि उन्होंने गुरु के मंगलाष्टक में कही हैं—

संघ सहित श्री कुंदकुंद गुरु वंदन हेत गये गिरनार।
वाद पर्‌यो जहं संशय मति सों साक्षी वदी अंबिकाकार।।
"सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर" कही सुरी तहं प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघ्नहरण मंगल करतार।।१।।

इस प्रकरण से श्री कुंदकुंद आचार्य द्वारा गिरनार पर्वत पर श्वेतांबर साधुओं से विवाद होकर निर्ग्रंथ दिगम्बर पंथ ही सत्य है इस बात को सरस्वती की मूर्ति से कहला देने की कथा सत्य सिद्ध हो जाती है।

नंदिसंघ की पट्टावली में तो एक-एक आचार्य किस संवत् में पट्टासीन हुये उनका समय भी दिया गया है। यथा—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिगुप्त (२६), ३. माघनन्दी (६), ४. जिनचंद्र (४०), ५. कुंदकुंदाचार्य (४९), ६. उमास्वामी (१०१), ...।"[१] इत्यादि।

अर्थात् भद्रबाहु द्वितीय विक्रम संवत् ४ में पट्ट पर बैठे, उनके पट्ट पर श्रीगुप्तिगुप्त वि.सं. २६ में आसीन हुये इत्यादि।

इन पट्टावलियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुंदकुंदस्वामी अपने गुरु जिनचंद्र के पट्ट पर आचार्य हुये हैं पुनः उन्होंने संघसहित गिरनार पर्वत की यात्रा की है, अनंतर अपना पट्ट उन्होंने श्रीउमास्वामी को सौंपा है। इस कथन से "श्रीकुंदकुंददेव एकलविहारी थे या वन में ही रहते थे' ऐसी मान्यता का निराकरण हो जाता है।

---

१. नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली (इण्डियन एण्टीक्वेरी के आधार पर)
(तीर्थंकर महावीर और उनकी आ. परम्परा, पु.४, पृ.४४१)

वर्तमान में संघ परम्परा

वर्तमान में आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि आदि ने श्रीकुंदकुंदाचार्य की परम्परा को ही समुद्योतित किया है। उनके पट्टाचार्यों की परम्परा भी मूलसंघ के अंतर्गत नंदिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ का आश्रय करने वाली है। इस परम्परा के आचार्य और मुनिगण मूलाचार, भगवती आराधना, आचारसार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों के आधार से ही अपनी चर्या का पालन कर रहे हैं।

किन-किन ग्रंथों को प्रमाण मानें ?

श्री इंद्रनंदि आचार्य कहते हैं—

"श्री भद्रबाहु, श्रीचंद्र, जिनचंद्र, गृद्धपिच्छाचार्य, लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनंदी, जिनसेन, वीरसेन, गुणनंदी, समंतभद्र, श्रीकुम्भ, शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र, अकलंकदेव, सोमदेव, प्रभाचंद्र और नेमिचंद्र इत्यादि मुनिपुंगवों के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य हैं। इनसे अतिरिक्त (सिंह, नंदि, सेन और देवसंघ इन चार संघ के आचार्यों से अतिरिक्त) विसंघ्य अर्थात् परम्पराविरुद्ध जनों के द्वारा रचित ग्रंथ अच्छे होकर भी प्रमाण नहीं हैं क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सर्वज्ञ भगवान के वचनों के सदृश हैं। उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनों में पूज्य होता है।"

श्रीभद्रबाहुः श्रीचंद्रो जिनचंद्रो महामुनिः। गृद्धपिच्छगुरुः श्रीमान् लोहाचार्यो जितेन्द्रियः।।६७।।
एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनंदी महाकविः। जिनसेनो वीरसेनो गुणनंदी महातपाः।।६८।।
समंतभद्रः श्रीकुम्भः शिवकोटिः शिवंकरः। शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः।।६९।।
अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः। प्रभाचंद्रो नेमिचंद्र इत्यादिमुनिसत्तमैः।।७०।।
यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवादेयमन्यकैः। विसंघ्यं रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम्।।७१।।
पूर्वाचार्यवचः श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम्। तज्जानन्नगारोऽत्र पूज्यः स्यादखिलैर्जनैः।।७२।।
(नीतिसार)

अर्थात् वर्तमान में उपलब्ध पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत जितना भी जैन वाङ्मय हैं जो भी जैन ग्रंथ हैं सभी प्रमाणीक हैं।

इस कथन से षट्खंडागमसूत्र तथा कषायपाहुड़ ग्रंथ और उनकी धवला, जयधवलाटीका, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, रत्नकरंड-श्रावकाचार, भगवती आराधना, महापुराण, उत्तरपुराण, यशस्तिलकचंपू, न्यायकुमुदचंद्र, गोम्मटसार, समयसार आदि ग्रंथ पूर्णतया प्रमाणीक सिद्ध हो जाते हैं।

अन्यमत परसमय हैं—मिथ्यात्व हैं

शंका—मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान न करना अथवा अन्य के द्वारा उपदिष्ट असत् अर्थ का श्रद्धान करना जो मिथ्यात्व है।

इसके गृहीत, अगृहीत की अपेक्षा दो भेद हैं, गृहीत, अगृहीत और सांशयिक की अपेक्षा तीन भेद हैं। एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान की अपेक्षा से पाँच भेद हैं तथा क्रियावाद आदिकों की अपेक्षा से तीन सौ त्रेसठ भेद भी हो जाते हैं अथवा जीव के भावों की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनंतभेद भी हो जाते हैं। मध्यम रीति से तीन सौ त्रेसठ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप देखिये–

तीन सौ त्रैसठ पाखंडमत—

"क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२ ऐसे १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३ पाखंडमत होते हैं। इनका विशेष वर्णन इस प्रकार है—

'अस्ति' पद को 'आप से' 'पर से' नित्यपने से' और 'अनित्यपने से' इन चार से, जीवादि नव पदार्थ से तथा 'काल', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'नियति' और 'स्वभाव' इन पाँच से, ऐसे क्रम से गुणा करने से १ × ४ × ९ × ५ = १८० भेद क्रियावादियों के होते हैं।

'नास्ति' पद को 'आपसे', 'पर से', पुण्य-पाप रहित सात पदार्थ से और 'काल' आदि पाँच से गुणा करने पर १ × २ × ७ × ५ = ७० भंग होते हैं। पुनः 'नास्ति' पद को सात पदार्थ और 'नियति' तथा 'काल' इन दो से गुणा करने पर १ × ७ × २ = १४ भेद हुये। दोनों मिलाकर ७०+१४=८४ भेद अक्रियावादियों के होते हैं।

नव पदार्थ को सप्तभंगी से गुणा करने पर ९ × ७ = ६३ भेद हुये। पुनः 'शुद्ध पदार्थ' को अस्ति, नास्ति, उभय और अवक्तव्य इन चार भेदों से गुणा करने पर १ × ४ = ४ भेद हुये। दोनों मिलाकर ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवाद के होते हैं।

इसका अर्थ यह है कि जीवादि नव पदार्थों में एक-एक को सप्त भंग से न जानना। जैसे कि 'जीव' अस्तिरूप है ऐसा कौन जानता है, नास्ति रूप है ऐसा कौन जानता है, इत्यादि।

देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता और पिता इन आठों का मन, वचन, काय और दान, इन चार से विनय करना सो ८ × ४ = ३२ ये बत्तीस भेद विनयवादियों के हैं। ये विनयवादी गुण-अगुण की परीक्षा किये बिना विनय से ही सिद्धि मानते हैं।

पूर्व में क्रियावादी के भेदों में जो 'अस्ति' 'स्व' 'पर' 'नित्य' 'अनित्य' और नवपदार्थ तथा काल आदि पाँच आये हैं, उनमें से सबका अर्थ तो स्पष्ट ही है। काल ईश्वर आदि पाँचों का अर्थ बताते हैं।

काल ही सबको उत्पन्न करता है और सबका नाश करता है, काल ही सोते हुए प्राणियों में जागता है ऐसे काल को ठगने के लिये कौन समर्थ है। इस प्रकार काल से ही सब कुछ मानना **कालवाद** है।

आत्माज्ञान रहित है, अनाथ है, कुछ कर नहीं सकता, उस आत्मा का सुख-दुःख तथा स्वर्ग-नरक में गमन आदि सब ईश्वर का किया हुआ होता है। ऐसी मान्यता **ईश्वरवाद** है।

संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, वह सबमें व्यापक है, सर्वांगपने से अगम्य है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्मस्वरूप से ही सबको मानना **आत्मवाद** है।

जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उससे, वैसे और उसके ही होता है। ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना **नियतिवाद** है।

कांटे आदि तीक्ष्ण वस्तुओं में तीक्ष्णता कौन करता है ? मृग आदि पशु पक्षियों के अनेक आकार कौन बनाता है ? इत्यादि प्रश्न होने पर कहना पड़ेगा कि सबमें स्वभाव ही है। ऐसे सब को कारण के बिना स्वभाव से ही मानना **स्वभाववाद** है।

इस प्रकार से काल आदि की अपेक्षा से 'अस्ति' आदि के साथ एकांत पक्ष ग्रहण करने से क्रियावादी और अक्रियावादी के भेद होते हैं।

इस प्रकार स्वच्छंद श्रद्धानी पुरुषों ने इन ३६३ मतों की कल्पना की है। ये पाखण्डी लोगों को ही अच्छे प्रतीत होते हैं।

आगे और भी एकांतवादों को कहते हैं।

जो आलसी है, उद्यम करने में उत्साह रहित है वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता। जैसे माता के स्तन का दूध पीना भी बिना पुरुषार्थ के नहीं होता है। इस तरह पुरुषार्थ से ही सर्वकार्य की सिद्धि मानना **पौरुषवाद** है।

मैं केवल भाग्य को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो। देखो! किले के समान ऊँचा राजा कर्ण युद्ध में मारा गया। इस तरह दैव से ही सिद्धि मानना **दैववाद** है।

जैसे एक अंधा और एक पंगु दोनों वन में प्रतिष्ठ हुये, सो किसी समय वहाँ आग लग जाने से ये दोनों एक दूसरे के संयोग से बचकर नगर में आ गये। ऐसे ही संयोग से ही सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। ऐसा कहना **संयोगवाद** है।

एक बार की उठी हुई लोकप्रसिद्धि देवों द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती, अन्य की तो बात क्या है। देखो! द्रौपदी ने केवल अर्जुन के गले में वरमाला डाली थी किन्तु 'इसने पाँचों को वरा है' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। इस तरह लोक प्रवृत्ति को ही सर्वस्व मानना **लोकवाद** है।

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? जितने भी वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं। तात्पर्य यही है कि जो कुछ भी बोला जाता है वह कुछ न कुछ अपेक्षा को लिये ही होता है। उस जगह जो अपेक्षा है वही नय है और बिना अपेक्षा से बोलना या एक ही अपेक्षा से अनंत धर्मवाली वस्तु को सिद्ध करना यही परमतों में मिथ्यापना है।

सो ही स्वयं कहते हैं—

पर मतों के वचन 'सर्वथा' कहने से नियम से असत्य होते हैं और जैनमत के वचन 'कथंचित्' (किसी एक प्रकार) से कहने से सत्य होते हैं।'[१]

शंका—हमेशा अपने मत का मंडन करना चाहिए, दूसरों के मत को मिथ्या कहने और उसके खंडन करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—सर्वथा ऐसा एकांत नहीं है, चूँकि दूसरों के मिथ्यामत के स्वरूप को समझे बिना और शिष्यों को समझाये बिना उनका त्याग करना असंभव है तथा यह पाखंडमतों का निराकरण तो द्वादशांग के अंतर्गत है। दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग में इनका वर्णन आता है। यथा—

"दृष्टिवाद नाम के अंग में कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक आदि क्रियावादियों के १८० मतों का; मारीचि, कपिल, उलूक आदि अक्रियावादियों के ८४ मतों का शाकल्य, बल्कल आदि अज्ञानवादियों के ६७ मतों का तथा वशिष्ठ, पाराशर आदि वैनयिकवादियों के ३२ मतों का वर्णन और उनका निराकरण किया गया है।"[२]

ऐसे ही कुश्रुतज्ञान के प्रकरण में कहा है कि—"चौर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, भारत और रामायण आदि के तुच्छ और साधन करने के अयोग्य उपदेशों को श्रुत अज्ञान कहा है।"[३]

तात्पर्य यही हुआ कि ये सब मिथ्यामत, मिथ्या अनेकांत और मिथ्या एकांत से ही कल्पित किये गये हैं तथा इनके कहने वाले शास्त्र भी मिथ्यात्व के पोषक होने से कुश्रुत ही हैं। इनके स्वरूप को समझकर इन सबका त्याग करके स्याद्वादमय अनेकांत धर्म का आश्रय लेना चाहिए।

हुंडावसर्पिणी के निमित्त से इस काल में अनेकों द्रव्य मिथ्यात्व उत्पन्न हो गये हैं किन्तु भाव मिथ्यात्व तो सर्वत्र-विदेह क्षेत्र में, विजयार्ध की श्रेणियों में, स्वर्गादि में व सर्वकाल में पाया ही जाता है। ये द्रव्य और भाव दोनों मिथ्यात्व सर्वदा त्याज्य ही हैं।

सूक्तिवचन

चार मिले चौंसठ खिले, मिले बीस कर जोड़।
सज्जन से सज्जन मिले, हर्षित सात करोड़।।

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८८६ से ८९५। २. धवला पु. १, पृ.१०८-१०९। ३. धवला पु.१ , पृ. ३६०।

जैनदर्शन के न्याय ग्रंथों में स्वसमय

अमृतवर्षिणी टीका–

श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः।।

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिए। अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रंथराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ की रचना के प्रारंभ में **'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये'** इस मंगल श्लोक को रचा है। श्री समंतभद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर 'आप्तमीमांसा' नाम से एक स्तोत्र रचा, जिसका अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' भी है। श्री भट्टाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर 'अष्टशती' नाम से भाष्य बनाया है जो कि जैनदर्शन का एक अतीव गूढ़ ग्रंथ बन गया है। इसी आप्तमीमांसा ग्रंथ पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने 'अष्टसहस्री' नाम से अलंकार टीका बनाई है। इसमें अष्टशती ग्रंथ को अंतर्गर्भित किया है, जो कि जैनदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ कहलाता है। इसमें दश परिच्छेद में १. भाव-अभाव, २. द्वैत-अद्वैत, ३. नित्य-अनित्य, ४. भेद-अभेद, ५. अपेक्षा-अनपेक्षा, ६. हेतु-आगम, ७. अंतरंगार्थ-बहिरंगार्थ, ८. दैव-पुरुषार्थ, ९. पुण्य-पाप, १०. अज्ञान-ज्ञानवाद, इन एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्षपूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद प्रक्रिया से वस्तु तत्त्व को समझाया गया है। वास्तव में तत्त्व अतत्त्व को तत्त्व में समझने के लिए यह न्याय ग्रंथ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये स्वामी श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुए आप्त—अर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है, देखिए—

देवागम-नभोयान - चामरादि - विभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यंते नातस्त्वमसि नो महान्।।१।।

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्रस्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुए भगवान से प्रश्नोत्तर करते हुए के समान ही कहते हैं अर्थात् मानो भगवान् यहां प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र! मुझ में देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ? तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि "हे भगवन्! आपके जन्मकल्याणक आदिकों में देव,

चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियाँ तो मायावी जनो में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिए महान्—पूज्य नहीं हैं।

इस पर भगवान् मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया, तो न सही किन्तु मस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदकवृष्टि आदि महोदय हैं, जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये। इस पर श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान देवों में पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना, मलमूत्रादि नहीं है उनके यहाँ भी गंधोदकवृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं।

मानो पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंतभद्र! रागादिमान देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थंकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ। इस पर श्री समंतभद्रस्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान कहते हैं कि हे भगवन्! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थंकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थंकर माना है किन्तु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिए इन सभी में कोई एक ही परमात्मा—सच्चा आप्त हो सकता है, ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं। इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी सम्प्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है।

अन्य सम्प्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं। उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं। आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है, क्योंकि जैन भी वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं। अस्तु! सभी के सम्प्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं।

वस्तुओं का स्वरूप से अस्तित्व माना है। यदि कहो कि 'संवृति—पररूप से न होना' यह अर्थ भी हमारे अनुकूल ही है क्योंकि हम लोग भी वस्तु में पररूप से नास्ति धर्म मानते हैं। यदि कहो कि 'विचारों

का न होना संवृति है' तब तो शून्य के साधक वाक्य भी कैसे बनेंगे ? अतः बड़े आश्चर्य की बात है कि दिग्नागाचार्य आदि आज भी इस शून्यवाद को सिद्ध करने में लगे हुए हैं इसमें उनके मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के सिवाय और कोई भी कारण नहीं हो सकता है क्योंकि जब सर्वथा शून्यवाद ही है, तब आपके बुद्ध भगवान, आगम आदि भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

बौद्ध—वास्तव में हमारे यहाँ बुद्ध भगवान और आगम आदि सभी विभ्रम रूप ही हैं। ये सभी संवृति से ही मान्य हैं अर्थात् काल्पनिक हैं।

जैन—तब तो प्रश्न यह होता है कि इस विभ्रम में विभ्रम है या अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रम रूप नहीं रहे और यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तो विभ्रम कैसे रहेगा ? अपितु विभ्रम में विभ्रम के हो जाने से अविभ्रम—सत्य ही सिद्ध हो जायेगा इसलिए सर्वथा नैरात्म्यवाद श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उसके मानने वाले तो सबसे पहले अपना, अपने भगवान का, सभी का ही घात कर लेते हैं।

कोई-कोई भाट्ट लोग भाव और अभाव इन दोनों को भी मान रहे हैं किन्तु दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, इसलिए उनकी मान्यता भी गलत है।

क्योंकि सभी वस्तु स्वरूप के समान पररूप से अस्तिरूप एवं पररूप के समान स्वरूप से नास्तिरूप नहीं है तथा अस्ति धर्म नास्तित्व की एवं नास्ति धर्म अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। इसलिए 'उभयैकात्म्य' भी गलत है।

कोई बौद्ध लोग वस्तु को सर्वथा सत्-असत् धर्म से रहित होने से अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा 'अवाच्य' है क्योंकि शब्दों से उसका कथन नहीं कहा जा सकता है किन्तु यह एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है।

जैनाचार्य वस्तु को सत्रूप—भावरूप भी मानते हैं, असत्—अभावरूप भी मानते हैं, भावाभाव—उभयात्मक भी मानते हैं तथा अवक्तव्य—अवाच्य भी मानते हैं। सो कैसे ?

भावाभावाद्यनेकांत सिद्धि

हे भगवन्! आपके शासन में सभी वस्तुएँ कथंचित् भाव—अस्ति—सत्रूप हैं और वे ही सभी वस्तुएँ कथंचित् अभाव—नास्ति—असत्रूप हैं, कथंचित् उभय आदि सप्तभंगरूप से प्रसिद्ध हैं। यथा—**'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनासप्तभंगी'** प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विधि और निषेध की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है।

इस सप्तभंगी को जीव द्रव्य में घटित करते हैं—

१. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति रूप है,

२. स्यात् जीव द्रव्य नास्ति रूप है,

३. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति नास्ति रूप है,

४. स्यात् जीव द्रव्य अवक्तव्य है,

५. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है,

६. स्यात् जीव द्रव्य नास्ति अवक्तव्य है,

७. स्यात् जीव द्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्य है,

यहाँ पर अस्तित्वादि एकान्त का निषेधक और अनेकांत का द्योतक 'कथंचित्' इस अपरनाम वाला 'स्यात्' शब्द बहुत ही महत्वशाली है, उसी का स्पष्टीकरण—

प्रथम भंग में जीव द्रव्य स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है। द्वितीय भंग में वही जीव द्रव्य पर—अजीवादि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है अर्थात् जीव द्रव्य में पर—अजीव का अस्तित्व नहीं है। वही जीव द्रव्य क्रम से स्व और पर दोनों की अपेक्षा करने से अस्तिनास्तिरूप है। वही जीव द्रव्य युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से अवक्तव्य—अवाच्यरूप है। वही जीव द्रव्य स्वचतुष्टय से तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय से विवक्षित करने से 'अस्ति अवक्तव्य' इस पाँचवें भंगरूप है। वही जीवद्रव्य परचतुष्टय तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति अवक्तव्यरूप है। वही जीवद्रव्य स्वपरचतुष्टय की क्रम और युगपत् अपेक्षा रखने से 'अस्तिनास्ति अवक्तव्य' इस सातवें भंगरूप है।

यह कथन बिल्कुल ठीक है क्योंकि प्रत्येक वस्तुएँ स्वरूप से सत्रूप एवं पररूप से असत्—अभावरूप हैं तथा अस्ति धर्म नास्तित्व का अविनाभावी है वैसे ही नास्ति धर्म अस्तित्व के बिना नहीं रह सकता है। जब प्रथम भंग में भाव प्रधान रहता है, तब शेष छहों भंग गौण हो जाते हैं एवं जब द्वितीय भंग का अभाव धर्म प्रधान रहता है, तब भी शेष छह भंग गौण हो जाते हैं। इस प्रकार से '**अर्पितानर्पित सिद्धेः**' सूत्र के अनुसार अर्पित—विवक्षित धर्म प्रधान रहता है तथा अनर्पित—अविवक्षित धर्म गौण रहता है तभी वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। जैसे जीव का जब नित्य धर्म प्रधान किया जाता है, तब अनित्य धर्म नष्ट न होकर गौण हो जाता है एवं जब अनित्य धर्म विवक्षित—कहा जाता है तब नित्य धर्म अविवक्षित—गौण हो जाता है। ये अस्ति-नास्ति नित्य-अनित्य आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी दिखते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में पाये ही जाते हैं।

प्रश्न—एक वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेध कल्पना कर लेना चाहिए ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि सूत्र में 'अविरोधेन' पद है, जिसका अर्थ है प्रत्यक्ष अनुमान और आगम आदि से अविरुद्ध धर्मों में ही सप्तभंगी घटित करना।

प्रश्न—प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं अतः 'अनंत भंगी' हो जावें, सात ही भंग क्यों ?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्मों में से प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी घटित होती है इसलिए अनंत भंगी नहीं होंगी।

भंग सात ही क्यों ? शिष्यों के द्वारा उतने ही प्रश्न होते हैं। सात ही प्रश्न क्यों ? तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती हैं। जिज्ञासा सात प्रकार की ही क्यों? तो सात प्रकार का संशय होता है। संशय सात प्रकार का ही क्यों ? तो उस संशय के विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के ही हैं।

इस प्रकार से सप्तभंगी से सिद्ध वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी हैं अन्यथा वह वस्तु अवस्तु— आकाश पुष्पवत् सर्वथा ही अभावरूप हो जाएगी अतः हे भगवन्! सभी प्रकार के विरोध आदि दोषों से रहित आपका स्याद्वाद शासन जयवंत होवे

सूक्तिवचन

'आस्था सतां यशःकाये न ह्यस्थायि शरीरके।'

सज्जनों की आस्था यशरूपी शरीर में ही होती है अनित्य पुरुषाकृति शरीर में नहीं होती है।

सूक्तिवचन

''गुरोर्विना सर्वे भवन्ति पशु सन्निभा।''

गुरु के बिना सभी पशु के समान होते हैं।

मराठी में–गुरु बिन कोण दिखावे वाट'' गुरु के बिना यथार्थ आत्म–कल्याण का मार्ग कौन दिखा सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

भाग्य और पुरुषार्थ का लक्षण

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।

बुद्धिपूर्व–व्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।। (अष्टसहस्री)

अबुद्धिपूर्वक की अपेक्षा में जो इष्ट एवं अनिष्ट कार्य होते हैं वे स्वभाग्य से होते हैं एवं बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा करने पर सभी इष्ट अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से होते हैं।

अध्यात्म के अनुसार स्वसमय–परसमय

अमृतवर्षिणी टीका–

जीवो चरित्तदंसण–णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमय[१]।।२।।

अर्थ—जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है उसको ही तुम स्वसमय जानो और जो पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे तुम परसमय जानो।

आत्मख्याति—जो जीवनामा पदार्थ है वह ही समय है क्योंकि समय शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार है कि 'सम्' अर्थात् एकरूप से युगपत् जो 'अयते' अर्थात् जानता है परिणमन करता है वह समय है। वह 'समय' नामक पदार्थ नित्य ही परिणमन स्वभाव में स्थित रहने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी सत्ता से अनुस्यूत–समन्वित है। चैतन्यस्वरूप होने से निरन्तर उदयरूप निर्मल दर्शन–ज्ञान की ज्योतिस्वरूप है। अनंतधर्मों में रहने वाला जो एक धर्मी उस रूप से उसका द्रव्यत्व प्रगट हुआ है। क्रम और अक्रम से होने वाले अनेकों भाव उन स्वभावरूप से गुण और पर्यायों को स्वीकार किये हुये हैं। स्व और परद्रव्यों के आकार को प्रकाशन करने में समर्थ होने से अखिलरूप को झलकाने वाली एकरूपता प्राप्त कर ली है। पृथक्–पृथक् अवगाहन, गति, स्थिति और वर्तना के लिये निमित्तभूत एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों के अभाव से तथा असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव से यह जीवद्रव्य आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है। अनंत अन्य द्रव्यों के साथ अत्यंत संकर–एकक्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत न होने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभाव वाला है। ऐसा जो जीवनामक पदार्थ है वही 'समय' कहलाता है।

जब यह निश्चितरूप से संपूर्ण पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदविज्ञानरूपी ज्योति के प्रकट हो जाने से समस्त परद्रव्यों से च्युत होकर श्रद्धान करना, जानना और अपने स्वभाव में स्थिरता रूप आचरण करना, इन तीन रूप आत्म तत्त्व में एकत्वरूप से वर्तन करता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में ऐक्य परिणति होने से निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत होता है, उस समय दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होने से अपने आपको एकत्वरूप से एक साथ जानता हुआ और उस रूप परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' कहलाता है और जब अनादिकालीन अविद्या है मूल जिसका ऐसे कंद के समान मोहकर्म के उदय से उसके आधीन होने से दर्शन, ज्ञान और स्वभाव में स्थिर आचरणरूप आत्मतत्त्व से (निश्चयरत्नत्रय से) च्युत होकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुये मोह, राग, द्वेष आदि भावों में एकत्वरूप से वर्तन करता है तब पुद्गलकर्मों

---

१. समयसार गाथा–२।

के प्रदेशों में स्थित होने से एक साथ परद्रव्य को अपने से एकत्वरूप जानता हुआ और उसी रूप से परिणमन करता हुआ 'परसमय' है, ऐसा प्रतीति में आता है। इस प्रकार इस 'समय' नामक जीव पदार्थ के दो भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर पहले सामान्य लक्षण के द्वारा जीव पदार्थ का स्वरूप बतलाकर उसे 'समय' यह नाम दिया है। पुनः उस समय के दो भेद कर दिये हैं–स्वसमय और परसमय। जो केवलज्ञान को प्रकट करने वाले ऐसे विशेष भेदविज्ञान के बल से रत्नत्रय की एकाग्र परिणति से परिणत होता है वह उसी काल में स्वसमय है। यह स्वसमय का लक्षण बारहवें गुणस्थान में स्थित मुनि के ही पूर्णतया घटित होता है क्योंकि उनका ही भेदज्ञान केवलज्ञान को प्रकट करने में समर्थ है। तथा परसमय के लक्षण में मोह शब्द से दर्शनमोह को ले लेने से और परद्रव्यों को अपने से अभिन्न मान लेने से इस जीव का 'परसमय' यह लक्षण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही पूर्णरूप से घटित होता है। अथवा सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें तक भी बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि का अभाव होने से निश्चयरत्नत्रय माना गया है। वहाँ पर भी स्वसमय का लक्षण घटित हो जाता है किन्तु परसमय का लक्षण तो 'दर्शनमोह' के निमित्त से मिथ्यात्व में ही घटित होता है।

अब प्रश्न यह होता है कि पुनः चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती स्वसमय हैं या परसमय ? इस प्रश्न के उत्तर के पहले आप जयसेनाचार्य की टीका पढ़ लीजिये।

उत्थानिका—अब गाथा के पूर्वार्ध से स्वसमय और गाथा के उत्तरार्ध से परसमय को कहूँगा, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्यदेव अगले सूत्र का निरूपण करते हैं–

तात्पर्यवृत्ति—शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध बुद्ध एकस्वभावरूप निश्चय–प्राण के द्वारा, अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिकरूप (मतिज्ञानादिरूप) अशुद्धभाव प्राणों के द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से अपने–अपने योग्य द्रव्यप्राणों के द्वारा जो जी रहा है, जीवेगा और पूर्व में जीवित था वह जीव है। वह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस काल में तुम उस जीव को निश्चितरूप से स्वसमय समझो।

उसी का स्पष्टीकरण—विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में जो रुचिरूप है वह सम्यग्दर्शन है, उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना सम्यग्ज्ञान है और वैसे ही उसी निज परमात्म तत्त्व में निश्चल अनुभूति का होना वीतरागचारित्र है। इस कहे गये लक्षण वाले निश्चयरत्नत्रय से परिणत हुये जीव–पदार्थ को तुम हे शिष्य। 'स्वसमय' जानो और जो पुद्गल कर्मोपदेश में स्थित है उसी को तुम परसमय जानो अर्थात् पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हुये जो नारक आदि उपदेश–संज्ञायें हैं, पूर्व–कथित निश्चयरत्नत्रय के अभाव से जब यह जीव उन पर्यायों में स्थित है तब तुम उसे 'परसमय' जानो। इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ पर स्पष्टरूप से निश्चयरत्नत्रय से परिणत महामुनि को 'स्वसमय' और नर नारकादि पर्यायों से परिणत जीव को 'परसमय' कहा है।

महामुनि भी जब तब निर्विकल्पध्यान में स्थित होने में असमर्थ हैं तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदिरूप षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन करते हैं तब तक वे 'परसमय' ही कहलाते हैं। अतः श्रावक व असंयत सम्यग्दृष्टि तो परसमय हैं ही हैं। हाँ, मिथ्यादृष्टि सदृश 'परसमय' नहीं हैं क्योंकि इनके अनंतसंसार के लिये कारणभूत ऐसा दर्शनमोह नहीं है।

अब इसी स्वसमय और परसमय की व्याख्या श्रीकुंदकुददेवकृत ही रयणसार में देखिये–

बहिरंतरप्पभेयं परसमय भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे।।
मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
सत्तोतिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।१२९।।

"बहिरात्मा और अंतरात्मा के भेद से परसमय को दो भेदरूप श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है और परमात्मा स्वसमय हैं। अब इन्हें गुणस्थानों में समझो। मिश्रगुणस्थानपर्यंत तरतमता से बहिरात्मा हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा हैं, पांचवे से लेकर ग्यारहवें गुण स्थान तक ऐसे ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ ये सात गुणस्थान वाले मध्यम अंतरात्मा हैं, १२ वें गुणस्थानवर्ती क्षीणकषायी उत्तम अंतरात्मा हैं और परमजिन अर्हंत तथा सिद्ध ये परमात्मा हैं।"

इस कथन से तो अर्हंत और सिद्धपरमेष्ठी ही स्वसमयी हैं अन्य सभी अंतरात्मा व बहिरात्मा परसमयी ही हैं तथा पूर्वोक्त टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि व जयसेनाचार्य के अभिप्राय से शुद्धोपयोग में स्थित अप्रमत्त मुनि स्वसमयी हैं एवं उसके नीचे सरागचर्या वाले मुनि, श्रावक व सम्यग्दृष्टि जीव परसमयी हैं तथा पंचास्तिकाय की टीका के आधार से दोनों ही आचार्यों के अभिप्राय से प्रमत्तमुनि आदि सूक्ष्म परसमयी हैं। मिथ्यादृष्टि जीव स्थूलपरसमयी हैं। अभिप्रायः यही हुआ कि सराग सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ आदि गुणस्थान में रहते हुये स्वसमय की श्रद्धा करते हैं। उसरूप परिणति उनकी अप्रमत्तदशा में ही होती है।

विचार करके देखा जाये तो इनके शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा ऐसे भी दो अर्थ कर सकते हैं। पुनः शुद्धात्मा–स्वसमय के दो भेद किये जा सकते हैं–एक शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी और दूसरा शुद्धोपयोगी महामुनि। जैसा कि अगली गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है–'एयत्तणिच्छयगदो' "स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेद–रत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगत कहलाता है, यह लक्षण सिद्धों में ही घटेगा। पुनः कहते हैं कि–अथवा अभेदरत्नत्रय से परिणत आत्मा भी एकत्वनिश्चय अवस्था को प्राप्त समय–स्वसमय है। यह लक्षण शुद्धोपयोगी महामुनि में घटेगा।

ऐसे अशुद्धात्मा–परसमय से, मिथ्यात्व के साथ एकत्व को प्राप्त मिथ्यादृष्टि सर्वथा परसमय है। राग द्वेष से परिणत समयग्दृष्टी और श्रावक तथा प्रमत्तमुनि भी परसमय हैं ऐसा समझना चाहिये। इस तरह इस ग्रंथ में स्वसमय का वर्णन ही प्रधान है।

''तित्थं तित्थंकरा य।''

अमृतवर्षिणी टीका–

तीर्थ और तीर्थंकर भगवान

तीर्थ और तीर्थंकर भगवान मंगलकारी होवें।

षट्खण्डागम धवला पुस्तक में बंधस्वामित्वविचय अधिकार में **तीर्थ का लक्षण** दिया है—

धम्मो णाम सम्मद्दंसणतित्थस्स णाण–चरित्ताणि' एदेहिं संसार–सायरं तरंति त्ति एदाणि तित्थं।[१]

धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इनसे संसार–सागर को तरते हैं, इसीलिए इन्हें तीर्थ कहा जाता है।

मूलाचार ग्रंथ में तीर्थ का स्वरूप बताया है—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से संयुक्त तीर्थ दो प्रकार का है। इन दोनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं।।५६०।।

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीर्थ के दो भेद हैं। द्रव्यतीर्थ तो अपरमार्थभूत है और भावतीर्थ परमार्थभूत है, क्योंकि इसमें अन्य की अपेक्षा का अभाव है। इन दोनों का वर्णन करते हैं।

द्रव्यतीर्थ का स्वरूप कहते हैं–

गाथार्थ—दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल कीचड़ को धो डालना, इन तीन कारणों से जो युक्त है, वह द्रव्य से तीर्थ है।।५६१।।

आचारवृत्ति—द्रव्यतीर्थ से (गंगा पुष्कर आदि से) संताप का उपशमन होता है, प्यास का विनाश होता है और कुछ काल तक ही मल का शोधन हो जाता है, किन्तु उससे धर्म आदि गुण नहीं होते हैं। इसलिए इन तीन कारणों से सहित होने से उसे द्रव्य तीर्थ कहते हैं।

भावतीर्थ को कहते हैं–

गाथार्थ—सभी जिनेश्वर दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इसलिए वे भाव से तीर्थ हैं।।५६२।।

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से संयुक्त होने से सभी तीर्थंकर भावतीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार से ये तीर्थंकर भावउद्योत से लोक को प्रकाशित करने वाले हैं और भावतीर्थ के कर्ता होने से 'धर्मतीर्थंकर' कहलाते हैं। अथवा सभी जिनवरों ने इस रत्नत्रय का सेवन किया है इसलिए वह भी भावतीर्थ कहलाता है।

---

१. धवला पु. ८ पृ. ९२।

सोलहकारण भावनाएँ

जो सोलहकारण भावना भाते हैं तद्रूप परिणत होते हैं वे ही तीर्थंकर होते हैं–

कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंत्ति ?।।३९।।

तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं बंधंति[१]।।४०।।

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यधाथामे तधातवे साहूणपासु-अपरिचागदाए समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति[१]।।४१।।

अर्थ—किन कारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं ?।।३९।।

वहाँ इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं।।४०।।

सोलहकारण भावनाओं के नाम–

१. दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील व्रतों में निरतिचारता, ४. छह आवश्यकों में अपरिहीनता, ५. क्षणलव-प्रतिबोधनता, ६. लब्धिसंवेगसम्पन्नता, ७. यथाशक्तितप, ८. साधुओं को प्रासुक-परित्यागता, ९. साधुओं की समाधिसंधारणता, १०. साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११. अरहंत भक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचन भक्ति, १४. प्रवचनवत्सलता, १५. प्रवचनप्रभावनता और १६. अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र को बांधते हैं।।४१।।

मैंने षट्खण्डागम ग्रंथ की 'सिद्धान्तचिंतामणि' नाम की टीका में संक्षेप में इनके लक्षण व तत्त्वार्थसूत्र में कथित भावनाओं के अंतर को दिखाया है। जैसे कि—

अब यहाँ संक्षेप से **इन सोलहकारणों के नाम और लक्षण** कहेंगे—

१. दर्शनविशुद्धता भावना—शंका आदि आठ मलदोष और तीन मूढ़ता से रहित जो सम्यग्दर्शन होता है, वही दर्शनविशुद्धता है।

२. विनयसम्पन्नता—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से विनय तीन प्रकार का है, उससे सहित विनयसम्पन्नता है।

३. शीलव्रतेषु निरतिचारता—सम्यक्त्व सहित पाँच व्रतों में और व्रतों के रक्षण लक्षण वाले शीलों में अथवा गुणव्रत-शिक्षाव्रत आदि सात व्रतों—शीलों में अतिचाररहितपना नाम की यह तीसरी भावना है।

---

१. धवला पुस्तक ८, पृ. ७६ से ७९ तक।

४. आवश्यकों में अपरिहीनता—समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं में हीनता नहीं करना अर्थात् यथासमय आवश्यक क्रियाओं को करना, यह अर्थ है।

५. क्षणलवप्रतिबुद्धता—क्षण और लव ये कालविशेष के वाची हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत, शील और गुण इनको उज्ज्वल करना, इनके कलंक—दोषों को प्रक्षालित करना अथवा इनको—दोषों को जला देना। प्रत्येक क्षणों में—लवों में सम्यग्दर्शन आदि गुणों को उज्ज्वल करना यह अभिप्राय है।

६. लब्धिसंवेग सम्पन्नता—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जीव का समागम लब्धि है और संवेग का अर्थ हर्ष है। लब्धिसंवेग की संप्राप्ति नाम की यह भावना है।

७. यथा शक्तितप—यथाशक्ति बारह प्रकार के तपों में प्रवृत्ति करना चाहिए।

८. साधुप्रासुकपरित्यागता—साधुओं को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का दान देना। यह भावना साधुओं में ही संभव है।

९. साधुसमाधि संधारणता—साधुओं को रत्नत्रय में सम्यक् प्रकार से अवस्थित करना चाहिए।

१०. साधु और वैयावृत्ययोगयुक्तता—साधुओं की वैयावृत्ति में—सेवा में योगयुक्त होना, यह भावना होती है।

११. अर्हद्भक्ति—घातिया कर्मों से रहित अर्हंतों की और सिद्धों की भक्ति, ऐसी अर्हद्भक्ति नाम की यह भावना है।

१२. बहुश्रुतभक्ति—द्वादशांग के ज्ञानी—उपाध्याय गुरुओं की भक्ति करना, ऐसी यह भावना है।

१३. प्रवचनभक्ति—सिद्धान्त को प्रवचन कहते हैं, उसकी भक्ति नाम से यह भावना है।

१४. प्रवचनवत्सलता—प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त, उसमें होने वाले—उसमें रत हुए ऐसे देशव्रती, महाव्रती और असंयतसम्यग्दृष्टी हैं। उनमें अनुराग होना, ये मेरे हैं ऐसा भाव होना प्रवचनवत्सलता है।

१५. प्रवचनप्रभावनता—आगम का अर्थ प्रवचन है, उसकी वृद्धि करना प्रवचनप्रभावना नाम की भावना है।

१६. अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता—नित्य ही ज्ञानोपयोग में युक्तपना—तन्मयता का होना यह सोलहवीं भावना है।

यहां तक इस सूत्र द्वारा कथित सोलहकारण भावनाओं को कहा गया है। अब विस्तार से कहते हैं—

श्री भूतबलि आचार्यवर्य ने इन उपर्युक्त सोलह कारणों को कहा है। वर्तमानकाल में "तत्त्वार्थसूत्र" ग्रंथ में कथित जो तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारणभूत सोलहकारण भावनाएं हैं, उनके क्रमों में और इनके क्रमों में अन्तर है। उसे ही दिखाते हैं—

१. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता ३. शील व्रतों में अनतिचार ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ५. संवेग ६. शक्तितस्त्याग ७. शक्तितस्तप ८. साधुसमाधि ९. वैयावृत्यकरण १०. अर्हद्भक्ति ११. आचार्यभक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक अपरिहाणि १५. मार्गप्रभावना और १६. प्रवचनवत्सलत्व, ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हैं।।२४।।

यहाँ पर श्री भट्टाकलंकदेव आचार्य के द्वारा कथित इन भावनाओं का संक्षिप्त लक्षण कहते हैं—

१. जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

२. ज्ञानादि में और उनके धारियों में आदर करना अथवा कषायों की निवृत्ति होना विनयसम्पन्नता है।

३. चारित्र के भेदरूप शीलव्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति, शीलव्रतों में निरतिचारता है—यह शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

४. ज्ञानभावना में नित्य ही युक्त—उपयोग लगाना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है।

५. संसार के दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग भावना है।

६. पर की प्रीति के लिए अपने धन का त्याग करना त्याग भावना है।

७. अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर जिनशास्त्रों से अविरोधी कायक्लेश आदि करना तप भावना है।

८. भाण्डागार की अग्नि प्रशमन के समान मुनिगणों के तप का संधारण करना समाधि भावना है।

९. गुणवानों पर दुःख के आ जाने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य भावना है।

१०. अर्हंतों की भक्ति करना, भावविशुद्धियुक्त अनुराग होना अर्हद्भक्ति भावना है।

११. आचार्यों की भक्ति करना आचार्यभक्ति भावना है।

१२. बहुश्रुत—उपाध्यायों की भक्ति—बहुश्रुतभक्ति भावना है।

१३. प्रवचनों की भक्ति करना—अनुराग करना प्रवचनभक्ति भावना है।

१४. छहों आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है।

१५. ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि से धर्म को प्रकाशित करना मार्गप्रभावना भावना है।

१६. जैसे बछड़े में गाय का प्रेम होता है वैसे ही सहधर्मियों में स्नेह भाव रखना प्रवचनवत्सलत्व भावना है।

ये सोलहकारण भावना सम्यक् प्रकार से भावित किये गये कतिपय हों या संपूर्ण हों, ये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

पूर्वोक्त षट्खण्डागम सूत्र में कथित भावनाओं में और तत्त्वार्थसूत्र में कथित भावनाओं में पंद्रह भावनाएँ तो समान ही हैं, केवल यहाँ षट्खण्डागम में "क्षणलवप्रतिबुद्धता" नाम की भावना है और वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में आचार्यभक्ति नाम की भावना है। दोनों के लक्षण में भी अन्तर है।

भगवान महावीर की दिव्यध्वनि श्रावण कृष्णा एकम् को खिरी

स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना।।९०।।

श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूवाह्णे शासनार्थमुदाहरत्।।९१।।

तदनन्तर श्रीवर्धमान प्रभु ने श्रावण मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के प्रातःकाल के समय अभिजित नक्षत्र में समस्त संशयों को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्यध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया।।९०–९१।।

(हरिवंशपुराण, सर्ग–२, पृ. १९)

''चेइयरुक्खा य चेइयाणि''

अमृतवर्षिणी टीका–

चैत्यवृक्ष का वर्णन

भवनवासी देवों के निवासस्थान भवन, भवनपुर और आवास के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें रत्नप्रभा पृथ्वी में स्थित निवासस्थानों को भवन, द्वीप-समुद्रों के ऊपर स्थित निवासस्थानों को भवनपुर और रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादिक के ऊपर स्थित निवास स्थानों को आवास कहते हैं। नागकुमारादिक देवों में से किन्हीं के तो भवन, भवनपुर और आवासरूप तीनों ही तरह के निवासस्थान होते हैं परन्तु असुरकुमारों के केवल एक भवनरूप ही निवासस्थान होते हैं।।२२-२३।। अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवों के भवन क्रमशः चित्रा पृथिवी के नीचे-नीचे दो हजार, बयालीस हजार और एक लाख योजनपर्यन्त जाकर हैं।।२४।। अल्पर्द्धिक २०००, महर्द्धिक ४२०००, मध्य ऋद्धिधारक १००००००। अब अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवों के निवासस्थानों का विस्तार कहा जाता है। ये सब भवन समचतुष्कोण तथा वज्रमय द्वारों से शोभायमान हैं।।२५।। ये भवन बाहल्य में (ऊँचाई में) तीन सौ योजन और विस्तार में संख्यात व असंख्यात योजन प्रमाण होते हैं। इनमें से संख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में संख्यात और शेष असंख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में असंख्यात भवनवासी देव रहते हैं, ऐसा भवनों का स्वरूप और विस्तार जानना चाहिए।।२६-२७।।[१]

वेदी-परकोटे में भवनों के चारों तरफ चैत्यवृक्ष हैं

उन भवनों की चारों दिशाओं में जिनभगवान् से उपदिष्ट योजन प्रमाण जाकर एक-एक दिव्य वेदी (कोट) पृथक्-पृथक् उन भवनों को मध्य में वेष्टित करती है।।२८।। उत्तमोत्तम रत्नों से व्याप्त इन सब अकृत्रिम वेदियों की ऊँचाई दो कोस और विस्तार पांच सौ धनुष प्रमाण होता है।।२९।। गोपुरद्वारों से युक्त और उपरिम भाग में **जिनमन्दिरों से सहित** वे वेदियां भवनवासी देवों से रक्षित होती हुई सुशोभित होती हैं।।३०।। वेदियों के बाह्य भाग में **चैत्यवृक्षों से सहित** और अपने नाना वृक्षों से युक्त पवित्र अशोक वन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन स्थित हैं।।३१।। चैत्यवृक्षों के स्थल का विस्तार दो सौ पचास योजन तथा ऊँचाई मध्य में चार योजन और अन्त में अर्ध कोस प्रमाण होती है।। ३२।। पीठों की भूमि का विस्तार छह योजन, मुख का विस्तार दो योजन और ऊँचाई चार योजन होती है। इन पीठों के ऊपर बहुमध्यभाग में रमणीय चैत्यवृक्ष स्थित होते हैं।।

---

१. तिलोयपण्णत्ति अधिकार–३ पृ. ११० से ११८ तक

३३।। भूविस्तार ६, मु. वि. २, ऊँचाई ४ यो.। प्रत्येक वृक्ष का अवगाढ़ एक कोस, स्कंध का उत्सेध एक योजन और शाखाओं की लंबाई चार योजन प्रमाण कही गयी है।।३४।। अवगाढ़ को. १, स्कन्ध की ऊँचाई यो. १, शाखाओं की लंबाई यो. ४। वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नों की शाखाओं से युक्त, विचित्र पुष्पों से अलंकृत और उत्कृष्ट मरकत मणिमय उत्तम पत्रों से व्याप्त होते हुए अतिशय शोभा को प्राप्त हैं।।३५।।

विविध प्रकार के अंकुरों से मंडित, अनेक प्रकार के फलों से युक्त, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित, छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, घंटाजालादि से रमणीय और आदि-अन्त से रहित, ऐसे वे पृथिवी के परिणामरूप सब भवनों के चैत्यवृक्ष नियम से जीवों की उत्पत्ति और विनाश के निमित्त होते हैं।।३६-३७।। चैत्यवृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित और देवों से पूजनीय **पांच-पांच जिनप्रतिमाएँ विराजमान** होती हैं।।३८।। ये जिनप्रतिमाएँ चार तोरणों से रमणीय, आठ महामंगल द्रव्यों से सुशोभित और उत्तमोत्तम रत्नों से निर्मित मानस्तम्भों से अतिशय शोभायमान होती हैं।।३९।।

भवनवासी देवों के भवनों में जिनमंदिर

इन वेदियों के बहुमध्य भाग में सर्वत्र एक सौ योजन ऊंचे, वेत्रासन के आकार और रत्नमय महाकूट स्थित हैं।।४०।। इन कूटों के मूल भाग में और ऊपर चारों तरफ दिव्य वेदियां हैं । इन वेदियों का सम्पूर्ण वर्णन वेदियों जैसा ही समझना चाहिये।।४१।। इन वेदियों के भीतर उत्तम एवं विविध प्रकार के वृक्ष समूह से व्याप्त और वापिकाओं से परिपूर्ण वनसमूह हैं, फिर इनके आगे दिव्य वेदियां हैं।।४२।। प्रत्येक कूट के ऊपर एक-एक **जिनेन्द्र भवन** है, जो उत्तम रत्न एवं सुवर्ण से निर्मित तथा विचित्र विन्यास से रमणीय है।।४३।। सब जिनालयों में चार-चार गोपुरों से संयुक्त तीन कोट, प्रत्येक वीथी में एक मानस्तंभ व नौ स्तूप तथा (कोटों के अन्तराल में) क्रम से वनभूमि, ध्वजभूमि और चैत्यभूमि होती हैं।।४४।। उन जिनालयों में चारों वनों के मध्य में स्थित तीन मेखलाओं से युक्त नन्दादिक वापिकायें और तीन पीठों से संयुक्त धर्म विभव तथा **चैत्यवृक्ष शोभायमान** होते हैं।।४५।। ध्वजभूमि में सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र, इन चिह्नों से अंकित प्रत्येक चिह्न वाली एक सौ आठ महाध्वजाएँ और एक-एक महाध्वजा के आश्रित एक सौ आठ क्षुद्रध्वजायें होती हैं।।४६।। उपर्युक्त जिनालय वंदनमण्डप, अभिषेकमण्डप, नर्तनमण्डप, संगीतमण्डप और आलोक (प्रेक्षण) मंडप, इन मण्डपों तथा क्रीडागृह, गुणनगृह अर्थात् स्वाध्यायशाला एवं विशाल व उत्तम पट्टशालाओं (चित्रशालाओं से) से युक्त होते हैं।।४७।। जिनमन्दिरों में देवच्छंद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्ह और सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियां एवं आठ मंगल द्रव्य होते हैं।।४८।। झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ इन आठ मंगल द्रव्यों में से वहां प्रत्येक एक सौ आठ होते हैं।।४९।। ये जिनभवन चमकते हुये रत्नदीपकों से सहित, पांच वर्ण के

रत्नों से निर्मित, गोशीर्ष, मलयचंदन, कालागरु और धूप के गन्ध से व्याप्त तथा भंभा, मृदंग, मर्दल, जयघंटा, कांस्यताल, तिवली, दुंदुभि एवं पटहादिक के शब्दों से नित्य ही शब्दायमान रहते हैं।।५०-५१।। उन भवनों में सिंहासनादिक से सहित, हाथ में चँवर लिये हुये नागयक्षयुगल से युक्त और नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित ऐसी जिनप्रतिमायें विराजमान हैं।।५२।।

इन्द्रों के यहां ओलगशाला के आगे चैत्यवृक्ष

सब इन्द्रों के चिन्ह मणियों से खचित किरीट (तीन शिखर वाला मुकुट) और प्रतीन्द्रादिक चार देवों का चिन्ह साधारण मुकुट ही जानना चाहिये ।।१३४।। ओलगशालाओं के आगे विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित चैत्यवृक्ष होते हैं । ये (अग्रिमगाथा में निर्दिष्ट) चैत्यवृक्ष असुरादिक कुलों से चिन्हरूप होते हैं ।।१३५।। अश्वत्थ (पीपल), सप्तपर्ण, शाल्मलि, जामुन, वेतस, कदंब तथा प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम, ये दश चैत्यवृक्ष क्रम से उन असुरादिक कुलों के चिन्हरूप होते हैं।।१३६।। **प्रत्येक चैत्यवृक्ष के मूल भाग में चारों ओर पल्यंकासन से स्थित परम रमणीय पांच-पांच जिनेन्द्रप्रतिमायें विराजमान होती हैं।।१३७।।** प्रतिमाओं के आगे बीस रत्नमय स्तम्भ (मानस्तम्भ) होते हैं । स्तम्भों की पीठिकायें प्रतिमाओं की पीठिकाओं के सदृश जानना चाहिये।।१३८।। **एक-एक मानस्तम्भ के ऊपर चारों दिशाओं में सिंहासन के विन्यास से युक्त अट्ठाईस जिनेन्द्रप्रतिमायें होती हैं ।।१३९।।**

इस प्रकार बीस मानस्तम्भों में कुल ५६० प्रतिमाएं होती हैं।

छत्र के ऊपर छत्र इत्यादिक से युक्त जिनेन्द्रप्रतिमाओं का शेष वर्णन चार वनों के मध्य में स्थित चैत्यवृक्षों के सदृश जानना चाहिये ।।१४०।। दश भेदरूप भवनवासी देवों का प्रमाण असंख्यात जगश्रेणीरूप है। उसका प्रमाण घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगश्रेणीमात्र है ।।१४३।। [१]

व्यंतर देवों के चैत्यवृक्ष

किन्नर-किम्पुरुषादिक आठ प्रकार के व्यन्तर देवों संबंधी तीनों प्रकार के (भवन, भवनपुर, आवास) भवनों के सामने एक-एक चैत्यवृक्ष है।।२७।। अशोक, चम्पक, नागद्रुम, तुम्बरु, न्यग्रोध (वट), कण्टकवृक्ष, तुलसी और कदम्ब वृक्ष, इस प्रकार क्रम से वे चैत्यवृक्ष आठ प्रकार के हैं।।२८।। ये सब चैत्यवृक्ष भवनवासी देवों के चैत्यवृक्षों के सदृश जीवों की उत्पत्ति व विनाश के कारण और पृथिवीस्वरूप हैं।।२९।। **चैत्यवृक्षों के मूल में चारों ओर चार तोरणों से शोभायमान चार-चार जिनेन्द्रप्रतिमायें विराजमान हैं।।३०।।** पल्यंक आसन से स्थित, प्रातिहार्यों से सहित और दर्शनमात्र से ही पाप को दूर करने वाली वे रत्नमयी जिनेन्द्रप्रतिमायें आप लोगों को मोक्ष प्रदान करें।।३१।। संख्यात वर्ष प्रमाण आयु से युक्त व्यंतर देव एक समय में संख्यात योजन और असंख्यात

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. १२८।

वर्ष प्रमाण आयु से युक्त वह असंख्यात योजन जाता है।।९७।। किन्नर प्रभृति आठों व्यंतर देवों में से प्रत्येक की ऊंचाई दश धनुषप्रमाण जानना चाहिये ।।९८।। तेईस करोड़ चार लाख सूच्यंगुलों के वर्ग का (अर्थात् तीन सौ योजन वर्ग का) जगश्रेणी के वर्ग में भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना व्यन्तर देवों का प्रमाण है असंख्यातों हैं ।।९९।। व्यन्तरों के असंख्यात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने देव उत्पन्न होते हैं और उतने ही मरते हैं ।।१००।।[१]

इन्द्रों (दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों) के नगरों की चारों दिशाओं में (एक-एक) चार चैत्यवृक्ष हैं। जिनके मूल में चारों दिशाओं में रत्नपीठ के आश्रित, व्यन्तर देवों से पूजित **जिनेन्द्र भगवान की दिव्य मूर्तियाँ हैं।**।५४-५५।। इन्हीं चारों वृक्षों के सामने तीन-तीन मणिमय पीठ के ऊपर, तीन कोट से युक्त चार मानस्तम्भ हैं, जिनके शिखर सिद्ध भगवान् के बिम्बों से युक्त हैं।।५६।।

अब पिशाचादि व्यन्तर देवों के चैत्यवृक्षों के भिन्न-भिन्न नाम, उनमें स्थित प्रतिबिंब एवं मानस्तम्भों का वर्णन करते हैं :—

अर्थ :—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष,राक्षस, भूत और पिशाच इन आठों व्यन्तर देवों के क्रम से अशोक, चम्पक, नाग(केसर), तुम्बरु, वट, वदरी, तुलसी और कदम्ब नाम वाले **चैत्यवृक्ष** होते हैं। ये ऊँचे-ऊँचे वृक्ष पृथ्वी के सारमय (पृथ्वीकायिक) और मणिपीठ के अग्रभाग पर स्थित होते हैं। इन वृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में जिनेन्द्र भगवान की चार-चार तोरण द्वारों से युक्त, देदीप्यमान और दिव्य पृथक्-पृथक् चार प्रतिमाएँ हैं तथा एक-एक प्रतिमा के प्रति मुक्तादामों एवं मणिमय घण्टाओं से युक्त, मणिमय तीन-तीन पीठ और प्राकार से युक्त एक-एक मानस्तम्भ हैं।।५७-६०।।

अब नगरों की चारों दिशाओं में स्थित वनों एवं विदिशाओं में स्थित नगरों का कथन करते हैं:—

अर्थ :—नगरों की चारों दिशाओं में दो-दो हजार योजन छोड़कर अशोक, सप्तपर्ण, आम्र और चम्पक नाम के चार-चार शाश्वत वन हैं, जो एक-एक लाख योजन लम्बे तथा पचास-पचास हजार योजन चौड़े हैं। इन वनों के मध्य में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से युक्त **अशोक, सप्तपर्ण, आम्र और चम्पक नाम के चार-चार चैत्यवृक्ष** शोभायमान होते हैं।।६१-६३।। नगरों की चारों विदिशाओं में गणिकाओं (प्रधान देवियों) के वलयाकार, शाश्वत और प्राकार आदि से युक्त नगर हैं, जो ८४००० योजन लम्बे और ८४००० योजन ही चौड़े हैं। शेष व्यन्तर देवों के नगर अनेक द्वीपों एवं अनेक समुद्रों में हैं।।६४-६५।।

ऊँचे वृक्ष पृथ्वी के सारमय (पृथ्वीकायिक) और मणिपीठ के अग्रभाग पर स्थित होते हैं। इन **वृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में जिनेन्द्र भगवान की चार-चार तोरणद्वारयुक्त, देदीप्यमान**

---

१. सिद्धान्तसार दीपक, अधिकार-१३ पृ. ४६३ से ४६४ तक।

और दिव्य पृथक्-पृथक् चार प्रतिमाएँ हैं तथा एक-एक प्रतिमा के प्रति मुक्ता एवं मणिमय घण्टाओं से युक्त, मणिमय तीन-तीन पीठ और प्राकार से युक्त एक-एक मानस्तम्भ हैं।।५७-६०।।

देवों के नगर के बाहर वन-उद्यान में चैत्यवृक्ष में जिनप्रतिमायें

अब नगरों की चारों दिशाओं में स्थित वनों एवं विदिशाओं में स्थित नगर का कथन करते हैं—

अर्थ—नगरों की चारों दिशाओं में दो-दो हजार योजन छोड़कर अशोक, सप्तपर्ण, आम्र, चम्पक नाम के चार-चार शाश्वत वन हैं, जो एक-एक लाख योजन लम्बे तथा पचास-पचास योजन चौड़े हैं। इन वनों के मध्य में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से युक्त अशोक, सप्तच्छद और चम्पक नाम के चार-चार **चैत्यवृक्ष** शोभायमान होते हैं।।६१-६३।। नगरों की चारों विदिशाओं में प्रधान देवियों के वलयाकार, शाश्वत और प्राकार आदि से युक्त नगर हैं, जो ८४००० लम्बे और ८४००० योजन ही चौड़े हैं। शेष व्यन्तर देवों के नगर अनेक द्वीपों एवं अनेक समुद्रों में हैं।।६४-६५।।

अकृत्रिम जिनमंदिर के परकोटे में चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष आदि में जिनप्रतिमाएँ

पीठ के चारों ओर उत्तम गोपुरों से युक्त बारह वेदियां भूमितल पर और इतनी ही पीठ के ऊपर हैं।।१९०३।।

पीठ के उपरिम भाग पर सोलह कोस प्रमाण ऊंचा दिव्य व उत्तम तेज को धारण करने वाला सिद्धार्थ नामक चैत्यवृक्ष है ।। १९०४ ।। को. १६ । चैत्यवृक्ष के स्कन्ध की ऊँचाई चार कोस, बाहल्य एक कोस और शाखाओं की लम्बाई व अन्तराल बारह कोस प्रमाण है।।१९०५।। को. ४ । १। १२। १२। पीठ के ऊपर इसी प्रमाण को धारण करने वाले **एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस इसके परिवार वृक्ष हैं।**।१९०६।। १४०१२०। ये वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नों से निर्मित शाखाओं, मरकतमणिमय पत्तों, पद्मरागमणिमय फलों और सुवर्ण एवं चाँदी से निर्मित पुष्पों से सदैव संयुक्त रहते हैं।।१९०७।।

ये सब उत्तम दिव्य चैत्यवृक्ष अनादिनिधन और पृथ्वीरूप होते हुए जीवों की उत्पत्ति और विनाश के स्वयं कारण होते हैं ।। १९०८ ।। **इन वृक्षों में प्रत्येक वृक्ष के चारों ओर विविध प्रकार के रत्नों से रचित चार-चार जिन और सिद्धों की प्रतिमायें विराजमान हैं।** ये प्रतिमायें जयवन्त होवें ।। १९०९ ।।

चैत्यवृक्षों के आगे सुवर्णमय दिव्य पीठ है। इसकी ऊँचाई, लम्बाई और विस्तारादिक का उपदेश नष्ट हो गया है ।।१९१०।। पीठ के चारों ओर भूमितल पर मार्ग व अट्टालिकाओं, गोपुरद्वारों और तोरणों से विचित्र बारह वेदियां हैं।।१९११।।[१]

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३९० से ३९३ तक।

समवसरण में चैत्यवृक्ष व सिद्धार्थ वृक्ष पर जिनप्रतिमायें

इसके आगे चौथी उपवन भूमि होती है, जिसमें पूर्वादिक दिशाओं के क्रम से अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन ये चार वन शोभायमान होते हैं।।८०३।। ये उपवनभूमियाँ विविध प्रकार के वनसमूहों से मण्डित, विविध नदियों के पुलिन और क्रीडापर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाओं से रमणीय होती हैं।।८०४।। एक-एक उपवनभूमि में **अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र** ये चार-चार सुन्दर वृक्ष होते हैं।।८०५।। चामरादि (चँवर) से सहित चैत्यवृक्षों की ऊँचाई बारह से गुणित अपने-अपने तीर्थंकरों की ऊँचाई के सदृश होती है।।८०६।। एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त **चार-चार मणिमय जिनप्रतिमाएँ होती हैं।**।८०७।। उपवन की वापिकाओं के जल से अभिषिक्त जनसमूह एक भवजाति को देखते हैं और उसके निरीक्षण मात्र के होने पर अर्थात् वापी के जल में निरीक्षण करने पर सात अतीत व अनागत भवजातियों को देखते हैं।।८०८।। एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित व तीन पीठों के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं।।८०९।। कल्पभूमियों के भीतर पूर्वादिक दिशाओं में **नमेरु, मंदार, संतानक और पारिजात,** ये चार-चार महान् सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं।। ८३३।। ये सब सिद्धार्थ वृक्ष तीन कोटों से युक्त और तीन मेखलाओं के ऊपर स्थित होते हैं। इनमें से प्रत्येक वृक्ष के मूल भाग में विचित्र पीठों से संयुक्त और **वन्दना करने मात्र से ही दुरन्त संसार के भय को नष्ट करने वाली ऐसी रत्नमय चार-चार सिद्धों की प्रतिमाएँ होती हैं**।। ८३४-८३५।। एक-एक सिद्धार्थवृक्ष के आश्रित, तीन कोटों से वेष्टित पीठत्रय के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं।।८३६।। कल्पभूमियों में स्थित सिद्धार्थ कल्पवृक्ष, क्रीडनशालाएँ और प्रासाद बारह से गुणित अपने-अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई के समान ऊँचाई वाले होते हैं।। ८३७।।[१]

पांडुकवन में जिनमंदिर के चैत्यवृक्ष

पीठ के चारों ओर उत्तम गोपुरों से युक्त बारह वेदियां भूमितल पर और इतनी ही पीठ के ऊपर हैं।।१९०३।। पीठ के उपरिम भाग पर सोलह कोस प्रमाण ऊंचा दिव्य व उत्तम तेज को धारण करने वाला सिद्धार्थ नामक चैत्यवृक्ष है ।। १९०४ ।। को. १६ । चैत्यवृक्ष के स्कन्ध की ऊँचाई चार कोस, बाहल्य एक कोस और शाखाओं की लम्बाई व अन्तराल बारह कोस प्रमाण है।।१९०५।। को. ४ । १। १२। १२। पीठ के ऊपर इसी प्रमाण को धारण करने वाले **एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस इसके परिवार वृक्ष हैं**।।१९०६।। १,४०,१२०। ये वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नों से निर्मित शाखाओं, मरकतमणिमय पत्तों, पद्मरागमणिमय फलों और सुवर्ण एवं चाँदी से निर्मित पुष्पों से सदैव संयुक्त रहते हैं।।१९०७ ।। ये सब उत्तम दिव्य चैत्यवृक्ष अनादिनिधन और पृथ्वीरूप होते हुए जीवों की उत्पत्ति और विनाश के स्वयं कारण होते हैं।।१९०८।। **इन वृक्षों में प्रत्येक वृक्ष के चारों ओर**

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. २४८, २५३।

विविध प्रकार के रत्नों से रचित चार-चार जिन और सिद्धों की प्रतिमायें विराजमान हैं। ये प्रतिमायें जयवन्त होवें।।१९०९।। चैत्यवृक्षों के आगे सुवर्णमय दिव्य पीठ है। इसकी ऊँचाई, लम्बाई और विस्तारादिक का उपदेश नष्ट हो गया है।।१९१०।। [१]

समवसरण में उपवनभूमि में चैत्यवृक्षों में जिनप्रतिमायें

उन चारों वनों में से पहला अशोक वन जो कि प्राणियों के शोक को नष्ट करने वाला था, लाल रंग के फूल और नवीन पत्तों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने अनुराग (प्रेम) का ही वमन कर रहा हो।।१८०।। प्रत्येक गाँठ पर सात-सात पत्तों को धारण करने वाले सप्तच्छद वृक्षों का दूसरा वन भी सुशोभित हो रहा था जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वृक्षों के प्रत्येक पर्व पर भगवान् के सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व, पारिव्राज्य आदि सात परम स्थानों को ही दिखा रहा हो।।१८१।। फूलों के भार से सुशोभित तीसरा चम्पक वृक्षों का वन भी सुशोभित हो रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान की सेवा करने के लिए दीपांग जाति के कल्पवृक्षों का वन ही आया हो।।१८२।। तथा कोयलों के मधुर शब्दों से मनोहर चौथा आम के वृक्षों का वन भी ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पवित्र उपदेश देने वाले भगवान् की भक्ति से स्तुति ही कर रहा हो।।१८३।। अशोक वन के मध्य भाग में एक बड़ा भारी अशोक का वृक्ष था जो कि सुवर्ण की बनी हुई तीन कटनीदार ऊँची पीठिका पर स्थित था।।१८४।। वह वृक्ष, जिनमें चार-चार गोपुरद्वार बने हुए हैं ऐसे तीन कोटों से घिरा हुआ था तथा उसके समीप में ही छत्र, चमर, भृङ्गार और कलश आदि मंगलद्रव्य रखे हुए थे। १८५।। जिस प्रकार जम्बूद्वीप की मध्य भूमि में जम्बूवृक्ष सुशोभित होता है उसी प्रकार उस अशोक वन की मध्य भूमि में वह अशोक नामक चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था।।१८६।। जिसने अपनी शाखाओं के अग्रभाग से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसार को अशोकमय अर्थात् शोकरहित करने के लिए ही उद्यत हुआ हो।।१८७।। समस्त दिशाओं को सुगन्धित करने वाले फूलों से जिसने आकाश को व्याप्त कर लिया है ऐसा वह चैत्यवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सिद्ध-विद्याधरों के मार्ग को ही रोक रहा हो।।१८८।। वह वृक्ष नीलमणियों के बने हुए अनेक प्रकार के पत्तों से व्याप्त हो रहा था और पद्मराग मणियों के बने हुए फूलों के गुच्छों से घिरा हुआ था।।१८९।। सुवर्ण की बनी हुई उसकी बहुत ऊँची-ऊँची शाखाएँ थीं, उसका देदीप्यमान भाग वज्र का बना हुआ था तथा उस पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह जो मनोहर झंकार कर रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव की तर्जना ही कर रहा हो।।१९०।। वह चैत्यवृक्ष सुर, असुर और नरेन्द्र आदि के मनरूपी हाथियों के बाँधने के लिए खंभे के समान था तथा उसने अपने प्रभामण्डल से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रखा था।।१९१।। उस पर जो शब्द करते हुए घंटे लटक रहे थे उनसे उसने समस्त दिशाएँ बहरी कर दी थीं और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था कि

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३९०, ३९१।

भगवान् ने अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोक में जो विजय प्राप्त की है सन्तोष से मानो वह उसकी घोषणा ही कर रहा हो।।१९२।। वह वृक्ष ऊपर लगी हुई ध्वजाओं के वस्त्रों से पोंछ-पोंछकर आकाश को मेघरहित कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारी जीवों की देह में लगे हुए पापों को ही पोंछ रहा हो।।१९३।। वह वृक्ष मोतियों की झालर से सुशोभित तीन छत्रों को अपने सिर पर धारण कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् के तीनों लोकों के ऐश्वर्य को बिना वचनों के ही दिखला रहा हो।।१९४।। **उस चैत्यवृक्ष के मूलभाग में चारों दिशाओं में जिनेन्द्रदेव की चार प्रतिमाएँ थीं जिनका इन्द्र स्वयं अभिषेक करते** थे।।१९५।। **देव लोग वहाँ पर विराजमान उन जिनप्रतिमाओं की गन्ध, पुष्पों की माला,धूप, दीप, फल और अक्षत आदि से निरन्तर पूजा किया करते** थे।।१९६।। क्षीरसागर के जल से जिनके अंगों का प्रक्षालन हुआ है और जो अतिशय निर्मल हैं ऐसी सुवर्णमयी अरहंत की उन प्रतिमाओं को नमस्कार कर मनुष्य, सुर और असुर सभी उनकी पूजा करते थे।।१९७।। कितने ही उत्तम देव अर्थ से भरी हुई स्तुतियों से उन प्रतिमाओं की स्तुति करते थे, कितने ही उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही उनके गुणों का स्मरण कर तथा चिन्तवन कर गान करते थे।।१९८।। **जिस प्रकार अशोक वन में अशोक नाम का चैत्यवृक्ष है उसी प्रकार अन्य तीन वनों में भी अपनी-अपनी जाति का एक-एक चैत्यवृक्ष था और उन सभी के मूलभाग जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं से देदीप्यमान थे**।।१९९।। इस प्रकार ऊपर कहे हुए चारों वनों में क्रम से अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नाम के चार बहुत ही ऊँचे चैत्यवृक्ष थे।।२००।। मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा विराजमान होने से जो 'चैत्यवृक्ष' इस सार्थक नाम को धारण कर रहे हैं और इन्द्र जिनकी पूजा किया करते हैं ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे।।२०१।। पार्थिव अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न हुए वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् पृथ्वी के स्वामी—राजा के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा अनेक फलों से अलंकृत होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फलों से अलंकृत थे, राजा जिस प्रकार तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी (देदीप्यमान) थे, राजा जिस प्रकार अपने पाद अर्थात् पैरों से समस्त पृथ्वी को आक्रान्त किया करते हैं (समस्त पृथ्वी में अपना यातायात रखते हैं) उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपने पाद अर्थात् जड़ भाग से समस्त पृथ्वी को आक्रान्त कर रहे थे (समस्त पृथ्वी में उनकी जड़ें फैली हुई थीं) और राजा जिस प्रकार पत्र अर्थात् सवारियों से भरपूर रहते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तों से भरपूर थे।।२०२।। वे वृक्ष अपने पल्लव अर्थात् लाल-लाल नयी कोंपलों से ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंग का अनुराग (प्रेम) ही प्रकट कर रहे हों और फूलों के समूह से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हृदय की प्रसन्नता ही दिखला रहे हों। इस प्रकार वे वृक्ष भगवान् की सेवा कर रहे थे।।२०३।। जबकि उन वृक्षों का ही ऐसा बड़ा भारी माहात्म्य था तब उपमारहित भगवान् वृषभदेव के केवलज्ञानरूपी विभव के विषय में कहना ही क्या है—वह तो सर्वथा अनुपम ही था।।२०४।।[१]

---

१. आदिपुराण पर्व-२२, पृ. ५२४ से ५२६ तक।

''उड्ढमहतिरियिलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि।''

अमृतवर्षिणी टीका–

त्रैलोक्य जिनचैत्यालय एक दृष्टि में—
अधोलोक संबंधी

भवनवासी देवों के दश भेदों के पृथक्–पृथक्–

असुरकुमार के ६४००००० + नागकुमार के ८४००००० + सुपर्ण कुमार के ७२००००० + द्वीपकुमार के ७६०००० + उदधिकुमार के ७६००००० + स्तनित कुमार के ७६००००० + विद्युत्कुमार के ७६००००० + दिक्कुमार के ७६००००० + अग्निकुमार के ७६००००० + वायुकुमार के ९६००००० = ७,७२००००० जिन भवन हैं।

मध्यलोक संबंधी

जम्बूद्वीप में सुमेरु पर्वत के १६ + गजदंत के ४ + कुलाचल के ६ + वक्षार पर्वत के १६ + विदेहस्थ विजयार्थ के ३२ + भरत ऐरावत विजयार्ध के २ + जम्बू शाल्मलि वृक्ष के २ = ७८ चैत्यालय हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीप के ७८ + धातकीखण्ड द्वीप के १५६ + पुष्करार्ध के १५६ + इष्वाकार के ४ + मानुषोत्तर पर्वत के ४ + नंदीश्वर द्वीप के ५२ + कुण्डलवर पर्वत के ४ + रुचकवरपर्वत के ४ = ४५८ चैत्यालय हैं।

ऊर्ध्वलोक संबंधी

सौधर्म स्वर्ग के ३२००००० + ईशान स्वर्ग के २८००००० + सानत्कुमार के १२००००० + माहेन्द्र के ८००००० + ब्रह्मयुगल के ४००००० + लांतव युगल के ५०००० + शुक्र–महाशुक्र के ४०००० + शतारसहस्रार के ६००० + आनत प्राणत–आरण–अच्युत के ७०० + तीन अधो ग्रैवेयक के १११ + तीन मध्य ग्रैवेयक के १०७ + तीन ऊर्ध्व ग्रैवेयक के ९१ + नव अनुदिश के ९+ पंच अनुत्तर के ५ = ८४९७०२३ चैत्यालय हैं।

तीन लोक के मिलकर ७,७२००००० + ४५८ + ८४,९७०२३ = ८,५६,९७,४८१ होते हैं।

व्यंतरवासी और ज्योतिर्वासी देवों के असंख्यातों विमान होने से तत्संबंधी चैत्यालय भी असंख्यात हैं।

अढ़ाई द्वीप के ज्योतिर्वासी देवों के विमान एवं उनमें जिनमंदिर

द्वीप, समुद्रों के नाम	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारे
जम्बूद्वीप में	2	2	176	56	66975 × 2 कोड़ाकोड़ी
लवण समुद्र में	4	4	352	112	66975 × 4 कोड़ाकोड़ी
धातकीखण्ड में	12	12	1056	336	66975 × 12 कोड़ाकोड़ी
कालोदधि समुद्र में	42	42	3696	1176	66975 × 42 कोड़ाकोड़ी
पुष्करार्ध में	72	72	6336	2016	66975 × 72 कोड़ाकोड़ी
कुल योग	132	132	11616	3696	8840700 कोड़ाकोड़ी

आगे असंख्यात द्वीप–समुद्रों तक ज्योतिर्वासी देवों के जिनमंदिर असंख्यातों हैं।

इन तीन लोक संबंधी जिनचैत्यालयों को मेरा मन, वचन, काय पूर्वक बारंबार नमस्कार होवे।

ॐ मंत्र में पंचपरमेष्ठी समाविष्ट हैं

'ॐ' प्रणवमंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पांचों परमेष्ठी समाविष्ट हैं। ऐसे 'ॐ' के जाप्य से, ध्यान से व पूजा से सर्व मनोरथ सफल हो जाते हैं।

ओम् का अर्थ है–

अरिहंता असरीरा, आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमेट्ठी।

अर्थ—अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ, अशरीर (सिद्ध) का 'अ', आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ', और मुनि (साधु) का 'म्' इस प्रकार पंचपरमेष्ठियों के प्रथम अक्षर (अ + अ + आ + उ + म्) को लेकर कातन्त्र व्याकरण के सूत्र 'समानः सवर्णे दीर्घी भवति परश्च लोपं' और 'उवर्णे ओ' सूत्र से संधि करने पर 'ओम्' मंत्र सिद्ध होता है। पुनः 'विरामे वा' सूत्र से म् का अनुस्वार होकर 'ॐ' शब्द बनता है।

''सम्मेदे''.....

सम्मेदशिखर स्तोत्र

—शंभु छन्द—

गिरिवर सम्मेदशिखर पावन, श्रीसिद्धक्षेत्र मुनिगण वंदित।
सब तीर्थंकर इस ही गिरि से, होते हैं मुक्तिवधू अधिपति।।
मुनिगण असंख्य इस पर्वत से, निर्वाण धाम को प्राप्त हुए।
आगे भी तीर्थंकर मुनिगण का, शिवथल यह मुनिनाथ कहें।।

सिद्धिवधू प्रिय तीर्थंकर, मुनिगण तीरथराज।
मन वच तन से मैं नमूं, मिले सिद्धिसाम्राज्य।।१।।

गणधर कूट (१)

चौबीस जिनेश्वर के गणीश्वर उन्हें नमूं।
चौदह शतक उनसठ कहे उन सभी को प्रणमूं।।
ये सर्व ऋद्धिनाथ रिद्धि सिद्धि प्रदाता।
मैं शीश झुकाकर नमूं ये मुक्ति प्रदाता।।२।।

ज्ञानधर कूट (२)

—शंभु छन्द—

श्री कुंथुनाथ जिन कूट ज्ञानधर, से निर्वाण पधारे हैं।
उन साथ में इक हजार साधू, सब कर्मनाश गुण धारे हैं।।
इससे छ्यानवे कोड़ाकोड़ी, छ्यानवे कोटि बत्तीस लाख।
छ्यानवे सहस सात सौ ब्यालिस, शिव पहुँचे मुनि नमूं आज।।

भाव सहित इस टोंक को, जो वंदे सिर नाय।
एक कोटि उपवास फल, लहे स्वात्मनिधि पाय।।३।

मित्रधर कूट (३)

नमिजिनवर कूट मित्रधर से, इक सहस साधु सह मुक्ति गये।
इससे नव सौ कोड़ाकोड़ी, इक अरब लाख पैंतालिस ये।।
मुनि सात सहस नौ सौ ब्यालिस, सब सिद्ध हुए उनको वंदूं।
निज आत्म सुधारस पान करूँ, दुःख दारिद संकट को खंडू।।

भाव सहित इस टोंक की, करें वंदना भव्य।
एक कोटि उपवास फल, लहें नित्य सुख नव्य।।४।।

नाटक कूट (४)

श्री अरहनाथ नाटक सुकूट से, सहस साधु सह मुक्ति गये।
इस ही से निन्यानवे कोटि, निन्यानवे लाख महामुनि ये।।
नव सौ निन्यानवे सर्व साधु, निर्वाण पधारे वंदूं मैं।
सम्यक्त्व कली को विकसित कर, संपूर्ण दुःखों से छूटूँ मैं।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
छ्यानवे कोटि उपवास फल, पाय लहूँ निजराज।।५।।

संबल कूट (५)

श्री मल्लिनाथ संबल सुकूट से, मोक्ष गये सब कर्म हने।
मुनि पाँच शतक प्रभु साथ मुक्ति को, प्राप्त किया गुण पाय घने।।
इस ही से छ्यानवे कोटि महामुनि, सर्व अघाती घाता था।
मैं परमानंदामृत हेतू, इन वंदूं गाऊँ गुण गाथा।।

भाव सहित इस टोंक को, वंदूँ बारंबार।
एक कोटि प्रोषधमयी, फल उपवास जु सार।।६।।

संकुल कूट (६)

श्रेयांस प्रभू संकुल सुकूट से, एक सहस मुनि के साथे।
निर्वाण पधारे परम सौख्य को, प्राप्त किया भवरिपु घाते।।
इससे छ्यानवे कोटिकोटि, छ्यानवे कोटि छ्यानवे लक्ष।
नव सहस पाँच सौ ब्यालिस मुनि, शिव गये नमूं कर चित्त स्वच्छ।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
एक कोटि उपवास फल, मिले पुनः शिवराज।।७।।

सुप्रभ कूट (७)

श्री पुष्पदंत सुप्रभ सुकूट से, सहस साधु सह सिद्ध हुये।
इससे ही इक कोड़ाकोड़ी, निन्यानवे लाख महामुनि ये।।
पुनि सात सहस चार सौ अस्सी, मुनी मोक्ष को पाए हैं।
मैं वंदूं नित प्रतिभक्ती से, ये गुण अनंत निज पाए हैं।।

भाव सहित इस टोंक को, जो वंदें कर जोड़।
एक कोटि उपवास फल, लहें विघ्न घनतोड़।।८।।

मोहन कूट (८)

श्री पद्मप्रभू मोहन सुकूट से, तीन शतक चौबिस मुनि सह।
निर्वाण पधारे आत्मसुधारस, पीते मुक्तिवल्लभा सह।।
इससे निन्यानवे कोटि सत्यासी, लाख तेतालिस सहस तथा।
मुनि सात शतक सत्ताइस सब, शिव पहुँचे वंदत हरूँ व्यथा।।

जो वंदें इस टोंक को, स्वर्ग मोक्ष फल लेय।
एक कोटि उपवास फल, तत्क्षण उन्हें मिलेय।।९।।

निर्जर कूट (९)

श्री मुनिसुव्रत निर्जरसुकूट से, सहस साधु सह मुक्ति गये।
इससे निन्यानवे कोटिकोटि, सत्यानवे कोटि महामुनि ये।।
नौ लख नौ सौ निन्यानवे सब, मुनिराज मोक्ष को प्राप्त हुये।
हम इनके चरणों को वंदे, निज समतारस पीयूष पियें।।

कोटि प्रोषध उपवास फल, टोंक वंदते जान।
क्रम से सब सुख पायके, अंत लहें निर्वाण।।१०।।

ललित कूट (१०)

श्री चंद्रनाथ जिन ललितकूट से, सहस मुनी सह मोक्ष गए।
इससे नव सौ चौरासि अरब, बाहत्तर कोटि अस्सि लख ये।।
चौरासि हजार पाँच सौ पंचानवे साधुगण सिद्ध हुए।
इनके चरणों में बार-बार, प्रणमूँ शिवसुख की आश लिए।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
छ्यानवे लाख उपवास फल, मिले सरें सब काज।।११।।

ऋषभदेव भगवान की टोंक (११)

—शेर छंद—

कैलाशगिरि से ऋषभदेव मुक्ति पधारे।
उन साथ मुनि दस हजार मोक्ष सिधारे।।
मैं बार बार प्रभूपाद वंदना करूँ।
निजात्म तत्त्व ज्ञानज्योति से हृदय भरूँ।।१२।।

विद्युत्वर कूट (१२)

श्री शीतल जिन विद्युत् सुकूट से, सहस साधु सह मोक्ष गये।
इससे अठरा कोड़ाकोड़ी अरु, ब्यालीस कोटी साधु गये।।
बत्तीस लाख ब्यालिस हजार, नव शतक पाँच मुनि मोक्ष गये।
इनके चरणारविंद वंदूं, परमानंद सुख की आश लिये।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
एक कोटि उपवास फल, क्रम से निज साम्राज्य।।१३।।

स्वयंभू कूट (१३)

वर कूट स्वयंभू से अनंत जिन, निज अनंत पद प्राप्त किया।
उन साथ सात हज्जार साधु ने, कर्मनाश निज राज्य लिया।।
इससे छ्यानवे कोटिकोटि, सत्तर करोड़ मुनि मोक्ष गये।
पुनि सत्तर लख सत्तर हजार, अरु सात शतक मुनि मुक्त भये।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
नव करोड़ उपवास फल, क्रम से शिव साम्राज्य।।१४।।

धवल कूट (१४)

श्री संभव जिनवर धवलकूट से, हजार मुनिसह मोक्ष गये।
इससे नौ कोड़िकोड़ि बाहत्तर, लाख बयालिस हजार ये।।
पुनि पाँच शतक मुनिराज सर्व, निर्वाण धाम को प्राप्त किये।
इन सबके चरण कमल वंदूं, निज ज्ञानज्योति हो प्रगट हिये।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
ब्यालिस लाख उपवास फल, अनुक्रम से शिवराज्य।।१५।।

वासुपूज्य भगवान की टोंक (१५)

चंपापुरी से वासुपूज्य मोक्ष गये हैं।
उन साथ छह सौ एक साधु मुक्त भये हैं।।
इनके पदारविंद को मैं भक्ति से नमूँ।
निज सौख्य अतीन्द्रिय लहूँ संसार सुख वमूँ।।१६।।

आनन्द कूट (१६)

अभिनंदन जिन आनंद कूट से, हजार मुनिसह सिद्ध बने।
बाहत्तर कोड़िकोड़ि सत्तर, कोटी पुनि सत्तर लाख भने।।
ब्यालीस सहस अरु सातशतक, मुनि यहाँ से मोक्ष पधारे हैं।
इन सबके चरण कमल वंदूँ, ये सबको भवदधि तारे हैं।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना नित्य।
एक लाख उपवास फल, मिले स्वात्म सुख नित्य।।१७।।

सुदत्त कूट (१७)

श्री धर्मनाथ जिन सुदत्त कूट से, कर्मनाश कर मोक्ष गये ।
उनके साथ आठ सौ इक मुनि, पूर्ण सौख्य पा मुक्त भये ।।
उससे उनतिस कोड़ाकोड़ी, उन्निस कोटी साधू वंदूं।
नौ लाख नौ सहस सात शतक, पंचानवे मुक्त गये वंदूं।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना नित्य।
एक कोटि उपवास फल, क्रम से अनुपम रिद्धि।।१८।।

अविचल कूट (१८)

श्री सुमतिनाथ अविचल सुकूट से, सहस साधु सह मोक्ष गये।
इक कोड़िकोड़ि चौरासि कोटि, बाहत्तर लाख महामुनि ये।।
इक्यासी सहस सात सौ, इक्यासी मुनि इससे मोक्ष गये।
इन सबके चरण कमल वंदूं, हो शांति अलौकिक प्रभो ! हिये।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
एक कोटि बत्तीस लख, मिले सुफल उपवास।।१९।।

कुंदप्रभ कूट (१९)

श्री शांतिनाथ जिन कुंद कूट से, नव सौ मुनि सह मुक्ति गये।
नव कोटि कोटि नव लाख तथा, नव सहस व नौ सौ निन्यानवे।।
इस ही सुकूट से मोक्ष गये, इन सबके चरण कमल वंदूँ।
प्रभु दीजे परम शांति मुझको, मैं शीघ्र कर्म अरि को खंडूँ।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना नित्य।
एक कोटि उपवास फल, मिले ज्ञान सुख नित्य।।२०।।

भगवान महावीर की टोंक (२०)

पावापुरी सरोवर से वीरप्रभू जी।
निज आत्म सौख्य पाया निर्वाण गये जी।।
इनके चरणकमल की मैं वंदना करूँ।
संपूर्ण रोग दुःख की मैं खंडना करूँ।।२१।।

प्रभास कूट (२१)

जिनवर सुपार्श्व सुप्रभासकूट से, पाँच शतक मुनि साथ लिए।
उनचास कोटिकोटि चौरासी, कोटि सुबत्तिस लाख सु ये।।
मुनि सात सहस सात सौ ब्यालिस, कर्मनाश शिवनारि वरी।
मैं सबके चरण कमल वंदूं, मेरी होवे शुभ पुण्य घड़ी।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
बत्तिस कोटि उपवास फल, मिले मोक्ष सुख राज्य।।२२।।

सुवीर कूट (२२)

श्री विमल जिनेंद्र सुवीर कूट से, छह सौ मुनि सह सिद्ध हुए।
इससे सत्तर कोड़ाकोड़ी अरु, साठ लाख छह सहस हुए।।
पुनि सात शतक ब्यालीस मुनी, सब कर्मनाश शिवधाम गये।
उन सबके चरण कमल वंदूं, मेरे सब कारज सिद्ध भये।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
एक कोटि उपवास फल, क्रम से शिव साम्राज्य।।२३।।

सिद्धवर कूट (२३)

श्री अजितनाथ जिन कूट सिद्धवर से निर्वाण पधारे हैं।
उन संघ हजार महामुनिगण, हन मृत्यू मोक्ष सिधारे हैं।।
इससे ही एक अरब अस्सी, कोटी अरु चौवन लाख मुनी।
निर्वाण गये सबको वंदूं, मैं पाऊँ निज चैतन्यमणी।।

भाव सहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।
बत्तिस कोटि उपवास फल, अनुक्रम से निज राज्य।।२४।।

नेमिनाथ भगवान की टोंक (२४)

गिरनार से नेमी प्रभू निर्वाण गये हैं।
शंबू प्रद्युम्न आदि मुनी मुक्त भए हैं।।
ये कोटि बाहत्तर व सात सौ मुनी कहे।
इन सबकी वंदना करूँ ये सौख्यप्रद कहे।।२५।।

सुवर्णभद्र कूट (२५)

श्री पार्श्व सुवर्णभद्र कूट से, छत्तिस मुनि सह मुक्ति गये।
इससे ही ब्यासी कोटि चुरासी, लाख सहस पैंतालिस ये।।
पुनि सात शतक ब्यालीस मुनी, सब कर्मनाश शिवधाम गये।
उन सबको वंदूं भक्ती से, इससे मनवांछित पूर्ण भये।।

भाव सहित इस टोंक को, वंदूँ बारंबार।
सोलह कोटि उपवास फल, मिले भवोदधि पार।।२६।।

—दोहा—

श्री सम्मेदशिखर गिरी, शाश्वत तीर्थ प्रसिद्ध।
'ज्ञानमती' कैवल्य हो, नमत मिले पद सिद्ध।।३०।।

''जावो अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ''

अमृतवर्षिणी टीका–

इससे तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियाँ भी आ जाती हैं–

चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों के नाम

१. अयोध्या (फैजाबाद (उ. प्र.)	–	श्री ऋषभदेव भगवान
	–	श्री अजितनाथ भगवान
	–	श्री अभिनंदननाथ भगवान
	–	श्री सुमतिनाथ भगवान
	–	श्री अनन्तनाथ भगवान
२. श्रावस्ती (बहराइच–उ. प्र.)	–	श्री संभवनाथ भगवान
३. कौशाम्बी (उ. प्र.)	–	श्री पद्मप्रभु भगवान
४. वाराणसी (उ. प्र.)	–	श्री सुपार्श्वनाथ भगवान
	–	श्री पार्श्वनाथ भगवान
५. चन्द्रपुरी (वाराणसी) उ. प्र.	–	श्री चन्द्रप्रभु भगवान
६. काकन्दी (देवरिया नि. गोरखपुर) उ. प्र.	–	श्री पुष्पदंतनाथ भगवान
७. भद्रिकापुरी	–	श्री शीतलनाथ भगवान
८. सिंहपुरी (सारनाथ) उ. प्र.	–	श्री श्रेयांसनाथ भगवान
९. चम्पापुरी (भागलपुर–बिहार)	–	श्री वासुपूज्यनाथ भगवान
१०. कम्पिलपुरी (फर्रूखाबाद–उ. प्र.)	–	श्री विमलनाथ भगवान
११. रत्नपुरी (फैजाबाद–उ. प्र.)	–	श्री धर्मनाथ भगवान
१२. हस्तिनापुर (मेरठ–उ. प्र.)	–	श्री शान्तिनाथ भगवान
	–	श्री कुन्थुनाथ भगवान
	–	श्री अरनाथ भगवान
१३. मिथिलापुरी	–	श्री मल्लिनाथ भगवान
	–	श्री नमिनाथ भगवान
१४. राजगृही (नालंदा बिहार)	–	श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान
१५. शौरीपुर (बटेश्वर–उ. प्र.)	–	श्री नेमिनाथ भगवान
१६. कुण्डलपुर (नालंदा–बिहार)	–	श्री महावीर भगवान

तीर्थंकर पंचकल्याणक तीर्थ

श्री ऋषभदेव से लेकर महावीरस्वामी पर्यंत चौबीसों तीर्थंकरों की अयोध्या आदि सोलह जन्मभूमियाँ हैं।

इन चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव ने प्रयाग (इलाहाबाद) में वट वृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ली। वहीं पर वट वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

श्री नेमिनाथ ने गिरनार क्षेत्र पर दीक्षा ली, वहीं पर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

श्री पार्श्वनाथ ने अहिच्छत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्री महावीर स्वामी को जृंभिका ग्राम–जमुई में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों में श्री ऋषभदेव और नेमिनाथ के गर्भ–जन्म ऐसे दो–दो कल्याणक जन्मभूमि में एवं दो–दो कल्याणक क्रम से प्रयाग व गिरनार में हुए हैं।

भगवान पार्श्वनाथ व श्री महावीर स्वामी के गर्भ–जन्म व तप ऐसे तीन–तीन कल्याणक जन्मभूमि में हुए हैं और केवलज्ञान कल्याणक क्रमशः अहिच्छत्र एवं जमुई में हुए हैं।

शेष बीसों तीर्थंकरों के गर्भ–जन्म–दीक्षा एवं केवलज्ञान ये चार–चार कल्याणक उन–उनकी जन्मभूमि में ही हुए हैं।

निर्वाणकल्याणक तीर्थ

श्री ऋषभदेव कैलाश पर्वत से, श्री वासुपूज्य भगवान अपनी जन्मभूमि चम्पापुरी (भागलपुर–मंदारगिरि) से, श्री नेमिनाथ गिरनार पर्वत से एवं श्री महावीर स्वामी पावापुरी से मोक्ष गए हैं। शेष बीस तीर्थंकर भगवन्तों ने सम्मेदशिखर से निर्वाणपद प्राप्त किया है।

इस मध्यलोक में अन्य और भी जो निषीधिकायें हैं। तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमि, अन्य महापुरुषों की निर्वाण भूमियां हैं उन सबको मेरा नमस्कार होवे। वे सभी मेरा मंगल करें।

निर्वाणकाण्ड भाषा

चाल —हे दीन बंधु.....

वृषभेष गिरिकैलाश से निर्वाण पधारे।
चंपापुरी से वासुपूज्य मुक्ति सिधारे।।
नेमीश ऊर्जयंत से निर्वाण गये हैं।
पावापुरी से वीर परमधाम गये हैं।।१।।

इंद्रादिवंद्य बीस जिनेश्वर करम हने।
सम्मेद गिरि शिखर से शिव गये नमूँ उन्हें।।
इन चार बीस जिन की सदा वंदना करूँ।
निर्वाण सौख्य प्राप्ति हेतु अर्चना करूँ।।२।।

बलभद्र सात और आठकोटि बताए।
यादवनरेन्द्र आर्ष में हैं साधु कहाये।।
गजपंथगिरिशिखर से ये निर्वाण गये हैं।
इनको नमूँ ये मुक्ति में निमित्त कहे हैं।।३।।

वरदत्त औ वरांग सागरदत्त मुनिवरा।
ऋषि और साढ़े तीन कोटि भव्य सुखकरा।।
ये तारवरनगर से मुक्तिधाम पधारे।
मैं नित्य नमूँ मुझको भी संसार से तारें।।४।।

श्री नेमिनाथ औ प्रद्युम्न शंभु कुमारा।
अनिरुद्धकुमर पा लिया भवदधि का किनारा।।
मुनिराज बाहत्तर करोड़ सात सौ कहे।
ये ऊर्जयंत गिरि से सभी मुक्ति को लहें।।५।।

दो पुत्र रामचंद्र के औ लाडनृपादी।
ये पाँचकोटि साधुवृंद निजरसास्वादी।।
ये पावागिरीवर शिखर से मोक्ष गये हैं।
भविवृंद के निर्वाण में ये हेतु कहे हैं।।६।।

जो पांडुपुत्र तीन और द्रविडनृपादी।
ये आठ कोटि साधु परम समरसास्वादी।।
शत्रुंजयाद्रि शिखर से ये सिद्ध हुए हैं।
इनको नमूँ ये सिद्धि में निमित्त हुए हैं।।७।।

श्रीराम हनूमान औ सुग्रीव मुनिवरा।
जो गव गवाख्य नील महानील सुखकरा।।
निन्यानवे करोड़ तुंगीगिरि से शिव गये।
उन सबकी वंदना से सर्व पाप धुल गये।।८।।

जो अंग औ अनंग दो कुमार हैं कहे।
वे साढ़े पाँच कोटि मुनि सहित शिव गये।।
सोनागिरी शिखर है सिद्धक्षेत्र इन्हों का।
इनको नमूँ इन भक्ति भवसमुद्र में नौका।।९।।

दशमुखनृपति के पुत्र आत्म तत्त्व के ध्याता।
जो साढ़े पाँच कोटि मुनि सहित विख्याता।।
रेवा नदी के तीर से निर्वाण पधारे।
मैं नित्य नमूँ मुझको भवोदधि से उबारें।।१०।।

चक्रीश दो दश कामदेव साधुपद धरा।
मुनि साढ़े तीन कोटि मुक्तिराज्य को वरा।।
रेवा नदी के तीर अपरभाग में सही।
मैं सिद्धवरसुकूट को वंदूँ जो शिवमही।।११।।

बड़वानि वरनगर में दक्षिणी सुभाग में।
है चूलगिरि शिखर जो सिद्धक्षेत्र नाम में।।
श्री इन्द्रजीत कुंभकरण मोक्ष पधारे।
मैं नित्य नमूँ उनको सकल कर्म विडारें।।१२।।

पावागिरी नगर में चेलनानदी तटे।
मुनिवर सुवर्णभद्र आदि चार शिव बसे।।
निर्वाण भूमि कर्म का निर्वाण करेगी।
मैं नित्य नमूँ मुझको परम धाम करेगी।।१३।।

फलहोड़ी श्रेष्ठ ग्राम में पश्चिम दिशा कही।
श्री द्रोणगिरि शिखर है परमपूत भू सही।।
गुरुदत्त आदि मुनिवरेन्द्र मृत्यु के जयी।
निर्वाण गये नित्य नमूँ पाऊँ शिव मही।।१४।।

श्री बालि महाबालि नागकुमर आदि जो।
अष्टापदाद्रि शिखर से निर्वाण प्राप्त जो।।
उनको नमूँ वे कर्म अद्रि चूर्ण कर चुके।
वे तो अनंत गुण समूह पूर्ण कर चुके।।१५।।

अचलापुरी ईशान में मेढ़ागिरी कही।
मुनिराज साढ़े तीन कोटि उनकी शिव मही।।
मुक्तागिरी निर्वाण भूमि नित्य नमूँ मैं।
निर्वाण प्राप्ति हेतु अखिल दोष वमूँ मैं।।१६।।

वंशस्थली नगर के अपरभाग में कहा।
कुंथलगिरी शिखर जगत में पूज्य हो रहा।।
श्री कुलभूषण औ देशभूषण मुक्ति गये हैं।
मैं नित्य नमूँ उनको वे कृतकृत्य हुए हैं।।१७।।

जसरथनृपति के पुत्र और पाँच सौ मुनी।
निर्वाण गए हैं कलिंग देश से सुनी।।
मुनिराज एक कोटि कोटिशिला से कहे।
निर्वाण गए उनको नमूँ दुःख ना रहे।।१८।।

श्री पार्श्व के समवसरण में जो प्रधान थे।
वरदत्त आदि पाँच ऋषी गुण निधान थे।।
रेसिंदिगिरि शिखर से वे निर्वाण पधारे।
मैं उनको नमूँ वे सभी संकट को निवारें।।१९।।

जिस जिस पवित्र थान से जो जो महामुनी।
निर्वाण परम धाम गये हैं अतुलगुणी।।
मैं उन सभी की नित्य भक्ति वंदना करूँ।
त्रिकरण विशुद्ध कर नमूँ शिवांगना वरूँ।।२०।।

मुनिराज शेष जो असंख्य विश्व में कहे।
जिस जिस पवित्र थान से निर्वाण को लहें।।
उन साधुओं की, क्षेत्र की भी वंदना करूँ।
संपूर्ण दुःख क्षय निमित्त प्रार्थना करूँ।।२१।।

श्री पार्श्वनागद्रह में कहे उनको मैं नमूँ।
श्री मंगलापुरी में अभिनंदनं नमूँ।।
पट्टण सुआशारम्य में मुनिसुव्रतेश को।
है बार-बार वंदना इन श्री जिनेश को।।२२।।

पोदनपुरी में बाहुबली देव को नमूँ।
श्री हस्तिनापुरी में शांति-कुंथु-अर नमूँ।।
वाराणसी में श्री सुपार्श्व पार्श्व जिन हुए।
उनकी करूँ मैं वंदना वे सौख्यकर हुए।।२३।।

मथुरा में श्री वीर को नाऊँ सुभाल मैं।
अहिछत्र में श्री पार्श्व को वंदूँ त्रिकाल मैं।।
जंबूमुनीन्द्र जंबूविपिनगहन में आके।
निर्वाण प्राप्त हुए नमूँ शीश झुकाके।।२४।।

जो पंचकल्याणक पवित्र भूमि कही है।
इस मध्यलोक में महान तीर्थ सही है।।
मनवचसुकायशुद्धि सहित शीश नमाके।
मैं नित्य नमस्कार करूँ हर्ष बढ़ाके।।२५।।

श्री वरनगर में पूज्य अर्गलदेव को वंदूँ।
उनके निकट श्री कुंडली जिनेश को वंदूँ।।
शिरपुर में पार्श्वनाथ को मैं भाव से नमूँ।
लोहागिरी के शंखदेव नेमि को नमूँ।।२६।।

जो पाँच सौ पचीस धनुष तुंग तनु धरें।
केशर कुसुम की वृष्टि जिनपे देवगण करें।।
उन गोमटेश देव की मैं वंदना करूँ।
निज आत्म सौख्य प्राप्ति हेतु अर्चना करूँ।।२७।।

निर्वाणथान मध्यलोक में भी जो कहे।
अतिशय भरे अतिशय स्थान जगप्रथित रहें।।
इन सिद्धक्षेत्र सर्व को ही शीश झुकाके।
मैं बार बार नमन करूँ ध्यान लगाके।।२८।।

जो भव्य जीव भावशुद्धि सहित नित्य ही।
निर्वाणकाण्ड को पढ़ें त्रिकाल में सही।।
चक्रीश इन्द्रपद के वे सुखानुभव करें।
पश्चात् परमानन्दमय निर्वाणपद वरें।।२९।।

अंचलिका —कुसुमलताछंद

भगवन् ! परिनिर्वाण भक्ति का, कायोत्सर्ग किया उसके।
आलोचन करने की इच्छा, करना चाहूँ मैं रुचि से।।
इस अवसर्पिणी में चतुर्थ शुभ, काल उसी के अंतिम में।
तीन वर्ष अरु आठ मास इक, पक्ष शेष था जब उसमें।।१।।

पावानगरी में कार्तिक शुभ, मास कृष्ण चौदश तिथि में।
रात्रि अंत नक्षत्र स्वाति सह, उषाकाल की बेला में।।
वर्धमान भगवान् महति महावीर सिद्धि को प्राप्त हुए।
तीनलोक के भावन व्यंतर, ज्योतिष कल्पवासिगण ये।।२।।

निज परिवार सहित चउविध सुर, दिव्य गंध दिव पुष्पों से।
दिव्यधूप दिव चूर्णवास औ, दिव्य स्नपन विधी करते।।
अर्चें पूजें वंदन करते, नमस्कार भी नित करते।
परिनिर्वाण महा कल्याणक, पूजा विधि रुचि से करते।।३।।

मैं भी यहीं मोक्ष कल्याणक, की नित ही अर्चना करूँ।
पूजन वंदन करूँ भक्ति से, नमस्कार भी पुनः करूँ।।
दुःखों का क्षय कर्मों का क्षय, हो मम बोधि लाभ होवे।
सुगतिगमन हो समाधिमरणं, मम जिनगुणसंपत्ति होवे।।४।।

''इसिपब्भारतलग्गयाणं''

अमृतवर्षिणी टीका–

सिद्ध लोक और सिद्ध शिला

ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि नामक इंद्रक के ध्वज से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर 'ईषत्प्राग्भार' नाम की आठवीं पृथ्वी स्थित है। तीन भुवन के मस्तक पर स्थित इस पृथ्वी की पूर्व-पश्चिम चौड़ाई १ राजु है, उत्तर-दक्षिण लम्बाई ७ राजु है एवं मोटाई आठ योजन मात्र है। अतः यह पृथ्वी लोक के अंत तक आठ योजन मोटी है। इस पृथ्वी के ऊपर तीन वातवलय हैं जो कुछ कम एक योजन मात्र हैं। घनोदधि वातवलय २ कोस घनवात वलय १ कोस, तनु वातवलय ४२५ धनुष कम १ कोस है। एक कोश २००० धनुष का है।

इस आठवीं पृथ्वी के मध्य में रजतमयी, अर्धचन्द्र के आकार वाला मनुष्य क्षेत्र समान, गोल, पैंतालीस लाख योजन विस्तृत 'सिद्ध क्षेत्र' है। इस क्षेत्र के मध्य की मोटाई आठ योजन है एवं क्रम से घटते-घटते अंत में १ अंगुल मात्र है। अर्थात् यह सिद्ध शिला उपरिम भाग में तो समान रूप है और नीचे हानि वृद्धिरूप है। त्रिलोकसार में इस सिद्ध शिला को उत्तान चषकमिव[1] —सीधे रखे हुए कटोरे सदृश कहा है। यह शिला ४५,००००० योजन विस्तृत है और इसकी परिधि १,४२,३०२४९ योजन प्रमाण है।

सभी सिद्ध भगवान सिद्ध क्षेत्र के उपरिम भाग—तनुवातवलय के चतुर्थ भाग में विराजमान हैं, अंतिम शरीर के प्रमाण से किंचित् न्यून आत्मप्रदेश वाले हैं।

तनुवातवलय ४२५ धनुष कम एक कोश का है। एक कोश में २००० धनुष होते हैं। अतः तनुवातवलय में—२०००—४२५=१५७५ धनुष। तनुवातवलय के कोस प्रमाणांगुल की अपेक्षा से है और सिद्धों की अवगाहना व्यवहारांगुल की अपेक्षा से है। इसलिये १५७५ को ५०० से गुणा करके व्यवहार धनुष बना लीजिये १५७५×५००=७८७५०० तनुवातवलय की मोटाई को पाँच सौ से गुणा करके १५०० का भाग देने पर सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण होता है। जैसे—१५७५×५००÷१५००=५२५ धनुष एवं ९००००० का भाग देने पर जघन्य अवगाहना होती है। १५७५×५०० ÷९०००००=७/८ धनुष=३/१/२ हाथ। इसमें सिद्धों की जघन्य अवगाहना सात धनुष के आठवें भाग है। एक धनुष के ४ हाथ होते हैं अतः ७×४=२८; २८÷८=३-१/२। सिद्धों की जघन्य अवगाहना ३-१/२ हाथ है एवं उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है[2]।

अथवा सरलता से समझने के लिए दूसरी विधि यह है—

घनोदधि वातवलय ४००० धनुष

---

1. उत्तानस्थितपात्रमिव चषकमिवत्यर्थः।
2. त्रिलोकसार गाथा 141-142 (त्रिलोकसार गाथा 558 की टीका का अंश)।

घनवात वलय २००० धनुष

तनुवातवलय १५७५ धनुष।

ये महाधनुष का प्रमाण है। इन सभी को ५०० से गुणा करके लघु धनुष बनाइये- ४०००+२०००+१५७५=७५७५ को ५०० से गुणा—७५७५×५००=३७८७५०० लघु धनुष हुए।

इनमें सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ को घटाइये। तब ३७८७५००-५२५=३७,८६,९७५ हुआ।

उत्कृष्ट ५२५ धनुष की अवगाहना वाले सिद्ध भगवान—सिद्धशिला से सैंतीस लाख, छ्यासी हजार, नव सौ पचहत्तर लघु धनुष ऊपर जाकर उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध भगवान विराजमान हैं, जैसे कि इस युग के प्रारंभ में उत्कृष्ट अवगाहना वाले श्री बाहुबली भगवान हैं।

लघु साढ़े ३ हाथ की अवगाहना वाले सिद्ध भगवान—एक धनुष में चार हाथ होते हैं। अतः ३७,८७,४९९ लघु धनुष व अर्द्ध हाथ ऊपर जाकर साढ़े तीन हाथ की अवगाहना वाले सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

मध्यम अवगाहना वाले सिद्ध भगवान—साढ़े तीन हाथ से ऊपर व ५२५ धनुष से नीचे की सभी अवगाहना वाले सिद्ध मध्यम अवगाहना वाले हैं। जैसे कि भगवान महावीर स्वामी ७ हाथ की अवगाहना वाले हैं अतः वे सिद्धशिला से ३७,८७,४९८ धनुष एक हाथ ऊपर जाकर सात हाथ की अवगाहना से विराजमान हैं।

सभी सिद्ध भगवन्तों के मस्तक तनुवातवलय के अंत से स्पर्शित हैं।

भगवान ऋषभदेव, वासुपूज्य और नेमिनाथ ये तीन तीर्थंकर पद्मासन से मोक्ष गये हैं और शेष इक्कीस तीर्थंकर खड्गासन से मोक्ष गये हैं।[1]

वे सिद्ध जीव जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जाकर स्थित हो गये हैं आगे नहीं जाते हैं। एक जीव से अवगाहित क्षेत्र के भीतर जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम अवगाहना से सहित अनंत सिद्ध होते हैं। मनुष्य लोक प्रमाण स्थित तनुवात के उपरिम भाग में सब सिद्धों के मस्तक सदृश होते हैं अधस्तन भाग में कोई विसदृश होते हैं। जितना मार्ग मध्यलोक के ऊपर जाने योग्य है उतना जाकर लोक शिखर पर सब सिद्ध पृथक् पृथक् मोम से रहित मूषक के अभ्यंतर आकाश के सदृश हो जाते हैं। ये सिद्ध भगवान आठ कर्मों से छूटकर सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान आदि अनंतगुणों के सागर स्वरूप, अरूपी, अशरीरी, नित्य, निरंजन, कृतकृत्य होकर एक ही समय में युगपत् तीनलोक, तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों को जान लेते हैं और अनंत सुख सागर में सदा के लिये निमग्न हो जाते हैं। असंख्यों कल्प कालों के बीत जाने पर भी वे वापस संसार में नहीं आते हैं। संसार के संपूर्ण दुःखों से छूटकर आत्मीक अनंत शिव सौख्य का अनुभव करते हैं।

---

1. हरिवंशपुराण पृ. 726।

''गुरु–आइरिय–उवज्झायाणं पव्वत्तिथेर–कुलयराणं।''

अमृतवर्षिणी टीका–

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर ये पाँच प्रकार के महामुनि हैं।

गुरु—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर ऐसे पांच प्रकार के महामुनियों को मेरा नमस्कार होवे, ये मेरा मंगल करें।

मूलाचार में श्री कुंदकुंददेव ने कुलकर के स्थान में 'गणधर' पद का प्रयोग किया है—

गाथार्थ—जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार नहीं हैं वहाँ पर रहना उचित नहीं है।।१५५।।[1]

आचारवृत्ति—जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं। पास में आकर जिनसे अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक कहलाते हैं। जिनसे आचरण स्थिर होते हैं वे स्थविर कहलाते हैं और जो गण–संघ को धारण करते हैं वे गणधर कहलाते हैं। जिस गुरुकुल में ये पाँच आधारभूत–अनुग्रह करने में कुशल नहीं हैं उस गुरुकुल–संघ में उपर्युक्त मुनि का रहना उचित नहीं है।

इनके लक्षण क्या क्या हैं ? सो ही बताते हैं–

गाथार्थ—शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल को आचार्य, धर्म के उपदेशक को उपाध्याय, संघ की प्रवृत्ति करने वाले को प्रवर्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर जानना चाहिए।।१५६।।

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों के ये उपर्युक्त लक्षण क्रम से कहे गये हैं **'शासितुं योग्यः शिष्यः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य हैं वे शिष्य कहलाते हैं। उनके अनुग्रह में अर्थात् उनको ग्रहण करने में जो कुशल होते हैं, दीक्षा आदि के द्वारा पर के ऊपर और स्वयं पर अनुग्रह करने वाले हैं वे आचार्य कहलाते हैं। दश प्रकार के धर्म को कहने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करने वाले प्रवर्तक होते हैं। मर्यादा का उपदेश देने वाले अर्थात् व्यवस्था बनाने वाले स्थविर कहलाते हैं और गण के पालन करने वाले को गणधर कहते हैं, ऐसा जानना चाहिए। जिस संघ में ये पाँच आधार रहते हैं उसी संघ में निवास करना चाहिए।

आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी का लक्षण एवं गुण

आचार्य—जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पांच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और अन्यों को कराते हैं तथा छत्तीस गुणों से रहित होते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।

---

1. मूलाचार भाग–1 पृ. 132, 133।

छत्तीस गुणों के नाम—बारह तप, दशधर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक क्रियाएँ, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ऐसे ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के होते हैं।

ये आचार्य शिष्यों को शिक्षा, दीक्षा और प्रायश्चित्त आदि देते हैं और संघ के नायक कहलाते हैं।

उपाध्याय—जो चौदह वर्ष के व्याख्याता हैं अथवा [१]तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले हैं। ये शिष्यों को पढ़ाते हैं किन्तु संग्रह करना, दीक्षा देना आदि कार्य नहीं करते हैं। इनके पच्चीस गुण कहे गये हैं। यथा—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग और विपाकसूत्रांग ये ग्यारह अंग हैं।

उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, कर्मप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणानुवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह पूर्व कहलाते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी इन अंग-पूर्वों का पठन-पाठन करने से पच्चीस गुणधारी कहे जाते हैं अथवा तत्कालीन सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, पढ़ाने वाले होने से भी उपाध्याय कहलाते हैं।

साधु—जो अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं अथवा तेरह प्रकार का चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में कुशल हैं। प्रमाद रहित आवश्यक क्रियाओं को करने वाले हैं अथवा छत्तीस प्रकार के उत्तर गुणों को पालन करते हैं। अठारह हजार शील के भेदों के धारक, चौरासी लाख उत्तरगुणों के पालक साधु परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों में सर्वप्रथम अट्ठाईस मूलगुण होना परम आवश्यक है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही मूलगुणों के बिना मुनि नहीं हो सकते।

मुनि के चार भेद हैं—यति, मुनि, अनगार और ऋषि। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले यति कहलाते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं। ऋद्धि को प्राप्त हुए महासाधु ऋषि कहलाते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करने वाले गृहत्यागी, वन, मठ, मंदिर आदि में रहने वाले मुनि अनगार कहलाते हैं। आजकल के सभी साधु अनगार लक्षण वाले हैं।

मुनियों के छत्तीस उत्तर गुणों का वर्णन—बारह तप और बाईस परीषहों को उत्तर गुण कहते हैं। इनका संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है—

बारह तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

---

१. तत्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा।-धवला प्र. पु. पृ. ५१।

अनशन—चार प्रकार के आहार का त्याग करना।

अवमौदर्य—भूख से कुछ कम खाना।

वृत्तिपरिसंख्यान—आहार के समय अटपटी प्रतिज्ञा ले लेना।

रसपरित्याग—मधुर आदि रसों का त्याग करना।

विविक्तशय्यासन—विषयीजनों के संचार रहित स्थान में सोना, बैठना।

कायक्लेश—शरीर से आसन आदि के समय कष्ट सहन करना।

प्रायश्चित्त—व्रतादि में दोष लग जाने पर गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करके शोधन करना।

विनय—दर्शन, ज्ञानादि का और उनके धारकों का आदर करना।

वैयावृत्ति—आचार्य, उपाध्याय आदि की उनके अनुकूल सेवा शुश्रूषा करना।

स्वाध्याय—वाचना, पृच्छना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

व्युत्सर्ग—अंतरंग, बहिरंग उपाधि का त्याग करना।

ध्यान—समस्त चिन्ताओं का त्याग कर धर्म में तथा आत्मचिन्तवन में एकाग्र होना।

बाईस परीषहों के नाम—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। मोक्षार्थी पुरुष इन्हें शांतभाव से सहन करते हैं, तब इन्हें भिक्षा (आहार) नहीं मिलने पर या अल्प मिलने पर परीषहजय कहते हैं।

खेद को प्राप्त नहीं होना क्षुधा परीषहजय है।

प्यास की बाधा को समाधिरूपी जल से शांत करना तृषापरीषहजय है।

आवरण (वस्त्र) आदि से रहित खुले स्थान पर बर्फ आदि की ठण्डी को सहन करना शीत परीषहजय है।

ग्रीष्मकालीन सूर्य से संतप्त पृथ्वी पर उष्णता को सहन करना उष्ण परीषहजय है।

दंश, मशक, बिच्छू, सर्प आदि से काटे जाने पर उनकी पीड़ा को सहन करना दंशमशक परीषहजय है।

बालकवत् निर्विकार रहना नग्न परीषहजय है।

शून्य स्थान, गुफा आदि में अरुचि न करके ध्यान, अध्ययन करना अरति परीषहजय है।

स्त्री द्वारा विभ्रम भाव से बाधा पहुँचाने पर भी निश्चल मन रहना स्त्री परीषहजय है।

कंकरीली सड़कों पर चलते समय खेदखिन्न नहीं होना चर्यापरीषहजय है।

नियतकाल तक बैठने पर कष्ट होता है, उसे शांति से सहन करना निषद्या परीषहजय है।

स्वाध्याय आदि से थककर एक करवट, शयन करते समय कंकरीली आदि पृथ्वी के निमित्त से हुए कष्ट को सहन करना शय्या परीषहजय है।

अज्ञानियों द्वारा कठोर, असभ्य, निन्द्य वचन सुनकर भी क्रोध नहीं करना आक्रोश परीषहजय है।

अज्ञानी द्वारा तीक्ष्ण मुद्गर आदि से ताड़ित किये जाने पर भी दुःखी नहीं होना वध परीषहजय है।

शरीर के शुष्क हो जाने पर भी आहार, औषधि आदि नहीं मांगना याचना परीषहजय है।

बहुत काल तक आहार का लाभ न मिलने पर भी **''लाभादलाभो वरं मे''** लाभ की अपेक्षा अलाभ ही अच्छा है, ऐसा मानना अलाभ परीषहजय है।

अनेक रोगों के हो जाने पर भी औषधि उपचार आदि की अपेक्षा नहीं करना रोग परीषहजय है।

तृण, कंकर, कांटे आदि की बाधा को सहन करते हुए प्राणी पीड़ा को परिहार करने की भावना रखना तृणस्पर्श परीषहजय है।

स्नान त्याग व्रत होने से मल से लिप्त शरीर होते हुए खाज आदि रोग से उत्पन्न पीड़ा की उपेक्षा कर देना, मलिन शरीर से मन में ग्लानि नहीं लाना मलपरीषहजय है।

महातपस्वी, सिद्धान्तवेत्ता, कुशल साधु होने पर भी किसी द्वारा सत्कार पुरस्कार को प्राप्त नहीं होने पर मन में खिन्न नहीं होना सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

मैं बहुत ज्ञानी हूँ इत्यादिरूप से विद्या-बुद्धि का मद नहीं करना प्रज्ञा परीषहजय है।

'यह मूर्ख है' इत्यादि शब्दों द्वारा दूसरों से अपमानित होने पर भी और मैंने घोर तपश्चरण आदि किया है, फिर भी मुझमें ज्ञान का अतिशय नहीं होता है इत्यादि रूप से खिन्न नहीं होना अज्ञान परीषहजय है।

मैं शुद्ध परिणामी चिरदीक्षित हूँ फिर भी मेरी देवादिकों द्वारा कोई पूजा आदि नहीं होती है। 'महोपवासादि से देवों द्वारा अतिशय किया जाता था, यह सब असत्य दिखता है, ऐसा मन में नहीं सोचना अदर्शन परीषहजय है।

साधु, संवर और निर्जरा के लिए इन उत्तरगुणों का पालन भी करते हैं किन्तु यदि इन उत्तरगुणों का पालन न हो सके तो वे मुनि नहीं रहे, ऐसी बात नहीं है।

जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार रहते हैं, उस संघ में ही विद्याध्ययन आदि सुचारू रहते हैं।

आचार्य—शिष्यों के ऊपर अनुग्रह में कुशल, पंचाचार का स्वयं पालन करने और शिष्यों को कराने वाले, प्रायश्चित्त आदि देने वाले आचार्य होते हैं।

उपाध्याय—जो शिष्यों को श्रुत पढ़ाते हैं।

संघ प्रवर्तक—जो चार प्रकार के मुनियों को चर्यादि में प्रवृत्ति कराते हैं।

स्थविर (मर्यादोपदेशक)—जो बाल, वृद्ध मुनियों को उपदेश देकर सन्मार्ग का पालन करते हैं।

आज इस पंचमकाल में मिथ्यादृष्टियों की बहुलता होने से एवं हीन संहनन आदि होने से मुनियों को संघ में ही रहना चाहिए, एकलविहारी नहीं बनना चाहिए।

आर्यिकाओं का समाचार

आर्यिकाएँ परस्पर में अनुकूल रहें, ईर्ष्या आदि से दूर रहें। उपर्युक्त मूलगुणों का और दश प्रकार के समाचार गुणों का पालन करें। आर्यिकाओं के लिए वृक्षमूल, आतापन आदि योग का निषेध है, बाकी सभी क्रियाएँ मुनियों के समान ही हैं।

आर्यिकाएँ ग्राम से न अधिक दूर, न निकट, ऐसी वसतिका में मिलकर वात्सल्य से रहती हैं। यतियों के स्थान से दूर रहें। ये गणिनी की आज्ञा लेकर ही आहार आदि के लिए गमन करें। गुरुओं के दर्शनार्थ या प्रायश्चित्त आदि लेने के लिए गणिनी को साथ लेकर ही जावें। साधुपद के अयोग्य रोना, गाना, सोना, आरंभ आदिरूप कोई भी क्रियाएँ न करें।

आर्यिकायें महाव्रती हैं

विशेष—आर्यिकाएँ दो साड़ी रखती हैं और बैठकर ही करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं। इतना ही मुनियों से इनमें अंतर है। इनके पंच महाव्रत उपचार से कहे जाते हैं इसलिए इनके संयमरूप छठा गुणस्थान नहीं होता है। फिर भी ऐलक की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। एक लंगोटीमात्र ऐलक द्वारा भी वंदनीय हैं।

सागार धर्मामृत में कहा भी है—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति।।३६।।

अर्थ—"ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं है किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य हैं।"

निषीधिका दण्डक

(श्री प्रभाचंद्राचार्यकृत संस्कृत टीका)

णिसीहियाए। निषीधिकाशब्दोऽनेकार्थाभिधायी। तथाहि–(1) जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि। (2) तथा तदालयः। (3) बुद्ध्यादिलब्धिसम्पन्ना मुनयः। (4) तैराश्रितानि क्षेत्राणि। (5) अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनः। (6) ज्ञानोत्पत्तिप्रदेशाः। (7) तैराश्रितक्षेत्राणि। (8) सिद्धजीवाः। (9) तन्निर्वाणक्षेत्राणि। (10) तैराश्रिताकाशप्रदेशाः। (11) सम्यक्त्वादि-चतुर्गुणयुक्तास्तपस्विनः। (12) तैराश्रितक्षेत्रम्। (13) तत्त्यक्तशरीराश्रितप्रदेशाः। (14) योगस्थिता-स्तपस्विनः। (15) तैराश्रितं क्षेत्रम्। (16) तन्मुक्त-शरीराश्रितप्रदेशाः। (17) त्रिविधपण्डितमरणस्थिता मुनयः।[1] इत्यादि। उक्तं च—

जिणसिद्धबिंबणिलया किदगाकिदगा य रिद्धिजुदसाहू।
णाणजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्ती य णाणिजुदखेत्तं।।

निषीधिका दण्डक

अनुवाद—जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो, जिनेन्द्रों को नमस्कार हो। निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो, निषीधिकाओं को नमस्कार हो। आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, आपको नमस्कार हो, निषीधिका शब्द से सामान्यतया तीर्थंकरों की पंचकल्याणक भूमियाँ ली जाती हैं अथवा सामान्य केवली आदि के भी निर्वाणस्थान निषीधिका कहलाते हैं। टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य ने यहाँ 'निषीधिका' के सत्रह-१७ प्रकार बतलाये हैं—(१) जिन और सिद्ध की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमायें। (२) उनके मंदिर, (३) बुद्धि आदि ऋद्धि से सहित मुनिगण, (४) उनसे आश्रित क्षेत्र, (५) अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी, (६) उनके ज्ञानोत्पत्ति के प्रदेश, (७) उनसे आश्रित क्षेत्र, (८) सिद्धजीव (९) उनके निर्वाण क्षेत्र, (१०) उनसे आश्रित आकाशप्रदेश, (११) सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार से युक्त तपस्वी, (१२) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१३) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१४) योग में स्थित तपस्वी, (१५) उनसे आश्रित क्षेत्र, (१६) उनके द्वारा छोड़े गये शरीर के आश्रित प्रदेश, (१७) और तीन प्रकार के पंडितमरण में स्थित मुनिगण। ये सभी 'निषीधिका' शब्द से कहे गये हैं अतः इन सबको यहाँ नमस्कार हो जाता है।

हे अर्हंत! हे सिद्ध! हे बुद्ध! हे नीरज! हे निर्मल! हे सममन! हे शुभमन! हे सुसमर्थ! हे समयोग! हे समभाव! हे शल्यपीड़ित के शल्यघातक! हे निर्भय! हे नीराग! हे निर्दोष! हे निर्मोह! हे निर्मम! हे निःसंग! हे निःशल्य! हे मान-माया-मृषा के मर्दक! हे तपःप्रभावक! हे गुणरत्न और शील के

---

१. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी-पृ. २० से ३० तक।

सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहोदेसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं।।
चत्तं तेहिं य देहं तट्ठवियं जेसु ता णिसीहीओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिआ सम्मं।।
जोगिपरिमुक्कदेहा पंडितमरणट्ठिदा णिसीहीओ।
तिविहे पंडिदमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए।।
एयाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

एवंविधार्थस्य निषीधिकाशब्दस्य त्रिः प्रयोगः सर्वासां निषीधिकानामविशेषतः स्तुतिविषयत्वख्यापनार्थम्। अन्ये तु **'णिसीधिए'** इत्यस्यार्थमित्थं व्याख्यानयंति—

णि त्ति णियमेहिं जुत्तो सि त्ति य सिद्धिं तहा अहिग्गामि।
धि त्ति य धिदिबद्धकओ ए त्ति य जिणसासणे भत्तो।। इति

णमोत्थु दे। दे तुभ्यं पूर्वोक्तायै निषीधिकायै नमो नमस्कारोऽस्तु। अत्रापि त्रिर्नमोऽस्तुशब्दप्रयोगो नमस्कर्तुः सर्वासु निषीधिकासु नमस्कारकरणेनाऽत्यन्तव्यावृत्तमात्मानं लक्षयति। **''णमो णिसीहिए'** इति पाठे **'णमोत्थु दे'** इत्यस्याऽरहंतेत्यादिभिः सम्बन्धः। **हे अरहंत।** अर्हन् घातिकर्मक्षयकारक ते तुभ्यं नमोऽस्तु। **हे सिद्ध।** निश्शेषकर्मोन्मूलक। **हे बुद्ध।** हेयापादेय-विवेकसम्पन्न। **हे णीरय।** रजसी ज्ञानदृगावरणे। ताभ्यां निष्क्रान्त। **हे णिम्मल** । द्रव्यभावकलंकरहित। **हे सममण।** समं सागर! हे अनंत! हे अप्रमेय! हे महतिमहावीर वर्द्धमान बुद्धर्षि भगवन्! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। यहाँ जिनेन्द्रदेव को तीन बार नमस्कार करने से अति भक्ति सूचित होती है। निषीधिका को भी तीन बार नमस्कार किया है।

घातिकर्म विरहित अर्हंतदेव हैं। आठों कर्मों से रहित सिद्ध भगवान हैं। केवलज्ञान सहित बुद्ध कहलाते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरणरूपी रज से रहित 'नीरज' हैं। द्रव्य और भावरूप कर्म कलंक से रहित निर्मल हैं। तृण और स्वर्ण तथा शत्रु-मित्र में समभाव—रागद्वेष रहित चित्त वाले 'सममन' हैं। शोभन—आर्त, रौद्रध्यान से रहित मन वाले 'सुमन' या शुभमन वाले हैं। कायक्लेश तप के अनुष्ठान में और परीषहों के सहन करने में अच्छी तरह समर्थ होने से 'सुसमर्थ' कहलाते हैं। परम उपशम भाव से सहित होने से 'समयोग' होते हैं। संसार का उपशम करने के लिये अथवा राग द्वेष का परिहार करने के लिये द्वादश अनुप्रेक्षा की भावनारूप से परिणत 'समभाव' कहलाते हैं।

इस प्रकार जो सामान्यरूप से अर्हंत आदि हैं उन्हें नमस्कार करके यहाँ विशेषरूप से अंतिम तीर्थंकर की स्तुति करते हुये कहते हैं—'सल्लघत्ताण'—चतुर्गति संसार में जो जीवों को 'शृणन्ति' कष्ट देते हैं—शारीरिक, मानस और आगंतुक दुःखों द्वारा पीड़ा पहुँचाते हैं वे शल्य कहलाते हैं, वे माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य हैं तथा क्रोधादि भी कदाचित् शल्य कहलाते हैं जैसे कि बाणादि

तृणकांचने शत्रुमित्रे च तुल्यं मनो यस्य। रागद्वेषरहितचित्त इत्यर्थः। **हे सुमण।** शोभनमार्त-रौद्ररहितं मनो यस्य। हे **सुसमत्थ।** कायक्लेशानुष्ठाने परीषहसहने च सुष्ठु समर्थाऽक्लीब। **हे समजोग।** शमेन परमोपशमेन योगः सम्बन्धो यस्य। **हे समभाव।** शमार्थं संसारोपशमार्थं रागद्वेषपरिहारार्थं वा भावो द्वादशानुप्रेक्षाभावनारूपो यस्य। एवंविधा ये यूयमर्हदादयस्तेभ्यो नमोऽस्तु। एवं सामान्यतः सर्वानर्हदादीन् स्तुत्वा पुनर्विशेषतोऽन्तिमतीर्थकरं स्तुवन्। **'सल्लघट्टाण'**–मित्याद्याह। **सल्लघट्टाणं।** चतुर्गतिसंसारे जीवान् शृणन्ति शारीरमानसागन्तुकदुःखैर्हिंसंति पीडयन्तीति शल्यानि निदानादीनि क्रोधादीनि च बाणादिशल्यवत्। तैर्घट्टानां पीडितानाम्। ये हि शैल्यैर्घट्टयन्ते पीड्यन्ते ते शल्यघट्टाः। तेषा शल्यघट्टानां प्राणिनाम्। हे **सल्लघत्ताण।** तद्दुःखहेतुभूतशल्यविनाशन। हे **णिब्भय।** सप्तभयरहित। हे **णीराय।** नीराग। निर्गतो रागो विषयासक्तिर्यस्य। हे **णिद्दोस।** हे निर्दोष। निष्कलंक अथवा अष्टादशदोषरहित। हे **णिम्मोह।** मोहादज्ञानाद्दर्शन-चारित्रमोहाद्वा निष्क्रान्त। हे **णिम्मम।** निर्मम। क्वचिदपि विषये ममत्वरहित। **हे णिस्संग।** बाह्याभ्यन्तरेण संगेन परिग्रहेण रहित। हे **णिस्सल्ल।** मायादिशल्यरहित। हे **माणमायामोसमूरण।** मानश्च गर्वो, माया च योगवक्रता, मोषश्च मृषावादस्तेषां

शल्य के समान। उन शल्यों से पीड़ित प्राणी 'शल्यघट्ट' कहलाते हैं। उन शल्यपीड़ित जीवों के शल्य घातक हैं अर्थात् उन चतुर्गति के दुःख के लिए कारणभूत जो शल्य हैं उनके विनाशक हैं। सात भयों से रहित होने से 'निर्भय' हैं। राग से रहित होने से 'नीराग' हैं। अठारह दोषों से रहित होने से 'निर्दोष' कहलाते हैं। मोह और अज्ञान से रहित होने से अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट कर देने से भगवान 'निर्मोह' कहलाते हैं। सभी सांसारिक विषयों में ममत्व रहित होने से 'निर्भय' हैं। बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहों से रहित होने से 'निःसंग' हैं। माया आदि शल्यों से विरहित होने से 'निःशल्य' हैं। गुण चौरासी लाख हैं, रत्न—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन हैं और शील के भेद अठारह हजार होते हैं, इन गुण, रत्न और शील के आप सागर है—निवास स्थान हैं अतः आप 'गुणरत्नशीलसागर' कहलाते हैं। अनंत केवलज्ञान दर्शन आदि से युक्त होने से 'अनंत' कहलाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान से—हम सभी छद्मस्थजनों के इन्द्रियज्ञान द्वारा नहीं जाने जा सकते अतः 'अप्रमेय' कहलाते हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट 'महतिमहावीर' और 'वर्द्धमान' इन दो नामों से विभूषित आप 'महतिमहावीर वर्द्धमान' कहलाते हैं।

भगवान महावीर के गर्भावतार आदि में माता-पिता की इन्द्रों द्वारा महती पूजा की गई थी और रत्नवृष्टि आदि की गई थी इसीलिये बंधुजनों ने भगवान का 'वर्धमान' यह नाम रखा था। अव-समंतात् सब तरफ से ऋद्ध-मान अर्थात् पूजा होने से वर्द्धमान-वर्धमान कहलाते हैं। भगवान वर्धमान जब दीक्षा लेकर ध्यान में खड़े थे तब रुद्र ने महान् उपसर्ग किया था किन्तु जब वह उन्हें ध्यान से चलायमान नहीं कर सका तब उसने प्रसन्न होकर 'महति महावीर' नामकरण किया था।

मूरण मर्दक। हे तवप्पहावण। तपसां प्रभावो माहात्म्यम्। प्रकृष्टानां वा तपसां भावनाऽनुष्ठानं यत्र। तपसा वा कायक्लेशादिना प्रभावना दर्शनोद्योतो यस्मात्। हे **गुणरयणसीलसायर।** गुणाश्चतुरशीति-लक्षसंख्याः, रत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि शीलान्यष्टादशसहस्रसंख्यानि तेषां सागर समुद्र निवासस्थान। **हे अणंत।** अनंतकेवलज्ञानदर्शनादियुक्त। हे **अप्पमेय।** इन्द्रियज्ञानापरिच्छेद्य। **एवंविधविशेषणविशिष्ट–महदिमहावीरवड्ढमाण।** अन्तिमतीर्थकरदेवस्य हीदं नामद्वयम्। भगवतो हि गर्भावतारादौ पित्रोरिन्द्रादिभिर्महती पूजा कृता रत्नवृष्ट्यादिका च। अतो बन्धुजनैर्भगवतो वर्धमान इति नाम कृतम्। अव समन्ताद्दद्धो मानः पूजातिशयो ज्ञानाद्यतिशयो बा यस्मादिति कृत्वा दीक्षां च गृहीत्वा ध्यानेन स्थितस्य तच्चालनार्थं रुद्रेण महत्युपसर्गे कृते ध्यानान्न चलित इति हेतोर्महतिमहावीर इति तेन नाम कृतम्। तस्येत्थम्भूतस्य **'बुद्धरिसिणो'** बुद्धो यथावत्परिज्ञाताशेषार्थस्वरूपः। स चासौ ऋषिश्च केवलज्ञा-नादिक्षायिकनवकेवललब्धिसम्पन्नः। तस्मै। **णमोत्थु दे।** नमोऽस्तु ते। नमोऽस्तु ते। नमोऽस्तु ते।

'बुद्धरिसिणो'—जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों को जैसे का तैसा जान लिया है ऐसे 'ऋषि' अर्थात् केवलज्ञान आदि क्षायिक नवकेवल लब्धियों से सम्पन्न होने से भगवान महावीर 'बुद्धर्षि' कहलाते हैं। इन सभी विशेषणों से समन्वित ऐसे अर्हंत, सिद्ध आदि विशेषणों से विशिष्ट हे महावीर स्वामिन्! आपके लिये नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

अरहंत, सिद्ध, बुद्ध, जिन, केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चौदश पूर्वगामी, श्रुतसमिति से समृद्ध, बारह प्रकार के तप और तपस्वी, गुण और गुणधारी, महर्षि, तीर्थ और तीर्थंकर, प्रवचन और प्रवचन वाले, ज्ञान और ज्ञानी, दर्शन और दर्शनी, संयम और संयत मुनि, विनय और विनीत मुनि, ब्रह्मचर्यवास और ब्रह्मचारी, गुप्तियाँ और गुप्तिमान, मुक्ति और मुक्तिमान, समितियाँ और समितिवान्, स्वसमय-परसमय के ज्ञाता, क्षांति—क्षपक और क्षांतिमान, क्षीणमोह और क्षीणमोहवान्, बोधितबुद्ध और बुद्धिमान, चैत्यवृक्ष और चैत्य—जिनप्रतिमायें ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

विशेषार्थ—ये अरिहंत, सिद्ध आदि सब मेरे मंगल के लिये—मल गालन करने वाले होवें। छ्यालीस गुण सहित भगवान अर्हंत कहलाते हैं। संसाररूपी विषम कष्ट को देने में कारणभूत कर्म हैं इन कर्मों को जड़मूल से नष्ट करने वाले 'जिन' कहलाते हैं। केवली भगवान अवधिज्ञानी महामुनि, मनःपर्ययज्ञानी महामुनि, चतुर्दश पूर्व और द्वादशांग के ज्ञानी, श्रुत—अंगबाह्य अर्थात् कालिक, उत्कालिक आदि भेदों को जो समिति—समूह उनसे समृद्ध—अंगबाह्य श्रुत के ज्ञानी बारह प्रकार के तप—अनशन आदि भेदों सहित और तपस्वी महासाधु, गण—मूलगुण एवं उत्तरगुण अथवा चौरासी लाख उत्तर गुण और उनके गुणों से युक्त महामुनि। महर्षि—कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि आदि परमऋद्धियुक्त मुनिगण ये सब मेरे मंगल के लिये होवें।

तथा–**मम मंगलं।** मलगाननिमित्तं भवन्तु। **के ते ? अरहंता य।** अर्हन्तश्च। **सिद्धा य।** सिद्धाश्च। **बुद्धा य।** बुद्धाश्च हेयोपादेयविवेकसम्पन्नाः। **जिणा य।** जिनाश्चानेकभवगहनव्यसन-प्रापणहेतुकर्मारात्युन्मूलकाः। चशब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये। **केवलिणो ओहिणाणिणो।** केवलिनोऽवधिज्ञानिनश्च। **मणपज्जवणाणिणो।** मनःपर्ययज्ञानिनः। **चोद्दसपुव्वंगमिणो।** चतुर्दशपूर्वाणामंगानां च मा परिज्ञानम्। सा येषामस्ति ते चतुर्दशपूर्वांगमिणः। व्रीह्यादित्वादिन्। चतुर्दशपूर्वद्वादशांगविद इत्यर्थः। **सुदसमिदिसमिद्धा य।** श्रुतस्यांगबाह्यस्य कालिकोत्कालिकादि-भेदभिन्नस्य समितिः समूहस्तेन समृद्धाश्च तत्परिज्ञानवन्तः। न केवलमेत एवार्हदादयो मम मलगाननिमित्तं भवन्तु, अपि तु।। **तवो य बारसविहो।** तपो द्वादशप्रकारं मम मंगलं भवतु। **तवस्सी।** तेन तपसा युक्तास्तपस्विनो मुनयो मम मंगलं भवंतु। **गुणा य।** चतुरशीतिलक्षसंख्याः गुणाश्च। गुणवन्तो ये तैर्गुणैर्युक्ता मुनयः। **महरिसी तित्थं तित्थंकरा य।** महर्षयः कोष्ठबुद्धिबीजबुद्ध्यादिपरमर्द्धियुक्ता मुनयः। तीर्थमागमस्तदाधारसंघश्च। तीर्थकराश्च तीर्थकरदेवा गणधरदेवाश्च। **पवयणं।** प्रकृष्टं पूर्वापरविरोधादि-दोषरहितं वचनम्। **पवयणी य।** प्रवचनी च प्रकृष्टवचनयुक्तः पुरुषविशेषः। **णाणं।** मत्यादिज्ञानं पञ्चविधम्। **णाणी य।** ज्ञानी च तज्ज्ञानयुक्तः पुरुषविशेषः। **दंसणं।** औपशमिकादिदर्शनत्रयम्। **दंसणी य।** दर्शनी च तद्दर्शनयुक्तः

तीर्थ—आगम और उस आगम के आधारभूत संघ ये तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान मेरे लिए मंगलकारी होवें। पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित वचन प्रवचन कहलाते हैं ऐसे प्रवचन और प्रवचन वाले महामुनि, मति आदि पंचविध ज्ञान और ज्ञानधारी महासाधु, त्रिविध सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन महामुनि, बारह प्रकार का संयम और संयमधारी संयत, ज्ञान, दर्शन , चारित्र और उपचार इन चार भेदरूप विनय और विनयगुण युक्त मुनिगण ये मंगलकारी होवें।

ब्रह्मचर्यवास—ब्रह्म—गुरुकुल—मुनिसंघ अथवा व्रतों में जो चर्या की जाती है—उनका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम ब्रह्मचर्य है उसके साथ जिनका वास है अर्थात् जो ब्रह्मचर्य युक्त हैं और जो ब्रह्मचर्य से सहित आत्मा—मुनि हैं। त्रिविध गुप्तियाँ और गुप्तिमान महामुनि हैं। बाह्य और अंतरंग परिग्रह का त्याग मुक्ति है और मुक्ति के परिग्रह के त्यागी अथवा मोक्षप्राप्त आत्मा मुक्तिमान कहलाते हैं। पाँच समितियाँ और समितिधारी महासाधु होते हैं। स्वसमय—जैनमत, परसमय—जैन से अतिरिक्त वैदिक, बौद्ध आदि मत इन सबके ज्ञाता जो महामुनि हैं। क्षांति—क्षमाशील, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ महामुनि और क्षमावान मुनि, क्षीणमोह—मोहरहित, परिणाम—बारहवां गुणस्थान और उस गुणस्थान वाले क्षीणमोहवान् निर्ग्रंथ महासाधु होते हैं। संसार, शरीर, विषय आदि में उपदेश से वैराग्य को प्राप्त 'बोधितबुद्ध' कहलाते हैं। कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धि से सहित महामुनि बुद्धिमंत कहलाते हैं।

पुरुषविशेषः। **संजमो**। संयमो द्वादशप्रकारः। **संजदा य**। संयताश्च तद्युक्ता मुनयः। **विणओ**। विनयश्च ज्ञानदर्शनचारित्रोपचार-लक्षणश्चतुर्विधो विनयः। **विणीदा य**। विनीताश्च विनयेन युक्ता मुनयः। **बंभचेरवासो य**। ब्रह्मचर्यवासश्च। ब्रह्माणि गुरुकुले व्रते वा चर्यतेऽनुष्ठीयत इति ब्रह्मचर्यम्। तेन सह वासस्तद्युक्तत्वेनावस्थानम्। **बंभचेरवासी य**। तत्सहवासवानात्मा। **गुत्तीओ चेव**। गुप्तयश्चैव सम्यग्योगनिग्रहलक्षणास्तिस्रः। **गुत्तिमंतो य**। गुप्तिमन्तश्चात्मानः। **मुत्तीओ चेव**। मुक्तयश्चैव। बहिरन्तर्वा परिग्रहमोचनानि परित्यागाः। **मुत्तिमंतो य**। तद्वन्तश्चात्मानः। **समिदीओ चेव**। ईर्यादयः पञ्चसमितयश्चैव। समिदिमंतो य। तद्वन्तश्चात्मानः। **समिदिमंतो य**। तद्वन्तश्चात्मानः। **ससमयपर-समयविदू**। स्वसमयो जैनमतं, परसमयः परमतानि। तौ विदन्ति ये ते तद्विदः। **खंतिखवगा य**। क्षान्त्या सकलपरीषहसहनेन परमक्षमया वा **'खवगा य'** क्षपकाश्च। क्षपकश्रेण्यारूढाः। **खीणमोहा य**। क्षीणमोहाश्च। क्षीणो मोहो दर्शनचारित्रमोहनीयं कर्म येषां ते क्षीणमोहाः। क्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनः। **बोहियबुद्धा य**। बोद्धितबुद्धाश्च। संसारशरीरविषयादौ हि परपदेशादेर्वैराग्यं प्रतिपन्नास्ते बोधितबुद्धाः। **बुद्धिमंतो य**। बुद्धयो हि कोष्ठबुद्धिप्रभृतयो विद्यंते येषां ते बुद्धिमंतः। **चेदियरुक्खा य**। चैत्यवृक्षाश्च। चैत्यानि हि जिनादिप्रतिबिम्बानि। तेषामाधारभूता वृक्षाश्चैत्यवृक्षाः। **चेदियाणि**। कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यानि। य अर्हंत इत्यादयश्चैत्यवृक्षपर्यन्ता व्याख्यातास्ते सर्वे मम मंगलं भवन्त्विति सम्बन्धः। तथा—

चैत्य—जिनप्रतिमायें और चैत्यवृक्ष—जिनवृक्षों में जिनप्रतिमायें विराजमान रहती हैं ऐसे अकृत्रिम जिनमंदिरों में तथा समवसरण में अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्र के वनों में ये चैत्यवृक्ष माने गये हैं। इस प्रकार कृत्रिम—देव, मनुष्यों द्वारा बनवायी गयी जिनप्रतिमाओं और अनादिनिधन-शाश्वत जिनप्रतिमायें, 'चैत्य' शब्द से कही जाती हैं।

ये अर्हंत, सिद्ध आदि चैत्यवृक्षपर्यंत सभी पूज्य—वंद्य गुण और गुणधारी महापुरुष हम सभी के लिये मंगलकारी होवें।

मैं ऊर्ध्वलोक के, अधोलोक के और तिर्यग्लोक—मध्यलोक के सिद्धायतन को नमस्कार करता हूँ। अष्टापद पर्वत, सम्मेदशिखर, ऊर्जयंत, चंपापुर, पावापुर, मध्यमानगरी, हस्तिबालिकामंडप की सिद्धनिषीधिकाओं को नमस्कार करता हूँ।

अन्य जो भी निषीधिकायें इन ढाई द्वीप में हैं। ईषत्प्राग्भार—सिद्धशिला पर स्थित सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्र से मुक्त नीरज, निर्मल हैं।

जो गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर हैं। चातुर्वर्ण और श्रमणसंघ हैं।

पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे ढाई द्वीपों की ये दश कर्मभूमियाँ हैं। पाँच महाविदेहों में जो कर्मभूमियों में ये गुरु आदि संघ पर्यंत हैं, ये सब मेरे लिये मंगलकारी होवें। लोक में जो भी साधु

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि। सिद्धायतनानि सिद्धप्रतिमानामधिष्ठानानि। णमंसामि। नमस्करोमि। क्व ? **उड्ढमहतिरियलोए।** मेरोरुपर्यूर्ध्वलोकस्ततोऽधस्तादधोलोकः। मेरुप्रमाणस्तिर्यग्लोकस्तत्र। तथा—**सिद्धणिसीहियाओ।** सिद्धानां मुक्तात्मनां निषीधिका निर्वाणक्षेत्राणि नमस्यामि। क्व ताः सिद्धनिषीधिकाः ? **अट्ठावयपव्वए।** अष्टापदपर्वते कैलासपर्वते। **सम्मेदे।** सम्मेदपर्वते। **उज्जंते।** ऊर्जयन्तपर्वते। **चंपाए।** चम्पानगर्याम्। **पावाए।** पावानगर्याम्। **मज्झिमाए।** मध्यमानगर्याम्। **हत्थिवालियसहाए।** हस्तिवालिकामण्डपे। **जाओ अण्णाओ।** इत्यादि। अन्या उक्तनिषीधिकाभ्यो व्यतिरिक्ता अनिर्दिष्टनामानो याः काश्चिदपि निषीधिकाः। **जीवलोयम्हि।** अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रद्वये। केषां निषीधिका इत्याह—**इसीत्यादि।** सिद्धानां निषीधिकाः। कथम्भूतानां सिद्धानाम्? **इसिपब्भारतलग्गयाणं।** ईषत्प्राग्भारो मोक्षशिला। तस्य तलमुपरितनभागः। तत्र गतानां स्थितानाम्। तथा—**बुद्धाणं।** पदार्थस्वरूपपरिज्ञानवतां, न पुनर्जडरूपाणाम्। तथा—**कम्मचक्कमुक्काणं।** कर्मणां

संयत और तपस्वी हों वे सब मुझे पवित्र करें और मंगलप्रद हों। मैं भाव से विशुद्ध होकर मस्तक झुकाकर हस्तांजलि को मस्तक पर धरकर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—मेरु के ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक, मेरु के नीचे को अधोलोक और मेरु की ऊँचाई प्रमाण तिर्यग्लोक में जो भी सिद्धों के—मुक्तात्माओं के निषीधिका—निर्वाणक्षेत्र हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये सिद्ध निषीधिकायें कहाँ-कहाँ हैं ?

अष्टापदपर्वत—कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर पर्वत, ऊर्जयंतपर्वत—गिरनार, चम्पापुरी, पावापुरी, मध्यमानगरी और हस्तिबालिकामंडप ये सिद्ध निषीधिकायें हैं। इन निर्वाण क्षेत्रों से अतिरिक्त जिनके नाम निर्दिष्ट नहीं किये गए हैं ऐसी जो कोई भी निषीधिकायें इस ढाईद्वीप और दो समुद्र के अन्तर्गत हैं उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ये निषीधिकायें किन-किनकी हैं ?

यह सिद्धों की निषीधिकायें हैं।

ईषत्प्राग्भार—मोक्षशिला—सिद्धशिला कहलाती है। उसके ऊपर के तलभाग पर स्थित जो सिद्धक्षेत्र भगवान हैं उन्हीं के विशेषण बतलाते हैं। **बुद्धाणं**—संपूर्ण पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले हैं वे सिद्ध जड़रूप नहीं हैं। **कम्मचक्कमुक्काणं**—ज्ञानावरणादि मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक भेदरूप कर्मों से रहित हैं। **णीरयाणं**—रज—ज्ञानावरण, दर्शनावरण अथवा पाप, इनसे जो रहित हैं।

णिम्मलाणं—सम्यग्दर्शनादि के अतिचार—दोष और भावकर्मरूपी मलों से रहित हो चुके हैं। इन सिद्धशिला के उपरिम भाग में विराजमान सिद्धों को नमस्कार हो।

ज्ञानावरणादीनां चक्रं मूलोत्तरप्रकृतिभेदप्रपञ्चः। तेन मुक्तानां रहितानाम्। तथा—**णीरयाणं**। रजो ज्ञानदृगावरणे पापं वा। ततो निष्क्रान्तानाम्। तथा—**णिम्मलाणं**। मलः सम्यग्दर्शनाद्यतिचारः भावकर्म वा। ततो निष्क्रान्तानाम्। तथा—**गुरु-आयरिय-उवज्झायाणं**। गुरवो दीक्षागुरवः शिक्षागुरव इत्यादयः। आचार्याः पञ्चविधाचारचरणाचरणकुशलाः। उपाध्याया अंगप्रविष्टांगबाह्यश्रुतोपदेशकाः। एतेषां च याः काश्चिन्निषीधिकाः। तथा—**पव्वत्तिथेरकुलयराणं**। प्रवर्तनां सन्मार्गप्रवर्तकानां, स्थविराणां वयोवृद्धानां, गुणज्येष्ठानां वा, कुलकराणां नन्दिदेवसेनसिंहसंघ-देशिगणबलात्कारगणकाणूर-गणसूरस्थगणप्रभृति-संघगणभेदकराणां च याः काश्चिन्निषीधिकास्ता नमस्यामि। तथा—**चाउवण्णो य समणसंघो य**। श्रमणानां व्रतिनां सङ्घःसमुदायः। चातुर्वर्णश्चतुष्प्रकारः, ऋषियतिमुन्यनगारभेदात्, अथवा ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकाभेदात्। क्वत्यस्तत्संघः? **भरहेरावएसु दससु**। अर्धतृतीयद्वीपेषु हि पंच भरताः पंचैरावताश्च। तेषु यस्तत्संघः। तथा—**पंचसु महाविदेहेसु**। यस्तत्संघ स मम मङ्गलं भवत्विति। तथा—**जे लोए संति साहू**। लोके मानुषोत्तरवलयाकृतिपर्वतावधिक्षेत्रे ये सन्ति साधवः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षं साधयन्ति साधितवन्तश्च ये ते साधवः।। तथा—**संजदा तवस्सी**। संयतास्तपस्विनः। **एदे मम मंगलं पवित्तं**। एते कर्तृभूता मम पवित्रं मंगलं मलगालननिमित्तं सुखावाप्तिनिमित्तं वा भवन्तु। **एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा**। एतान्कर्मतापन्नानहं भावतो विशुद्धः शिरसोत्तमांगेन मंगलं करोमि स्तुतिगोचरतां

गुरु-आयरिय-उवज्झायाणं—गुरु—दीक्षागुरु, शिक्षागुरु आदि गुरु कहलाते हैं। पाँच प्रकार के आचारों के पालन करने वाले और कराने वाले आचार्य कहलाते हैं इनकी जो निषीधिकायें हैं तथा—**पव्वत्तिथेरकुलयराणं**—सन्मार्ग के प्रवर्तक प्रवर्तित हैं। वयोवृद्ध साधु स्थविर हैं अथवा गुणों में ज्येष्ठ भी स्थविर कहलाते हैं। नंदिसंघ, देवसंघ, सेनसंघ और सिंहसंघ ये संघ कहलाते हैं। देशिगण, बलात्कारगण, काणूरगण और सूरस्थगण ये गण शब्द से कहे जाते हैं। इन संघ और गणों के भेद वाले महामुनियों की जो कोई भी निषीधिकायें हैं। इन सब निषीधिकाओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्रतिक—संयमियों के चार भेद माने हैं—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन्हें चातुर्वर्ण श्रमणसंघ कहते हैं अथवा ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के भेदरूप चातुर्वर्ण संघ या चतुर्विधसंघ कहलाता है।

यह संघ कहाँ-कहाँ पाया जाता है ?

ढाई द्वीपों में पाँच भरत और पाँच ऐरावत ऐसे दश क्षेत्र माने हैं तथा पाँच महाविदेह माने हैं। इन पंद्रह कर्मभूमियों में यह चतुर्विध संघ रहता है यह संघ मेरे लिये मंगलकारी होवे।

नयामि, 'आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्र'—मित्यभिधानात्। किं कृत्वा तान्मंगलं करोमि ? सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे। शिरसाऽभिवंद्य सिद्धान्। किं कृत्वा ? काऊण अंजलिं मत्थयम्हि। मस्तके अंजलिं करमुकुलं कृत्वा। अहं किंविशिष्टः ? तिविहं तिरयणसुद्धो। देववंदनाप्रतिक्रमणस्वाध्यायलक्षणत्रिविधक्रियानुष्ठाने त्रीणि करणानि मनोवाक्कायलक्षणानि शुद्धानि यस्य।

।। इति निषीधिकादण्डक विवरणम्।।

लोक में—मानुषोत्तर पर्वत वलयाकार है जो कि ढाई द्वीप की सीमा पर है। उन ढाई द्वीप क्षेत्र के अंदर में जो भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं और कर चुके हैं वे सभी दिगम्बर जैन साधु, संयत, तपस्वी मेरा मंगल करें और मुझे पवित्र करें—मलगालन के लिये जो निमित्त है उसे मंगल कहते हैं अथवा सुख को प्राप्त कराने में जो निमित्त है उसे भी मंगल कहते हैं।

इन सबका मैं भाव से विशुद्ध होता हुआ शिर झुकाकर मंगल करता हूँ अर्थात् स्तुति करता हूँ। कहा भी है—

आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेंद्रगुणस्तोत्र-मित्याहुर्मुनिपुंगवाः।

ग्रन्थ रचना के आदि, मध्य और अन्त में बुद्धिमानों को मंगल करना चाहिये। वह जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्तोत्र ही है ऐसा महामुनियों ने कहा है।

किस विधि से मैं मंगल—स्तुति करता हूँ ?

मैं देववंदना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय इन तीन प्रकार की क्रियाओं के अनुष्ठान में मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अंजलि को मस्तक पर रखकर शिर झुकाकर सिद्धों की वंदना करके उपर्युक्त सभी सिद्धनिषीधिकाओं, सिद्धों को, सिद्धक्षेत्रों को, गुरु-आचार्य-उपाध्याय आदि महामुनियों को नमस्कार करता हूँ।

इति श्रीगौतमस्वामीप्रणीत-श्रीगौतमगणधरवाण्यां गणिनीज्ञानमती-
विरचित-अमृतवर्षिणीटीकायां निषीधिकादण्डकनामा
पंचमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रशस्ति

श्री शांतिनाथ श्री कुंथुनाथ, अरनाथ प्रभू को नमन करूँ।
तीर्थंकर चक्री कामदेव, त्रयपद धर का संस्तवन करूँ।।
जिनके शासन में ज्ञान मिला, उन महावीर प्रभु को प्रणमूँ।
श्री गौतम स्वामी गणधर गुरु, उनकी वाणी को नित्य नमूँ।।१।।

श्री चैत्यभक्ति, प्रतिक्रमण तीन, श्री गौतम गुरु की रचना हैं।
इनमें से कुछ कुछ सार लिया संकलन किया यह रचना है।।
श्री कुंदकुंद आचार्यवर्य की, परम्परा अक्षुण्ण रहे।
आचार्यों की मणिमाला को, नित नमूँ भक्ति अक्षुण्ण रहे।।२।।

श्री मूलसंघ में कुंदकुंद, आम्नाय जगत में मान्य रहे।
सरस्वतीगच्छ गण बलात्कार, सम्पूर्ण विश्व में ख्यात रहे।।
इस परम्परा में सदी बीसवीं-में गुरु प्रथमाचार्य हुए।
चारित्रचक्रवर्ती यतिपति, श्री शांतिसागराचार्य हुए।।३।।

इनके जो प्रथम शिष्य ही प्रथमहि, पट्टाधीश मान्य मुनिवर।
श्री वीरसागराचार्य गुरू, उनको नित वन्दूँ अंजलिकर।।
वैशाख वदी द्वितिया उनसे, आर्यिका व्रतों को प्राप्त किया।
गुरुद्वय को प्रणमूँ बार-बार, जिनसे शिवमार्ग प्रशस्त किया।।४।।

ईसवी सन् उन्नीस सौ छप्पन में बनी आर्यिका ज्ञानमती।
इस पूर्व उन्नीस सौ बावन में, श्री शरदपूर्णिमा जन्मतिथी।।
इस दिन गृहत्याग दिया मैंने, अतएव बनी यह त्याग तिथी।
माँ मोहिनी का अवलंब मिला, फिर धन्य हो गई जन्म तिथी।।५।।

ईसवी सन् उन्नीस सौ त्रेपन, में चैत्र वदी तिथि थी एकम्।
श्री देशभूषणाचार्य गुरू, श्री महावीर जी तीर्थ उत्तम।।
मैं वीरमती क्षुल्लिका बनी, अतिशायी ज्ञानाभ्यास किया।
माँ सरस्वती का ही प्रसाद, फिर नाम 'ज्ञानमति' सार्थ किया।।६।।

वीराब्द पचीस शतक चालिस, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा धन्य।
''श्री गौतमगणधर वाणी'' का, पंचम अध्याय हुआ पूर्ण मान्य।

इस पर ''अमृतवर्षिणी'' नाम, टीका से अतिशय ग्रंथ बना।
इसमें संकलित अध्याय तीन, जिनवचनामृतमय पूर्ण घना।।७।।

यह ग्रंथ युगों युग तक भव्यों, को अमृतवर्षा से पुष्ट करे।
जब तक इस हस्तिनागपुर में, श्रीशांतिनाथ के गुण उचरें।।
जब तक यहाँ जम्बूद्वीप सुमेरु, तेरहद्वीप तीर्थ उत्तम।
यहाँ तीनलोक रचना सुंदर, तब तक यह ग्रंथ रहे शुभतम।।८।।

-दोहा-

नमूँ नमूँ गणधर वचन, करूँ सतत अभ्यास।
ज्ञानमती कैवल्य हो, पाऊँ मोक्ष निवास।।९।।

सूक्तिवचन

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शन वरम्।''

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैन न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में फंसकर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थी में न फंसना ही अच्छा है।

श्री वीरजिन स्तोत्र

–गणिनी ज्ञानमती

—शंभु छंद—

श्री सिद्धार्थ नृपति के नंदन, नाथवंशमण्डन महावीर,
कुंडलपुर में श्री त्रिशला–माता से जन्म लिया तुम वीर।
सिद्धवधूप्रिय ! सकलभव्यजन, के हितकारी वीरप्रभू,
श्रीसन्मति जिन मुझको सन्मति, दीजे नितप्रति विनय करूँ।।१।।

दुरितपंक से पंकिल पृथ्वी, कीच सहित सर्वत्र अहो !
केवलज्ञान सूर्य किरणों से, सदा सुखाते रहते हो।
भव्यजनों के मन सरोज को, सदा खिलाते हो भगवन्।
सुरगण पूजित सन्मति–जिनका, करूं भक्ति से सदा स्तवन।।२।।

पावापुर के बीच कमल युत, जल से पूर्ण सरोवर है,
वहीं योग का निरोध करके, कर्माटवी जलाई है।
उपमा रहित मुक्तिललना को, प्राप्त किया शिवपुर जाके,
अनंत सुखमयधाम मुक्तिपति, है नमोऽस्तु तुमको रुचि से।।३।।

त्रिदशपति से पूज्य चरण हे, महावीर ! तुम धीर महान।
त्रिभुवनपति हे जगत व्याप्त शुचि, महितज्ञान ! जिनपति गुणखान।।
निखिल जगत संताप हरण प्रभु, तुमको मेरा नित्य नमन।
सकल कलुष के नाश करन को, मुझे शक्ति दीजे भगवन्।।४।।

महामोह व्याधि नाशन को, वैद्य मदनभट विजयी हो,
ईर्ष्या मान असूया विजयी, त्रिभुवनसूर्य मुक्तिपति हो।
भवसमुद्र में पतित जीव को, आलंबन दाता तुमही,
करूं संस्तुति सदा वीरप्रभु, की मुझको दीजे सुमती।।५।।

वीतराग ! हे वीतद्वेष ! हे वीतमोह ! हे वीतकलुष !
हे विजिष्णु ! हे भ्राजिष्णु ! हे विजितेन्द्रिय ! हे स्वस्थसुचित्त।
सदानंदमय ज्ञानी ध्यानी जग में परम ब्रह्म भगवन्,
भक्ती से मैं करूं वंदना मेरा मन पवित्र हो जिन!।।६।।

मतिश्रुत अवधिज्ञान त्रयधारी, स्वर्गलोक से च्युत होकर,
माता के शुचि उदय गर्भ में, भी त्रय ज्ञानी रहे प्रखर।
अतिशय विमल पुण्य तीर्थंकर, नामकर्म का बंध महान्,
पंचमहा कल्याणक वैभव, प्राप्त किया सुरपूज्य प्रधान।।७।।

महामेरु कनकाचल पर शुभ, पांडुकशिला बनी सुन्दर,
सुरपति ने तव जन्म महोत्सव, में अभिषेक किया उसपर।
देव इन्द्र असुरेन्द्र सभी मिल, महा महोत्सव नृत्य किया,
अतुल शक्ति युत वीरप्रभू का, जन्मोत्सव कर पुण्य लिया।।८।।

समवसरण में द्वादश परिषद, मध्य रत्नसिंहासन पर,
चतुरंगुल के अंतराल से, शोभें, प्रभु शशिसम सुन्दर।
गणधर मुनिगण विद्याधरपति, नरपति सुरपति से पूजित,
असंख्य ज्योतिष व्यंतर सुर नुत, उन्हें नमूं मैं रुचि से नित।।९।।

तीन लोक में भटक-भटक कर, बहुत दुःखी हो रहा जिनेश !
नरकों में मैं वचन अगोचर, कष्ट सहे हैं हे परमेश !।
इस दुःखसागर में प्रभु तुमको, पाया बड़ी कठिनता से,
रक्षा करो प्रभो करुणाकर, रक्षा करो झटिति आके।।१०।।

भव-भव में जितने दुःख पाये, नहीं वचन से कह सकते,
हा ! हा ! कर संक्लेश भाव धर, जैसे तैसे ही सहते।
सम्यग्दर्शन सहित समाधी मरण काल में नहिं पाई,
बार-बार अतएव जन्म मरणादि दुःख भोगे सब ही।।११।।

बचपन से अब तक जीवन में, जिनभक्ती दानादि किया,
पंचकल्याणक तीर्थों पर जा, जिनवर वंदन स्तवन किया।
जितना भी सब पुण्य हुआ वह, एकत्रित मम जीवन में,
मेरे प्राण प्रयाण समय प्रभु, वह सब पुण्य सहायि बने।।१२।।

जनम मरण से तथा विविध, रोगों से पीड़ित भववन में,
कुमरण के ही कारण जिनवर ! दुःखी हुआ तनु धर-धर मैं।
आज कदाचित् दुर्लभता से, जिन ! तव धर्म को पाया है,
अन्त समय में श्रेष्ठ समाधी होवे यही याचना है।।१३।।

हे प्रभु ! मेरे मरण समय में, मोह कषायें प्रगट न हों,
रोग जनित पीड़ा नहिं होवे, मूर्च्छा आशा भी नहिं हो।
प्राण निकलते समय वीर ! मम कंठ अकुंठित बना रहे,
महामंत्र को जपते-जपते, प्रभु समाधि उत्तम होवे।।१४।।

घोर निगोद महासागर में, काल अनन्त बिताये हैं,
भीत भयंकर नरकगती में, दुःख अनन्त उठाये हैं।
क्रूर कुतिर्यंचों में कुनरों, में असुरादिक देवों में,
अगणित कष्ट सहे हैं अब तुम, शरण लिया व्याकुल हो मैं।।१५।।

क्रुद्ध महाआशीविष सर्प के, डसने से मूर्च्छित जन की,
औषधि मंत्र जलादिक से, विष दूर भगे शांति होती।
तद्वत् मोह महा अहि विष से, मूर्च्छित संसारी जन की,
तव स्तुति मंत्रों से मूर्छा, हटे प्रकट हो सुख शांती।।१६।।

हे प्रभु ! तव शरीर कांती है, सुवर्ण सम अतिशय सुन्दर,
चन्द्र समान धवल तव कीर्ती व्याप्त हो रही त्रिभुवन भर।
ध्यान महानल में तमने, कार्मण शरीर भी भस्म किया,
हे अतिवीर ! सुगुण गंभीर ! नमूं तुम्हें त्रयशुद्धि सदा।।१७।।

धर्म सुधा बरसाने में प्रभु, पूर्ण चन्द्रमा तुमही हो,
दुरित अन्धेरे को हरने में, सहस्त्ररश्मी तुम ही हो।
मोह महातम से अंधे हैं, त्रिभुवन के सब प्राणीगण,
ज्ञानौषधि से चक्षु खोलते, तुम्ही चिकित्सक हो भगवन्।।१८।।

स्यात्पद से युत पवित्र वचनामृत से भविजन खेती को,
सिंचन करके फल युत करते, मेघसमान विभो ! तुम हो।
व्रत गुणशीलादिक चरित्र को, दोष रहित पाला तुमने,
उस ही का फल शिवसुख पाकर, हे प्रभु ! तुम कृतकृत्य बने।।१९।।

मुनिगणवंदित चरणसरोरुह, भविजन हृदय कमल भास्कर,
मोह महारिपु जीत बने तुम, वीर तुम्हें वंदन जिनवर !
सुर असुरादिक वंद्य श्रेष्ठपद, पाया तुमने हे जिनराज,
प्रणमन करूं सदा शिरनत कर, जन्म सफल है मेरा आज।।२०।।

जय जय वीर जिनेश्वर हे ! जय, सदा तुम्हारी जग में हो,
हे जिनशासन सूर्य ! धरा पर, नित चमको नित हर्ष करो।
भव्य जनों की कुमति निवारो, हे जिनवर ! सुमतिप्रद हो,
जय हो जय हो वीर प्रभो ! जय वीर प्रभो ! महावीर प्रभो! ।।२१।।

जिनशासन वर्धन में शशिसम, त्रिभुवन में हो जयशील सदा,
भविजन मन आल्हादनकारी, दीजे मम शिवसौख्य सुधा।
हे शरणागतवत्सल ! मुझ, दुःखितजन पर करुणा करिये,
भव अनंत के संचित अब सब, कर्म धूलि झटिति हरिये।।२२।।

महाशुक्ल सुद्ध्यान अग्नि में, अष्टकर्म वन भस्म किया,
अनंत दर्शनज्ञान वीर्यसुख, मय अनंत गुण प्राप्त किया।
केवलज्ञान सूर्य ! हे भगवन् ! जगत चराचर देख लिया,
त्रिभुवन स्वामी अंतर्यामी, नमूं भक्ति से खोल हिया।।२३।।

भूतकाल में अनंत जिनवर, हुये अभी जो होते हैं,
तथा भविष्यत में अनंत, तीर्थंकर होंगे इस जग में।
त्रैकालिक सब तीर्थंकरों की, करूं वंदना भक्ती से,
त्रैकालिक दोषों की शुद्धी, हेतु नमूं त्रयशुद्धी से।।२४।।

श्रीजिनवृषभदेव से लेकर, अंतिम महावीरजिन तक,
चौबीस तीर्थंकरों का वंदन, करूं त्रिकाल झुका मस्तक।
विदेह क्षेत्रज विद्यमान, सीमंधर आदि बीस जिन की,
करूं वंदना त्रयकालिक सब, जिनवर गणधर मुनिगण की।।२५।।

महाधीर जन में तुम उत्तम–धीर महावीरों में वीर,
सभी लोक को किया विलोकन, महाज्ञान में ज्ञानी वीर।
महापूज्य गणधर से पूजित, महावीर्य युत में भी वीर,
महादेव के देव तुम्ही हो, महाश्रेष्ठ मैं नमूं सुधीर।।२६।।

केवलज्ञान किरण से जग को, व्यापा अतः विष्णु तुमही,
महामोह भट जिष्णु जगत में, ख्यात भविष्णु सहिष्णू भी।
अलंकार से रहित सुशोभित, सुतनु बाल ब्रह्मचारी हो,
हे अतिवीर ! धर्म के भर्ता, नमोऽस्तु तुमको नित मम हो।।२७।।

अखिल दोष के हर्ता प्रभु तुम, अखिल सौख्य के कर्ता हो,
मोक्षमार्ग के तुम्हीं विधाता, मुक्ति श्री के दाता हो।
अखिल तत्त्व के तुम हो ज्ञाता, अष्ट कर्म के संहारक हो,
शिवलक्ष्मी के भर्त्ता तुमको, सदा नमोऽस्तु हमारा हो।।२८।।

दुःख दावानल की ज्वाला से, ज्वलित अनंते भव वन में,
अनंत प्राणीगण से व्यापित, महा भयंकर इस जग में।
विविध-विविध खलकर्म उदय से, भटक रहें जन झुलस रहें,
यदि वे जन तव भक्ति करें, निश्चित अनुपम पद प्राप्त करें।।२९।।

तीन लोक में घूम घूम कर, निगल रहा सब प्राणीगण,
क्रूर सिंह सम महा भयंकर काल शत्रु संमुख लखकर।
उसको भी तव भक्त जीतकर, मृत्युंजय बन जाते हैं,
स्मरजित् ! मृत्युञ्जय ! नमोऽस्तु मम मृत्यु नाश के हेतू हैं।।३०।।

तनु, धन, पुत्र, मित्र, भार्या, गृह, आदि सभी मेरे निश्चित,
मैं हूँ उनका इसविध विषयों, मैं ही फंसा हुआ संतत।
नहिं पाकर परमात्मा को मैं, बहिरात्मा जग में दुःखी,
हे जिनेन्द्र ! अब शरण तुम्हारी, गही करो रक्षा झटिती।।३१।।

क्वचित् कदाचित् काललब्धि से, अंतर आत्मा यदी हुआ,
तब मैं नरसुर गति आदिक, बाह्य कर्मकृत समझ लिया।
निज आत्मा को निश्चयनय से, विशुद्ध परमात्मा सम जान,
पूर्णचरित धर स्वयं स्वात्मरत, परमात्मा हो जाऊँ महान।।३२।।

सकल जगत युगपत् त्रिकालयुत, तुम्हीं जानते हो भगवन्!
समस्त गुण पर्यायों सह सब, द्रव्य देखते हो तत्क्षण।
तव वचनांबुधि सुनयसप्तभंगी, मय सप्ततत्त्व पूरित,
अपने दुरित पंक क्षालन को, उनमें स्नान करूँ निश्चित।।३३।।

अचिंत्य महिमाधारी गुण-रत्नों के कल्पवृक्ष तुमही,
अतुल्य गुणगण पत्र पुष्प, दशधर्मों की शाखायें भी।
अनंत गगनांगण में फैला, यशःकुसुम सौरभ तेरा,
अनंत अनुपम सौख्य मनोहर, भव्य जनों को फल देता।।३४।।

नमोऽस्तु तुमको सकल लोक के, चूड़ामणि हे परमात्मन्!
नमोऽस्तु तुमको वीर ! धीर ! महावीर प्रभो त्रिशलानंदन!
नमोऽस्तु तुमको जिनपुंगव ! जिन वर्धमान ! हे प्रभु अतिवीर !
नमोऽस्तु तुमको हे सन्मति प्रभु ! मुझको सन्मति दो जिनवीर।।३५।।

इसविध श्री जिनवीर स्तुति को, जो एकाग्रमना होकर,
नित्य त्रिसंध्या में पढ़ते हैं, भक्ती से हर्षित होकर।
वे भाक्तिक जन शीघ्रतया ही, घाती कर्म नशाते हैं,
केवल ''ज्ञानमती'' अर्हंत-प्रभू की लक्ष्मी पाते हैं।।३६।।

गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के अनमोल वचन

संसार समुद्र से निकालने वाले गुरु का उपकार कभी मत भूलो चाहे कितने ही महान पद पर क्यों न पहुँच जाओ, क्योंकि वे गुरु गर्भाधान क्रियाविहीन माता के समान होते हैं।

सिद्ध स्तोत्र

–गणिनी ज्ञानमती

—नरेन्द्र छंद—

जय जय सिद्ध अनंतानंते, जय जय श्री भगवंता।
जय जय परमानंद सुधारस, आस्वादी शिवकंता।।
श्री तीर्थंकर छ्यालिस गुणधर, सिद्ध हुये सुख पाये।
तीर्थंकर बिन हुए अनंते, भव्य सिद्ध पद पाये।।१।।

कोई अंतकृत केवलि होकर, सिद्ध हुए गुण गायें।
बिना अंतकृत केवलि भी तो, अगणित जन शिव पाये।।
जल से भी हुये सिद्ध अनंते, सो कैसे यह सुनिये।
कोई देव या खेचर मुनि को, जल में डालें सुनिये।।२।।

सत्रह लाख सु बानवे सहस्त्र, नब्बे अकृत्रिम नदियां।
जंबूद्वीप में कृत्रिम कूप, जलधि सरवर बहुनदियां।।
द्वीप धातकी पुष्करार्ध में, नदी कुंड ह्रद आदी।
लवणोदधि कालोदधि सागर, ये जल भरे अनादी।।३।।

तत्क्षण केवलज्ञानी होकर, शिव पाते ये जल से।
नमूँ नमूँ मैं सिद्ध अनंतानंत भाव उज्ज्वल से।।
थल में सिद्ध अनंतानंते, भूमि तथा पर्वत से।
सब सिद्धों का वंदन करते, मिले सिद्धगति सुख से।।४।।

जंबूद्वीप में तीन सौ ग्यारह, पर्वत मेरू आदी।
चौंतिस कर्मभूमि छह भोग, भूमि जंबूतरु द्वयादी।।
इक सौ सत्तर म्लेच्छ खंड अरु, चौंतिस आरज खंड हैं।
इनसे मुक्त जो स्थल सिद्धा, नमत पाप शत खंड हैं।।५।।

गगन पथों में अधर रहें भी, अगणित मुनि शिव पाते।
ये भी सब उपसर्ग सिद्ध हो, गणधर गुरु इन ध्याते।।
ऊर्ध्वलोक से एक लाख, योजन तक अधर कहीं से।
मध्यलोक से अधोलोक से, बिल सुरंग जलधी से।।६।।

इन सबसे उपसर्ग सहन कर, बिन उपसर्ग शिव जाते।
सुषमसुषम आदिक छह कालों, से भी मुक्ती पाते।।
प्रथम द्वितीय रु तृतिय व पंचम, छठे काल से भी हों।
उपसर्गों से सिद्ध हुये ये, चौथे में द्वय विध हों।।७।।

तृतिय अंत में सिद्ध हुए, श्रीवृषभ आदि भगवंता।
पंचमकाल के आरंभ में, गौतम आदिक शिवकंता।
शाश्वत इक सौ साठ कर्मभू, काल वहाँ चौथा ही।
पाँच भरत पण ऐरावत में, काल परावृत छह ही।।८।।

नाना भेद कहे सिद्धों के, भूत सुनैगमनय से।
वहाँ न किंचित भेदभाव है, सबके गुण इक जैसे।।
ढाईद्वीप में अणूमात्र भी, जगह नहीं है ऐसी।
मुक्त नहीं हैं हुये जहाँ से, सिद्धशिला भी वैसी।।९।।

धन्य घड़ी यह धन्य दिवस यह, धन्य भाग्य है मेरा।
सब सिद्धों के गुण गाने का, मिला प्रभात सबेरा।।
नमूँ नमूँ मैं सिद्ध अनंते, हृदय कमल में ध्याऊँ।
नितप्रति वंदन गुण कीर्तन कर, जिनगुण संपति पाऊँ।।१०।।

—दोहा—

चिदानंद चिद्रूप को, नमूँ नमूँ शिर टेक।
मांगू केवल ''ज्ञानमति'', यही याचना एक।।११।।

श्री गौतम स्वामी प्रणीत प्रतिक्रमण पाठ में परिवर्तन-परिवर्धन उचित नहीं है।

(१) करोम्यहं — आजकल कुछ साधु-साध्वियां ''**कुर्वेऽहं**'' क्रिया को पढ़ने लगे हैं किंतु मुझे यह संशोधन नहीं जँचा है अतः मैंने यहाँ ''**करोम्यहं**'' ऐसा आचार्य प्रणीत प्राचीनपाठ ही सर्वत्र रखा है।

सिद्धांतचक्रवर्ती श्रीवीरनंदि आचार्य ने आचारसार ग्रंथ में ''**करोम्यहं**'' पाठ ही लिया है। यथा- ''**क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्याः करोम्यहं**[१]।''

अनगार धर्मामृत में पाक्षिक प्रतिक्रमण के लक्षण की स्वोपज्ञटीका में ''**करोम्यहं**'' क्रिया का प्रयोग पंद्रह बार आया है। उदाहरण के लिये देखिये-

''**सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं**[२]।'' इत्यादि।

क्रियाकलाप में देववंदना, दैवसिक प्रतिक्रमण, पाक्षिकप्रतिक्रमण एवं अन्य क्रियाओं की प्रयोगविधि में ''**करोम्यहं**'' पाठ ही उपलब्ध है।

चारित्रसार ग्रंथ में भी-"**चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्य** .....इत्यादि पाठों में ''**करोमि**'' क्रिया ही है। ऐसा ही सामायिक भाष्य ग्रंथ एवं प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में भी ''**करोमि, करोम्यहं**'' पाठ ही उपलब्ध हो रहे हैं। कुल मिलाकर सभी ग्रंथों में इस परस्मैपदी ''**करोमि**'' क्रिया ही उपलब्ध हो रही है पुनः इसे बदलकर ''**कुर्वेऽहं**'' पाठ क्यों रखा गया? यह विचारणीय है।

(२) ''**णाणाणं दंसणाणं चरित्ताणं**' पाठ सामायिक दण्डक में है यहाँ 'तवाणं' पाठ बढ़ाया है सो उचित नहीं है देखिये प्रमाण-

''**णाणाणमित्यादि-ज्ञानदर्शनचारित्राणां सदा करोमि क्रियाकर्म। गुणानामानन्त्य-संभवेऽपि रत्नत्रयस्य प्राधान्येन मोक्षोपायभूतत्वात्तदेव स्तुतम्।**''

(क्रियाकलाप पृ. १४६)

इससे स्पष्ट है कि '**तवाणं**' पद मूल में नहीं है। टीकाकारों ने भी नहीं माना है।

(३) ऐसे ''**कीरंतं पि ण समणुमणामि**'' पाठ के स्थान पर-

''**अण्णं कंरंतं पि ण समणुमणामि**'' पाठ श्री गौतमस्वामी की कृति में सुधारना सर्वथा अनुचित है।

---

१. आचारसार पृ. १९१। २. अनगार धर्मामृत मूल संस्कृत अ. ९ पृ. ६५७।

(४) इसी प्रकार–

''**वंदामि रिट्ठणेमिं**'' पाठ ही थोस्सामि स्तव में सर्वत्र मान्य है।

श्रमणचर्या के प्रथम संस्करण में–

'**वंदाम्यरिट्ठणेमिं**' किया है। पुनः द्वितीय संस्करण में ''**वंदे अरिट्ठणेमिं**'' किया है।

इस परिवर्तन पाठ को पढ़ना उचित नहीं है।

(५) सामायिक भाष्य में चैत्यभक्ति की अंचलिका की टीका में देखिए–

''**अंचेमि अर्चामि। पूजेमि पूजयामि। वंदामि स्तौमि। णमंसामि नमस्यामि प्रणिपतामि।**''

(सामायिक भाष्य पृ. १७५)

टीकाकार ने भी प्राचीन पाठ ही लिया '**अंचेमि**' आदि। अतः–

श्रमणचर्या में पृ. १०२ पर–

''**अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमस्सामि।**'' पाठ सुधारना कहाँ तक उचित है।

(६) इसी तरह ''**सल्लेहणामरणं**'' के अनंतर ''**तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि**'' पाठ हटाकर ''**इच्चेदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि**'' बढ़ाना उचित नहीं है। मूल पाठ जो क्रियाकलाप' आदि ग्रंथों में चला आ रहा है। उसे ही पढ़ना चाहिये।

(७) '**जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साावियाओ वा खुड्ढय खुड्ढियाओ वा अट्ठदहभवणवासिय-वाणविंतरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्तउवरिम-अण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उववज्जंति।**'

जो श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका इन उपर्युक्त बारह व्रतों को या ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हैं वे अठारह स्थान को, भवनवासी, वान व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों को छोड़कर ऊपर के स्वर्गों में से किसी भी स्वर्ग में महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

सन् १९५८ में एक विद्वान ने कहा कि '**अट्ठदह**' पाठ का अर्थ समझ में नहीं आता है अतः इसके स्थान में '**णट्ठदेहा**' पाठ हो सकता है।'

कुछ पुस्तकों में उन्होंने ऐसा संशोधन करा दिया किन्तु उनसे कहा गया कि–पंडित जी! श्रावक-श्राविका और क्षुल्लक-क्षुल्लिका '**नष्टदेहाः**'–देहरहित तो होते नहीं हैं। अतः यह संशोधन मुझे संगत नहीं लगता है। चर्चा के प्रसंग में ऐसी बात आई——

'अठारह स्थान ऐसे ढूंढने चाहिये जहाँ व्रती नहीं जाता हो तथा उन अठारह स्थानों में ये भवनत्रिक और सौधर्म-ईशान की देवियाँ नहीं आनी चाहिए चूँकि इन्हें पृथक् से लिया है। तभी उमास्वामी श्रावकाचार के दो श्लोक स्मृतिपथ में आ गये, वे ये हैं——

सम्यक्त्वसंयुतः प्राणी, मिथ्यावासेन जायते।
द्वादशेषु च तिर्यक्षु, नारकेषु नपुँसके।।८८।।
स्त्रीत्वे च दुष्कृताल्पायु-दारिद्र्यादिकवर्जितः।
भवनत्रिषु षट्भूषु, तद्देवीषु न जायते।।८९।।

सम्यक्त्व से सहित जीव मिथ्यात्व के निम्नस्थानों में नहीं जाता है—

१. पृथ्वीकायिक २. जलकायिक ३. अग्निकायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. दो इंद्रिय ७. तीन इंद्रिय ८. चार इंद्रिय ९. निगोद १०. असंज्ञीपंचेन्द्रिय ११. कुभोगभूमि और १२. म्लेच्छखंड, मिथ्यात्व के इन बारह स्थानों में उत्पन्न नहीं होता है। तथा १३. तिर्यचों में १४. नरकों में १५. नपुंसक में और १६. स्त्रीवेद में उत्पन्न नहीं होता है।

पुनः पापी, अल्पायु, दारिद्रादि से वर्जित रहता है। यह सम्यग्दृष्टी भवनत्रिकों में, प्रथम नरक से अतिरिक्त छह नरकभूमियों में व स्वर्ग की देवियों में भी नहीं जाता है।

चर्चा में यह बात और आई कि यहाँ प्रतिक्रमण में तो व्रतिक श्रावकों के लिए कथन है अतः व्रतीजन तो सुभोगभूमि और मनुष्य पर्याय में भी नहीं जाते हैं क्योंकि गाथा है कि—

अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं। (गोम्मटसार कर्मकांड)

अणुव्रती और महाव्रती तो देवायु के सिवाय अन्य किसी आयु का बंध ही नहीं कर सकता है। इसलिये उपर्युक्त १६ स्थानों में, १७. सुभोगभूमि और १८. मनुष्य इन दो स्थानों को मिला देने से अठारह स्थान हो जाते हैं। व्रतिक व क्षुल्लक-क्षुल्लिका इनमें नहीं जाते हैं।

ये अठारह स्थान आ. श्रीशिवसागरजी महाराज को भी बहुत ही संगत प्रतीत हुये थे। तब विद्वान द्वारा संशोधित पाठ 'णट्ठदेहा' हटा दिया गया था।

उसके बाद वह चर्चा वहीं समाप्त हो गई थी।

कुछ दिन पूर्व श्रमणचर्या में '**अट्ठदह**' पाठ को उलट कर '**दहअट्ठ**' पाठ लिया गया जिसका अर्थ यह निकाला गया-'दश प्रकार के भवनवासी और आठ प्रकार के वानव्यंतर। पुनः 'श्रमणचर्या' में छपा है-'**दह-अट्ठ-पंच**' जिसे भवनवासी, वानव्यंतर और ज्योतिषी देवों के भेदरूप से माना गया।

जो भी हो मेरी विचारधारा तो यही है कि यदि कुछ पाठ संशोधित भी करना है तो पुराने विद्वानों के समान उस मूलपाठ को न हटाकर टिप्पण में 'संभावित है' ऐसा लिखकर उसे देना चाहिए।

ऐसे ही एक पाठ परिवर्तन और है जो कि अतीव विचारणीय है-मूल पाठ है-'**से अभिमदजीवाजीवउवलद्धपुण्णपाव-आसवसंवरणिज्जरबंधमोक्खमहिकुसले।**'

अब इसे बदल कर ऐसा पाठ रखा गया है—'**से अभिमदजीवाजीवउवलद्ध-पुण्णपावआसवबंधसंवरणिज्जरमोक्खमहिकुसले।**'

मूलपाठ में नवतत्त्वों का क्रम यह था–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

परिवर्तित पाठ का क्रम ऐसा हो गया है जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

विचार करने से यह समझ में आता है कि——इस मूलपाठ के क्रम के अनुसार ही कुंदकुंददेव ने समयसार में गाथा रखी है——

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

और इसी गाथा के क्रम के अनुसार ही श्रीकुंदकुंददेव ने समयसार में अधिकार विभक्त किये हैं। जीवाजीवाधिकार के बाद पुण्य–पापाधिकार है पुनः आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार लेकर तब बंध अधिकार है इसके बाद मोक्ष अधिकार है।

(८) **क्रियाकलाप पृ. श्रमणचर्या पृ.**

देवा वि तस्स पणमंति ६६ देवा वि तं णमंसंति ४०

प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में टीकाकार ने यही क्रियाकलाप वाला पाठ रखकर इसी की टीका की है। जैसे–

''**देवा वि तस्स पणमंति–देवा अपि तस्य प्रणमंति।**'' इस प्रकार अनेक संशोधन वर्तमान में किये जा रहे हैं किन्तु विचार करने की बात है कि इन टीकाकार प्रभाचंद्राचार्य तक तो यह प्राचीन पाठ ही प्रमाणभूत माना गया है और श्रीटीकाकार भी प्राकृत–संस्कृत व्याकरण व छंद शास्त्रादि के ज्ञाता अवश्य थे फिर भी उन्होंने यह पाठ नहीं बदला है। आजकल ऐसे ही अनेक संशोधन हुये हैं जो कि हमें इष्ट नहीं हैं।

श्री गौतम गणधर वाणी

(श्री गौतमस्वामी प्रणीत)

(प्रतिदिन पढ़ने हेतु दशों अध्याय का मूलपाठ)

पद्यानुवाद (गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी)

मंगलाचरण

श्रीमते वर्धमानाय, नमो नमितविद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।१।।

(१) चैत्यभक्ति :

हरिणीछंद —

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो।
विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।१।।

तदनु जयति श्रेयान् धर्मः प्रवृद्धमहोदयः
कुगति-विपथ-क्लेशाद्योऽसौ विपाशयति प्रजाः।
परिणतनयस्याङ्गी- भावाद्विविक्तविकल्पितं
भवतु भवतस्त्रातृ त्रेधा जिनेन्द्रवचोऽमृतम्।।२।।

मंगलाचरण–चौबोल छंद–

श्रीमन् वर्द्धमान को प्रणमूँ, जिनने अरि को नमित किया।
जिनके पूर्ण ज्ञान में त्रिभुवन, गौखुर सम दिखलाई दिया।।
ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री–महावीर को नित्य नमूं।
वीर महतिमहावीर सन्मती–प्रभु को कोटि कोटि प्रणमूँ।।१।।

(१) चैत्यभक्ति

जय हे भगवन् ! चरण कमल तव, कनक कमल पर करें विहार।
इन्द्रमुकुट की कांति प्रभा से, चुंबित शोभें अति सुखकार।।
जातविरोधी कलुषमना, क्रुध मान सहित जन्तूगण भी।
ऐसे तव पद का आश्रय ले, प्रेम भाव को धरें सभी।।१।।

जय हो श्रेयस्कर धर्मामृत, वृद्धिंगत महिमाशाली।
कुगति कुपथ से प्राणीगण को, निकालकर दे सुख भारी।।
नय को मुख्य गौण करने से, बहुत भेदयुत सुखदाता।
ऐसे जिनवचनामृतमय, हे धर्म! करो जग से रक्षा।।२।।

जय हो जैनी वाणी जग में, सप्तभंगमय गंगा है।
व्यय उत्पाद ध्रौव्ययुत द्रव्यों, के स्वभाव को प्रगट करे।।

तदनु जयताज्जैनी वित्तिः प्रभंगतरंगिणी
प्रभवविगमध्रौव्य - द्रव्यस्वभावविभाविनी।
निरुपमसुखस्येदं द्वारं विघट्य निरर्गलं
विगतरजसं मोक्षं देयान्निरत्ययमव्ययम्।।३।।

अर्हत्सिद्धाचार्यो-पाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो, नमोऽस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः।।४।।

मोहादिसर्वदोषारि-घातकेभ्यः सदा हतरजोभ्यः।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्य।।५।।

क्षान्त्यार्जवादिगुणगण-सुसाधनं सकललोकहितहेतुं।
शुभधामनि धातारं, वन्दे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम्।।६।।

मिथ्याज्ञानतमोवृत-लोकैकज्योतिरमितगमयोगि।
सांगोपांगमजेयं, जैनं वचनं सदा वन्दे।।७।।

भवनविमानज्योति-र्व्यंतरनरलोकविश्वचैत्यानि।
त्रिजगदभिवन्दितानां, वंदे त्रेधा जिनेन्द्राणां।।८।।

भुवनत्रयेऽपि भुवन-त्रयाधिपाभ्यर्च्य-तीर्थकर्तृणाम्।
वन्दे भवाग्निशान्त्यै, विभवानामालयालीस्ताः।।९।।

इति पंचमहापुरुषाः, प्रणुता जिनधर्म-वचन-चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां, दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टां।।१०।।

अकृतानि कृतानि चाप्रमेय-द्युतिमन्तिद्युतिमत्सु मन्दिरेषु।
मनुजामरपूजितानि वंदे, प्रतिबिम्बानि जगत्त्रये जिनानाम्।।११।।

अनुपम शिवसुख द्वार खोलती, अव्यय सुख को देती है।
विघ्न रहित अरु कर्म धूलि से, रहित मोक्ष को देती है।।३।।

अर्हत सिद्धाचार्य उपाध्याय, सर्व साधुगण सुरवंदित।
त्रिभुवन वंदित पंच परम गुरु, नमोऽस्तु तुमको मम संतत।।४।।

मोहारि के घातक द्वयरज, आवरणों से रहित जिनेश।
विघ्न-रहस विरहित पूजा के, योग्य अर्हत को नमूँ हमेश।।५।।

क्षमादि उत्तम गुणगण साधक, सकल लोक हित हेतु महान्।
शुभ शिवधाम धरे ले जाकर, जिनवर धर्म नमूँ सुख खान।।६।।

मिथ्याज्ञान तमोवृत जग में, ज्योतिर्मय अनुपम भास्कर।
अंगपूर्वमय विजयशील, जिनवचन नमूँ मैं शिर नत कर।।७।।

भवनवासि व्यन्तर ज्योतिष, वैमानिक में नरलोक में ये।
जिनभवनों की त्रिभुवन वंदित, जिनप्रतिमा को वंदूँ मैं।।८।।

भुवनत्रय में जितने जिनगृह,भवविरहित तीर्थंकर के।
भवाग्नि शांति हेतु नमूँ मैं, त्रिभुवनपति से अर्चित ये।।९।।

इस विध प्रणुत पंचपरमेष्ठी, श्री जिनधर्म जिनागम को।
विमल चैत्य चैत्यालय वंदूँ, बुधजन इष्ट बोधि मम दो।।१०।।

द्युतिकर जिनगृह में अकृत्रिम, कृत्रिम अप्रमेय द्युतिमान।
नर सुर पूजित भुवनत्रय के, सब जिन बिंब नमूँ गुणखान।।११।।

द्युतिमंडलभासुरांगयष्टीः, प्रतिमा अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्।
भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता, वपुषा प्राञ्जलिरस्मि वन्दमानः।।१२।।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः, प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम्।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कांत्या- प्रतिमा कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे।।१३।।

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं, परया शान्ततया भवान्तकानाम्।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमन्ति, प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम्।।१४।।

यदिदं मम सिद्धभक्तिनीतं, सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन।
पटुना जिनधर्म एव भक्ति- र्भवताज्जन्मनि जन्मनि स्थिरा मे।।१५।।

अर्हतां सर्वभावानां, दर्शनज्ञानसम्पदाम्।
कीर्तयिष्यामि चैत्यानि, यथाबुद्धि विशुद्धये।।१६।।

श्रीमद्भावनवासस्थाः, स्वयंभासुरमूर्तयः।
वन्दिता नो विधेयासुः, प्रतिमाः परमां गतिम्।।१७।।

यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च।
तानि सर्वाणि चैत्यानि, वन्दे भूयांसि भूतये।।१८।।

ये व्यन्तरविमानेषु, स्थेयांसः प्रतिमागृहाः।
ते च संख्यामतिक्रान्ताः, सन्तु नो दोषविच्छिदे।।१९।।

ज्योतिषामथ लोकस्य, भूतयेऽद्भुतसम्पदः।
गृहाः स्वयंभुवः सन्ति, विमानेषु नमामि तान्।।२०।।

द्युतिमंडल भासुर तनु शोभित, जिनवर प्रतिमा अप्रतिम हैं।
जग में वैभवहेतु उन्हें, वंदूँ अंजलिकर शिर नत मैं।।१२।।

आयुध विक्रिय भूषा विरहित, जिनगृह में प्रतिमा प्राकृत।
कांती से अनुपम हैं कल्मष, शांति हेतु मैं नमूँ सतत।।१३।।

परम शांति से कषायमुक्ती, को कहती मनहर अभिरूप।
भव के अंतक जिन की प्रतिमा, प्रणमूँ मन विशुद्धि के हेतु।।१४।।

दुष्कृतपथ रोधक मम सिद्ध-भक्ति से हुआ पुण्य जो भी।
भव-भव में जिनधर्म हि में, दृढ़ भक्ति रहे फल मिले यही।।१५।।

सब पदार्थवित् दर्श ज्ञान-सम्पत् युत अर्हत की प्रतिमा।
यथा बुद्धि मनशुद्धि हेतु, गुण कीर्तन करूँ अतुल महिमा।।१६।।

श्रीमद् भवनवासि के गृह में, भासुर जिन मूर्ति स्वयमेव।
परम सिद्धगति करें हमारी, वंदूँ उन्हें करूँ नित सेव।।१७।।

इस जग में जितनी प्रतिमा हैं, कृत्रिम अकृत्रिम सबको।
मैं वंदूँ शिव वैभवहेतु, सब जिन चैत्य जिनालय को।।१८।।

व्यंतर के विमान में जिनगृह, उनमें अकृत्रिम प्रतिमा।
संख्यातीत कही हैं वंदूँ, दोष नाश के हेतु सदा।।१९।।

ज्योतिष देवों के विमान में, अद्भुत संपत्युत जिनगेह।
स्वयंभुवा प्रतिमा भी अगणित, उन्हें नमूँ निज वैभव हेतु।।२०।।

वन्दे सुरतिरीटाग्र - मणिच्छायाभिषेचनम्।
याः क्रमेणैव सेवंते, तदर्चाः सिद्धिलब्धये।।२१।।
इति स्तुतिपथातीत - श्रीभृतामर्हतां मम।
चैत्यानामस्तु संकीर्तिः, सर्वास्त्रवनिरोधिनी।।२२।।
अर्हन्महानदस्य, त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरित-
प्रक्षालनैककारण-मतिलौकिककुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम्।।२३।।
लोकालोकसुतत्त्व-प्रत्यवबोधनसमर्थदिव्यज्ञान-
प्रत्यहवहत्प्रवाहं, व्रतशीलामल विशालकूलद्वितयम्।।२४।।
शुक्लध्यानस्तिमित-स्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्।
स्वाध्यायमन्द्रघोषं, नानागुणसमितिगुप्ति सिकतासुभगम्।।२५।।
क्षान्त्यावर्तसहस्रं, सर्वदया विकचकुसुमविलसल्लतिकम्।
दुःसहपरीषहाख्य- द्भुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम्।।२६।।
व्यपगतकषायफेनं, रागद्वेषादिदोष-शैवलरहितम्।
अत्यस्तमोहकर्दम-मतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम्।।२७।।
ऋषिवृषभस्तुतिमन्द्रो-द्रेकितनिर्घोषविविधविहगध्वानम्।
विविधतपोनिधिपुलिनं, सास्रवसंवरणनिर्जरानिःस्रवणं।।२८।।
गणधरचक्रधरेन्द्र- प्रभृतिमहाभव्यपुंडरीकैःपुरुषैः,
बहुभिः स्नातं भक्त्या, कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम्।।२९।।

सुरपति के नत मुकुटमणि-प्रभ से अभिषेक हुआ जिनका।
वैमानिक सुर सेवित प्रतिमा, सिद्धि हेतु मैं नमूँ सदा।।२१।।
इस विध स्तुति पथातीत, अन्तर बाहिर श्रीयुत अर्हन्।
चैत्यों के संकीर्तन से मम, सर्वास्रव का हो रोधन।।२२।।
अर्हद्देव महानद उत्तम-तीर्थ अलौकिक हैं जग में।
त्रिभुवन भविजन तीर्थस्नान से, पापों का क्षालन करते।।२३।।
लोकालोक सुतत्त्व प्रकाशक, दिव्यज्ञान जल नित बहता।
शील रु सद्व्रत विशाल निर्मल, दो तट से शोभित दिखता।।२४।।
शुक्लध्यानमय राजहंस, स्थिर राजत है इस नद में।
मंद्रघोष स्वाध्याय विविधगुण, समिति गुप्ति बालू चमके।।२५।।
क्षमादि हैं आवर्त सहस्रों, सर्वदयामय कुसुम खिले।
लता शोभती दुःसह परीषह, भंग तरंगित हैं लहरें।।२६।।
रहित कषाय फेन से राग-द्वेष आदि शैवाल रहित।
रहित मोह कीचड़ से मरणादिक जलचर मकरादि रहित।।२७।।
ऋषि प्रधान के मधुर स्तव हों, विविध पक्षि के शब्द सदृश।
विविध साधुगण तट हैं, आस्रव रोध निर्जरा जल निःसृत।।२८।।
गणधर चक्री इन्द्र आदि जो, भव्य प्रवर बहु पुरुष प्रधान।
कलिमल कलुष दूर करने हित, भक्ति से यहाँ किया स्नान।।२९।।

अवतीर्णवतः स्नातुं, ममापि दुस्तरसमस्तदुरितं दूरं।
व्यपहरतु परमपावन-मनन्यजय्यस्वभावभावगभीरं।।३०।।

—पृथ्वी छंद—

अताम्रनयनोत्पलं, सकलकोपवह्नेर्जयात् ,
कटाक्षशरमोक्षहीन - मविकारतोद्रेकतः।।
विषादमदहानितः, प्रहसितायमानं सदा,
मुखं कथयतीव ते, हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।।३१।।

निराभरणभासुरं, विगतरागवेगोदया-
न्निरंबरमनोहरं, प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं, विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्।।३२।।

मितस्थितनखांगजं, गतरजोमलस्पर्शनं
नवांबुरुहचन्दन - प्रतिमदिव्यगन्धोदयम्।
रवीन्दुकुलिशादि - दिव्यबहुलक्षणालंकृतं
दिवाकरसहस्त्रभासुर - मपीक्षणानां प्रियम्।।३३।।

हितार्थपरिपंथिभिः, प्रबलरागमोहादिभिः
कलंकितमना जनो, यदभिवीक्ष्य शोशुद्धयते।

इस विध श्री अर्हंत महाप्रभु, महातीर्थ गणधर कहते।
भविजन पाप मैल क्षालन हित, इसमें अवगाहन करते।।
अति पावन यह तीर्थ अन्य से, अजेय अनुपम है गंभीर।
मैं स्नान हेतु उतरा हूँ, मम दुष्कृत मल करिये दूर।।३०।।

क्रोधाग्नि को जीत लिया नहिं, नेत्र कमल लालिमा प्रभो!
नहिं विकार उद्रेक अतः प्रभु, दृष्टि कटाक्ष रहित तुम हो।।
मद विषाद से रहित अतः, स्मित मुख सदा रहे भगवन् ।
कहता है यह मंदहास्य तव, अंतःकरण शुद्धि पूरण।।३१।।

रागोद्रेक रहित होने से, बिन आभूषण शोभित हो।
प्रकृति रूप निर्दोष तुम्हारा, प्रभु निर्वस्त्र मनोहर हो।।
हिंसा हिंस्य भावविरहित से, आयुध रहित सुनिर्भय हो।
विविध वेदना के क्षय से बिन-भोजन तृप्त सदा प्रभु हो।।३२।।

वृद्धि रहित नख केश प्रभू! रजमल स्पर्श न हो तन को।
विकसित कमल सुचंदन सम है, दिव्य सुगंधित देह विभो!
रवि शशि वज्र दिव्य लक्षण से, शोभित तव शुभरूप महान।
कोटि सूर्य से अधिक चमक, फिर भी दर्शक को प्रिय सुखदान।।३३।।

मोहराग से दूषित हितपथ-द्वेषीजन के सुन उपदेश।
कलुषमना जन हुए जगत में, शुचि होते वे तुमको देख।।
अतिशय युत तव मुख दर्शक, जन को अपने सन्मुख दिखता।
शरद् विमल शशि मंडल सम, तव आस्य चन्द्र है उदित हुआ।।३४।।

सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः
शरद्विमलचन्द्रमंडल - मिवोत्थितं दृश्यते।।३४।।

तदेतदमरेश्वर - प्रचलमौलिमालामणि-
स्फुरत्किरणचुम्बनीय - चरणारविन्दद्वयम्।
पुनातु भगवज्जिनेन्द्र! तव रूपमन्धीकृतं
जगत् सकलमन्यतीर्थगुरुरूपदोषोदयैः।।३५।।

आलोचना या अंचलिका —**इच्छामि भन्ते! चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अहलोयतिरियलोयउड्ढलोयम्मि किट्टिमा-किट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसु वि लोएसु भवणवासियवाणविंतरजोइसिय-कप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गन्धेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति अहमवि इह संतो तत्थ, संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण-सम्पत्ति होउ मज्झं।**

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

अमरेश्वर के नमस्कार से, मुकुट मणिप्रभ किरणों से।
चुम्बित चरण सरोरुह भगवन् ! तव शुभरूप मनोहर है।।
अन्य देव गुरु तीर्थ उपासक, सकल भुवन यह अन्ध समान।
उन सबको तव रूप पवित्र, करे अरु नेत्र करे अमलान।।३५।।

अंचलिका (बैठकर)

भगवन् ! चैत्यभक्ति अरु कायोत्सर्ग किया उसमें जो दोष।
उनकी आलोचन करने को, इच्छुक हूँ धर मन सन्तोष।।
अधो मध्य अरु ऊर्ध्वलोक में, अकृत्रिम कृत्रिम जिनचैत्य।
जितने भी हैं त्रिभुवन के, चउविध सुर करें भक्ति से सेव।।१।।

भवनवासि व्यंतर ज्योतिष, वैमानिक सुर परिवार सहित।
दिव्य गंध सुम धूप चूर्ण से, दिव्य न्हवन करते नितप्रति।।
अर्चें पूजें वंदन करते, नमस्कार वे करें सतत।
मैं भी उन्हें यहीं पर अर्चूं, पूजूँ वदूँ नमूँ सतत।।२।।

दुःखों का क्षय कर्मों का क्षय, होवे बोधि लाभ होवे।
सुगतिगमन हो समाधिमरणं, मम जिनगुण संपति होवे।।३।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

(२) कृतिकर्म विधि

(सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवपर्यंतःकृतिकर्मेत्युच्यते[१]।

"सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तवपर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं।"

दोणदं तु जधाजादं वारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धिं च किदियम्मं पउंजदे[२]।।६०३।।

"यथाजात मुद्राधारी साधु मनवचनकाय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करें।")

सिद्ध वंदना के लिए कृतिकर्म प्रयोगविधि

अथ सिद्धवंदनाक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा-वंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् ।

(इस प्रतिज्ञा वाक्य को बोलकर साष्टांग या पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर मुकुलित हाथ जोड़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़ें।)

सामायिक दण्डक

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

---

(२) कृतिकर्म विधि

अथ सिद्धवंदनाक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।

(इस प्रतिज्ञा वाक्य को बोलकर साष्टांग या पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर मुकुलित हाथ जोड़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़ें।)

—सामायिक दण्डक —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

---

१. मूलाचार गाथा ६०२ की टीका। २. मूलाचार गा. ६०३।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अन्तयडाणं, पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं, धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करेमि किरियम्मं।

करेमि भंते! सामाइयं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा काएण ण करेमि ण कारेमि कीरंतं पि ण समणुमणामि। तस्स भंते! अइचारं पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(९ बार महामंत्र जप)

(मुकुलित हाथ जोड़े हुए ही तीन आवर्त एक शिरोनति करके खड़े-खड़े जिनमुद्रा से सर्त्ताइस उच्छ्वास में नव बार णमोकार मंत्र का जाप करें। पुनः पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामिस्तव'' पढ़ें।)

—थोस्सामि स्तव —

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे।।१।।

ढाई द्वीप अरु दो समुद्र गत, पन्द्रह कर्मभूमियों में।
जो अर्हत भगवंत आदिकर, तीर्थंकर जिन जितने हैं।।१।।

तथा जिनोत्तम केवलज्ञानी, सिद्ध शुद्ध परि निर्वृतदेव।
पूज्य अंतकृत भवपारंगत, धर्माचार्य धर्म देशक।।२।।

धर्म के नायक धर्मश्रेष्ठ, चतुरंग चक्रवर्ती श्रीमान्।
श्री देवाधिदेव अरु दर्शन, ज्ञान चरित गुण श्रेष्ठ महान।।३।।

करूँ वंदना मैं कृतिकर्म, विधि से ढाई द्वीप के देव।
सिद्ध चैत्य गुरुभक्ति पठन कर, नमूँ सदा बहुभक्ति समेत।।४।।

भगवन् सामायिक करता हूँ, सब सावद्य योग तज कर।
यावज्जीवन वचन काय मन, त्रिकरण से न करूँ दुःखकर।।५।।

नहीं कराऊँ नहिं अनुमोदूँ, हे भगवन् ! अतिचारों को।
त्याग करूँ निंदूँ गर्हूं, अपने को मम आत्मा शुचि हो।।६।।

जब तक भगवत् अर्हद्देव की, करूँ उपासना हे जिनदेव।
तब तक पापकर्म दुश्चारित, का मैं त्याग करूँ स्वयमेव।।७।।

(९ बार महामंत्र जप)

(मुकुलित हाथ जोड़े हुए ही तीन आवर्त एक शिरोनति करके खड़े-खड़े जिनमुद्रा से सर्त्ताइस उच्छ्वास में नव बार णमोकार मंत्र का जाप करें। पुनः पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामिस्तव'' पढ़ें।)

थोस्सामि स्तव

स्तवन करूँ जिनवर तीर्थंकर, केवलि अनंत जिन प्रभु का।
मनुज लोक से पूज्य कर्मरज, मल से रहित महात्मन् का।।१।।

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो।।२।।

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे।।३।।

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वन्दामि।।४।।

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च।।५।।

एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।६।।

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं।।७।।

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहियपहा सत्ता।
सायरमिव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।८।।

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वंदना मुद्रा से खड़े-खड़े ही जिस भक्ति की प्रतिज्ञा की थी उस भक्ति को पढ़कर गवासन से बैठकर उस भक्ति की अंचलिका पढ़ें। यह उपर्युक्त कृतिकर्म विधि सभी भक्तियों के पढ़ने में करनी चाहिए, ऐसा विधान है।)

लोकोद्योतक धर्म तीर्थंकर, श्री जिन का मैं नमन करूँ।
जिन चउवीस अर्हंत तथा, केवलि गण का गुणगान करूँ।।२।।

ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमतिनाथ का कर वंदन।
पद्मप्रभ जिन श्री सुपार्श्व प्रभु, चन्द्रप्रभ का करूँ नमन।।३।।

सुविधि नामधर पुष्पदंत, शीतल श्रेयांस जिन सदा नमूँ।
वासुपूज्य जिन विमल अनंत, धर्म प्रभु शान्तिनाथ प्रणमूँ।।४।।

जिनवर कुन्थु अरह मल्लि प्रभु, मुनिसुव्रत नमि को ध्याऊँ।
अरिष्ट नेमि प्रभु श्री पारस, वर्धमान पद शिर नाऊँ।।५।।

इस विध संस्तुत विधुत रजोमल, जरा मरण से रहित जिनेश।
चौबीसों तीर्थंकर जिनवर, मुझ पर हों प्रसन्न परमेश।।६।।

कीर्तित वंदित महित हुए ये, लोकोत्तम जिन सिद्ध महान् ।
मुझको दें आरोग्यज्ञान अरु, बोधि समाधि सदा गुणखान।।७।।

चन्द्र किरण से भी निर्मलतर, रवि से अधिक प्रभाभास्वर।
सागर सम गंभीर सिद्धगण, मुझको सिद्धी दें सुखकर।।८।।

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वंदना मुद्रा से खड़े-खड़े ही जिस भक्ति की प्रतिज्ञा की थी उस भक्ति को पढ़कर गवासन से बैठकर उस भक्ति की अंचलिका पढ़ें। यह उपर्युक्त कृतिकर्म विधि सभी भक्तियों के पढ़ने में करनी चाहिए, ऐसा विधान है।)

(कदाचित् खड़े होकर कृतिकर्म नहीं करना हो तो बैठकर ही सारी विधि करें। अन्तर इतना ही है कि बैठकर कृतिकर्म करने में ९ बार महामंत्र का जाप्य योगमुद्रा से करना होता है।)

लघु सिद्धभक्ति

श्रीमते वर्धमानाय, नमो नमितविद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा, त्रैलोक्यं गोष्पदायते।।१।।

तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि।।२।।

–अंचलिका–

इच्छामि भंते! सिद्धभत्तिकाओसग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचारित्तजुत्ताणं, अट्ठविहकम्मविप्प-मुक्काणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं, उड्ढलोयमत्थयम्मि पयिट्ठियाणं, तवसिद्धाणं, णयसिद्धाणं, संजमसिद्धाणं, चरित्तसिद्धाणं, अतीदाणागदवट्टमाण–कालत्तयसिद्धाणं, सव्वसिद्धाणं, णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ती होउ मज्झं।[१]

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

(कदाचित् खड़े होकर कृतिकर्म नहीं करना हो तो बैठकर ही सारी विधि करें। अन्तर इतना ही है कि बैठकर कृतिकर्म करने में ९ बार महामंत्र का जाप्य योगमुद्रा से करना होता है।)

—लघु सिद्धभक्ति —

श्रीमन् वर्द्धमान को प्रणमूँ, जिनने अरि को नमित किया।
जिनके पूर्ण ज्ञान में त्रिभुवन, गोखुर सम दिखलाई दिया।।१।।

तप से सिद्ध नयों से सिद्ध, सुसंयमसिद्ध चरित सिद्धा।
ज्ञान सिद्ध दर्शन से सिद्ध, नमूँ सब सिद्धों को शिरसा।।२।।

—अंचलिका —

हे भगवन् ! श्री सिद्धभक्ति का, कायोत्सर्ग किया उसका।
आलोचन करना चाहूँ जो, सम्यग् रत्नत्रय युक्ता।।१।।

अठविध कर्म रहित प्रभु ऊर्ध्व–लोक मस्तक पर संस्थित जो।
तप से सिद्ध नयों से सिद्ध, सुसंयमसिद्ध चरित सिद्ध जो।।२।।

भूत भविष्यत् वर्तमान, कालत्रय सिद्ध सभी सिद्धा।
नित्यकाल मैं अर्चूं पूजूँ, वंदूँ नमूँ भक्ति युक्ता।।३।।

दुःखों का क्षय कर्मों का क्षय, हो मम बोधि लाभ होवे।
सुगतिगमन हो समाधिमरणं, मम जिनगुण संपति होवे।।४।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

---

१. दैवसिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(३) सुदं मे आउस्संतो!

(श्रावक धर्म)

पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि-महावीरेण महा-कस्सवेण सव्वण्ह-णाणेण सव्व-लोय-दरसिणा सावयाणं सावियाणं खुड्डुयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खा-वदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि। तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादि-वादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्ता-दाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस-परदारा-गमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकद-परिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।

तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविध-अणत्थ-दण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोग-परिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।

---

(३) सुदं मे आउस्संतो!

(श्रावक धर्म)

हे आयुष्मन्तों! पहले ही यहां मैंने सुना वीर प्रभु से।
उन महाश्रमण भगवान् महतिमहावीर महाकाश्यप जिनसे।।
सर्वज्ञज्ञानयुत सर्वलोकदर्शी उनने उपदेश दिया।
श्रावक व श्राविका क्षुल्लक अरु क्षुल्लिका इन्हों के लिए कहा।।१।।

ये पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, चउ शिक्षाव्रत बारह विध।
हैं सम्यक् श्रावक धर्म इन्हीं, में जो ये अणुव्रत पांच कथित।।
पहला अणुव्रत स्थूलतया, प्राणीवध से विरती होना।
दूजा अणुव्रत स्थूलतया, असत्यवच से विरती होना।।२।।

तीजा अणुव्रत स्थूलतया, बिन दी वस्तू को नहिं लेना।
चौथा अणुव्रत स्थूलतया परदारा से विरती होना।।
निजपत्नी में संतुष्टी या सब स्त्रीमात्र से रति तजना।
पंचम अणुव्रत स्थूलतया इच्छाकृत परीमाण धरना।।३।।

त्रय गुणव्रत में पहला गुणव्रत, दिश विदिशा का प्रमाण करना।
दूजा गुणव्रत नाना अनर्थ दण्डों से नित विरती धरना।।
तीजा गुणव्रत भोगोपभोग, वस्तू की संख्या कर लेना।
ये तीन गुणव्रत कहे, पुनः चारों शिक्षाव्रत को सुनना।।४।।

पहला शिक्षाव्रत सामायिक दूजा प्रोषध उपवास कहा।
तीजा है अतिथि संविभाग चौथा सल्लेखनमरण कहा।।
शिक्षाव्रत चार कहे पुनरपि, अभ्रावकाश तृतीयव्रत है।
जघन्य श्रावक से उत्तम तक, ये बारह व्रत तरतममय हैं।।५।।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहो-वासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम-सल्लेहणा-मरणं, तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।

से अभिमद-जीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसव-संवर-णिज्जर-बंधमोक्ख-महिकुसले धम्माणु-रायरत्तो पि माणु-रागरत्तो (पेम्माणुरागरत्तो) अट्ठि-मज्जाणुरायरत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिग्गंथपावयणे अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे-

णिस्संकिय-णिक्कंखिय, णिव्विदिगिंछी य अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं, वच्छल्ल-पहावणा य ते अट्ठ।।१।।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्म-मणुपाल-इत्ता-

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमण-मुद्दिट्ठ देसविरदो य।।१।।

महु-मंस-मज्ज-जूआ, वेसादि-विवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वय-जुत्तो, सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।२।।

जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साावियाओ वा खुड्डुय खुड्डियाओ वा अट्ठदह-भवण-वासिय-वाणविंतर-जोइसिय-सोहम्मीसाण-देवीओ वदिक्क-मित्तउवरिम-अण्णदर-महड्ढियासु देवेसु उव्वज्जंति।

इसमें अभिमत जीव रु अजीव उपलब्ध पुण्य अरु पाप कहे।
आस्रव संवर निर्जर व बंध अरु मोक्ष कुशल नव तत्त्व रहें।।
इनमें धर्मानुराग से रत प्रेमानुराग में रागी हो।
अस्थीमज्जा के सदृश धर्म के, अनुराग में रागी हो।।६।।

ममतापूर्वक गृहीत वस्तु में, गृहीत वस्तु अरु कृतवस्तू में।
अपने पालन किये पदार्थ में, अपने सेवित सुपदारथ में।।
निर्ग्रंथों के भी प्रवचन में, उत्तम अरु हितकर पदार्थ में।
सेवन की प्रवृत्ती रूप क्रिया में दोष हुए सो मिथ्या हों।।७।।

निःशंकित निःकांक्षित अरु निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टी हैं।
उपगूहन स्थितीकरण वात्सल प्रभावना अठ अंग कहे।।
ये सभी पांच अणुव्रत त्रयगुणव्रत चउ शिक्षाव्रत माने हैं।
बारहविध गृहस्थधर्मों का अनुपालन श्रावक करते हैं।।८।।

दर्शनव्रत सामायिक प्रोषध सचित्तत्याग निशिभुक्ति त्यजी।
ब्रह्मचर्य व आरंभ परिग्रह अनुमति उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रती।।
मधु मांस मद्य जुआ वेश्यादिक व्यसनविवर्जनशील गृही।
पंचाणुव्रतयुत शिक्षाव्रत आदिक सातों से जो पूर्ण वही।।९।।

जो श्रावक और श्राविका या क्षुल्लक व क्षुल्लिका इन व्रत को।
धारण कर अठरहस्थान व भावन व्यंतर में नहिं जाते वो।
ज्योतिषियों में सौधर्म ईशान देवियों में नहिं जाते हैं।
उपरिम वैमानिक देवों में वे महाऋद्धिधर होते हैं।।१०।।

तं जहा—सोहम्मी-साण-सणक्कुमार-माहिंद-बंभबंभुत्तर-लांतवकापिट्ठ-सुक्क-महासुक्क-सतार-सहस्सार-आणत-पाणत-आरण-अच्चुत-कप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबर-सत्थधरा, कडयंगद-बद्धनउड-कयसोहा।
भासुर - वर - बोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।१।।

उक्कस्सेण दोतिण्णि-भव-गहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभव-गहणाणि तदो सुमणु-सुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था[1] पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्व-दुक्खाणमंतं करेंति।[2]

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

(४) एकादश प्रतिमा

इच्छामि भंत्ते! देवसियं आलोचेउं। तत्थ-

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-रायभत्ते य।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-मुद्दिट्ठ देसविरदे य।।
पंचुंबर-सहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्त-विसुद्धमई सो दंसण-सावओ भणियो।।१।।

वह यह सौधर्मैशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म दिव में।
ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ रु शुक्र अरु महाशुक्र दिव में।।
पुनि शतार सहस्रार आनत प्राणत आरण अच्युत दिव में।
इन सोलह स्वर्गों मे ही ये सदृष्टि सचेलक उपजत हैं।।११।।

वे कटक व बाजूबन्द मुकुट से युत आडंबर शस्त्र धरें।
भासुरवर बोधि धरें बहु ऋद्धी सहित महर्द्धिक देव बनें।।
उत्कृष्टपने से दो त्रय भव व जघन्य से सात आठ भव लें।
फिर मानव से देवपद ले सुदेवपद से सुमनुष्य भव लें।।१२।।

फिर सद्गृहस्थ निर्ग्रंथ मुनी हो सिद्ध-बुद्ध हो जाते हैं।
मुक्ती पाते कृतकृत्य बने सब दुःखों का क्षय करते हैं।।
जब तक अर्हत भगवंत नमन कर पर्युपासना करता हूँ।
तब तक सब पापकर्म अरु दुश्चारित को मैं परिहरता हूँ।।१३।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां तृतीयोऽध्यायः।।३।।

(४) एकादश प्रतिमा

–दोहा–

हे भगवन्! दिन भर हुये, दोष विशोधन हेत।
करता आलोचन विधी, श्रद्धा भक्ति समेत।।

–शंभु छंद–

दर्शन व्रत सामायिक प्रोषध, सचित्तत्याग निशिमुक्ति त्यजी।
ब्रह्मचर्य व आरम्भ परिग्रह अनुमति उद्दिष्टत्यागि ये देशव्रती।।
जो पंच उदुंबुर फल तजता, अरु सप्त व्यसन को तजता है।
सम्यक्त्व शुद्धमति वह श्रावक, दर्शनप्रतिमायुत होता है।।१।।

---

१. साधितार्थाः इति वा पाठः छायायां। २. यतिप्रतिक्रमण–पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

पंच य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावयाइं चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि।।२।।

जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाणं णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।।३।।

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसह-विहाण-मुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं।।४।।

जं वज्जिजदि हरिदं तय-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सच्चित्त-णिव्वत्तिमं ठाणं।।५।।

मण-वयण-काय-कदकारिदाणुमोदेहिं मेहुणं णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जदि गुणम्मि सो सावओ छट्ठो।।६।।

पुव्वुत्त-णवविहाणं णि (वि) मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहादि-णिवित्ती सत्तम-गुणबंभचारी सो।।७।।

जं किं पि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेदि।
आरंभ-णिवित्तमदी सो अट्ठम-सावओ भणिओ।।८।।

मोत्तूण वत्थमित्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करदि वियाण सो सावओ णवमो।।९।।

अणुव्रत सुपाँच गुणव्रत त्रय अरु, शिक्षाव्रत चार कहे जाते।
इन बारहव्रत को व्रतप्रतिमा-धारी श्रावक धारण करते।।२।।

जिनवचन धर्म प्रतिमा जिनगृह परमेष्ठी पाँच इनको नित ही।
जो त्रय कालिक वंदन करते उनके सामायिक प्रतिमा ही।।३।।

उत्तम मध्यम जघन्य त्रयविध भाषित प्रोषध निजशक्ति से।
प्रति महिने चारों पर्वों में करते वे प्रोषध व्रत धरते।।४।।

जो हरित छाल पत्ते कोंपल फल कंद बीज को हैं तजते।
प्रासुक कर हरित व जल लेते वे सचित्त त्याग प्रतिमा धरते।।५।।

मन वचन काय कृत कारित अनुमति नवविध से जो मैथुन को।
दिन में तजते वे भव्य दिवा-मैथुन विरती प्रतिमाधर हों।।६।।

इन नवविध भी मैथुन को जो, तजकर ब्रह्मचर्य पूर्ण धरते।
स्त्री विकथादि रहित होकर, वे सप्तम प्रतिमाधारी बनते।।७।।

जो अल्प बहुत या कुछ भी गृह, आरम्भ सदा हैं तज देते।
आरंभ त्याग अष्टमप्रतिमाधारी वे ही श्रावक होते।।८।।

जो वस्त्रमात्र परिग्रह रखकर अवशेष परिग्रह तजते हैं।
जो है उसमें नहिं ममत करें, वे नवमी प्रतिमा धरते हैं।।९।।

पुट्ठो वापुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं सग्गिह-कज्जे।
अणु-मणणं जो ण कुणदि वियाण सो सावओ दसमो।।१०।।

णवकोडीसु विसुद्धं भिक्खा-यरणेण भुंजदे भुंजं।
जायण-रहियं जोग्गं एयारस सावओ सो दु।।११।।

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ।।१२।।

तव-वय-णियमा-वासय-लोचं कारेदि पिच्छ गिण्हेदि।
अणुवेहा- धम्मझाणं करपत्ते एयठाणम्मि।।१३।।

इत्थ मे जो कोई देवसिओ अइचारो अणाचारो तस्स भंते! पडिक्कमामि पडिक्कमंत्तस्स मे सम्मत्तमरणं समाहिमरणं पंडियमरणं वीरियमरणं दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।[१]

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

जो स्वपर जनों द्वारा पूछे या नहिं पूछे गृह कार्यों में।
अनुमति नहिं देते वे अनुमतित्यागी प्रतिमाधारी श्रुत में।।१०।।

नवकोटिशुद्ध याचनारहित आहार योग्य परघर में जो।
भिक्षावृत्ति से ग्रहण करें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी वो।।११।।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी उत्तम श्रावक दो विध जानो।
कौपीन दुपट्टाधर क्षुल्लक कौपीनमात्र ऐलक मानो।।१२।।

तप व्रत नियमावश्यक व लोच करते ऐलक पिच्छी धरते।
करपात्राहारी एक बार अनुप्रेक्षा धर्मध्यान करते।।१३।।

इनमें जो कुछ भी दिनभर में अतिचार अनाचार दोष हुये।
(इनमें जो कुछ पन्द्रह दिन में अतिचार अनाचार दोष हुये)
हे भगवन्! उसका प्रतिक्रमण करता हूँ शोधन हेतु लिये।।१।।

प्रतिक्रम करते हुए मेरा प्रभु! सम्यक्त्वमरण व समाधिमरण।
हो पंडितमरण व वीर्यमरण जिससे नहिं होवे पुनर्जनम।।२।।

दुःखों का क्षय कर्मों का क्षय, होवे मम बोधिलाभ होवे।
हो सुगतिगमन व समाधिमरण, मम जिनगुण संपत्ती होवे।।३।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

---

१. श्रावक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(५) निषीधिका दण्डक

—प्रतिक्रमणभक्ति —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।२।।

णमो जिणाणं ३, णमो णिस्सिहीए ३, णमोत्थु दे ३, अरहंत! सिद्ध! बुद्ध! णीरय! णिम्मल! सममण! सुभमण! सुसमत्थ! समजोग! समभाव! सल्लघट्टाणं सल्लघत्ताण! णिब्भय! णीराय! णिद्दोस! णिम्मोह! णिम्मम! णिस्संग! णिस्सल्ल! माण-माय-मोस-मूरण! तवप्पहावण! गुणरयणसीलसायर! अणंत! अप्पमेय! महदिमहावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसिणो चेदि णमोत्थु ए णमोत्थु ए णमोत्थु ए।

मम मंगलं अरहंता य सिद्धा य बुद्धा य जिणा य केवलिणो ओहिणाणिणो मणपज्जवणाणिणो चउदसपुव्वंगमिणो सुदसमिदिसमिद्धा य तवो य वारहविहो तवस्सी, गुणा य गुणवंतो य, महरिसी तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी य, संजमो संजदा य, विणीओ विणदा य, बंभचेरवासो बंभचारी य, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमंतो य, ससमयपर-समयविदू, खंतिक्खवगा य खंतिवंतो य, खीणमोहा य खीणवंतो य, बोहियबुद्धा य बुद्धिमंतो य, चेइयरुक्खा य चेइयाणि।

---

(५) निषीधिका दण्डक

—प्रतिक्रमणभक्ति —

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।
नमो जिनेभ्यः ३, नमो निषीधिकायै ३, नमोऽस्तु ते ३।

—चौबोल छंद —

हे अर्हंत सिद्ध बुद्धा, नीरज निर्मलसम मन सुमना।
हे सुसमर्थ परम शमयोग, शमभावी हे भवशमना।।
शल्यदुखित के शल्यविनाशन, हे निर्भय निराग निर्दोष।
हे निर्मोह विगत ममता निःसंग तथा निःशल्य विरोष।।१।।

मद माया असत्य के मर्दक, तपःप्रभावी हे परमेश।
गुण-शीलादिरत्नत्रयसागर, हे अनंत अप्रमेय महेश।।
महति पूज्य महावीर वीर, हे वर्धमान हे बुद्धि ऋषीश।
नमस्कार हो नमस्कार हो, नमस्कार हो तुम्हें हमेश।।२।।

मेरा मंगल करें सर्व, अर्हंत सिद्ध बुद्धा जिनराज।
केवलि जिन अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी ऋषिराज।।
चौदश पूर्व अंग पारंगत, अंगबाह्य श्रुतसंपन्ना।
बारह तप तपसी गुण और, गुणोंयुत महाऋद्धि शरणा।।३।।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि, सिद्धणि-सीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं, गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं पव्वत्तित्थेर-कुलयराणं, चाउवण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु। जे लोए संति साहवो संजदा तवसी एदे मम मंगलं पवित्तं! एदेहं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलिं मत्थयम्मि, तिविहं तियरणसुद्धो[१]।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां पंचमोऽध्यायः।।५।।

तीर्थ और तीर्थंकर प्रवचन, प्रवचनयुत व ज्ञान ज्ञानी।
सद्दर्शन सम्यग्दृष्टी, संयम व संयमी मुनिध्यानी।।
विनय तथा सुविनययुत साधू, ब्रह्मचर्य व्रत ब्रह्मचारी।
गुप्ति गुप्तिधर मुक्ति मुक्तियुत, समिति और समितिधारी।।४।।

स्वमत और परमत के ज्ञाता, क्षमाशील अरु क्षपक मुनी।
क्षीणमोह यति बोधितबुद्ध, बुद्धिऋद्धीयुत परममुनी।।
चैत्यवृक्ष जिनबिम्ब अकृत्रिम-कृत्रिम जितने त्रिभुवन में।
मेरा मंगल करें सभी ये, ये मंगलप्रद तिहुँजग में।।५।।

ऊर्ध्व अधो अरु मध्यलोक में, सिद्धायतन नमूँ उनको।
सिद्धक्षेत्र अष्टापद सम्मेदाचल ऊर्जयन्त गिरि को।।
चंपा पावा नगरि मध्यमा, हस्तिबालिका मंडप में।
और अन्य भी मनुज लोक में, तीर्थ क्षेत्र सबको प्रणमें।।६।।

मोक्षशिला को प्राप्त सिद्ध, जिनबुद्ध कर्म से मुक्त महान।
विगत कर्मरज नीरज विरहित, भावकर्ममल से अमलान।।
पांच भरत पांच ऐरावत, पांचों महाविदेहों में।
सूरि उपाध्याय गुरू प्रवर्तक, स्थविर और कुलकर जितने।।७।।

चतुर्वर्णयुत श्रमण संघ के, साधू जितने इस जग में।
संयम तपसी ये सब मेरे, पावन मंगल हेतु बनें।।
भावसहित मैं त्रिविधशुद्धियुत, अंजलि मस्तक पर धरके।
त्रिविधक्रिया में शीश झुकाकर, सबको वंदूँ रुचि करके।।८।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां पंचमोऽध्यायः।।५।।

---

१. दैवसिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(६) गणधरवलय मंत्र

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।१।।

णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं, णमो परमोहिजिणाणं, णमो सव्वोहिजिणाणं, णमो अणंतोहिजिणाणं, णमो कोट्ठ-बुद्धीणं, णमो बीजबुद्धीणं, णमो पादाणुसारीणं, णमो संभिण्णसोदाराणं, णमो सयंबुद्धाणं, णमो पत्तेयबुद्धाणं, णमो बोहियबुद्धाणं, णमो उजुमदीणं, णमो विउलमदीणं, णमो दसपुव्वीणं, णमो चउदस-पुव्वीणं, णमो अट्ठंग-महा-णिमित्त-कुसलाणं, णमो विउव्व-इड्ढि-पत्ताणं, णमो विज्जाहराणं, णमो चारणाणं, णमो पण्णसमणाणं, णमो आगास-गामीणं, णमो आसीविसाणं, णमो दिट्ठिविसाणं, णमो उग्गतवाणं, णमो दित्ततवाणं, णमो तत्ततवाणं, णमो महातवाणं, णमो घोरतवाणं, णमो घोरगुणाणं, णमो घोर-परक्कमाणं, णमो घोरगुण-बंभयारीणं, णमो आमोसहि-पत्ताणं, णमो खेल्लोसहिपत्ताणं, णमो जल्लोसहिपत्ताणं, णमो विप्पोसहि-पत्ताणं, णमो सव्वोसहिपत्ताणं, णमो मणबलीणं, णमो वचिबलीणं, णमो कायबलीणं, णमो खीरसवीणं, णमो सप्पिसवीणं,

---

(६) गणधरवलय मंत्र

—शंभु छंद—

मैं नमूं जिनों को जो अर्हन् अवधीजिन मुनि को नमूं नमूं।
परमावधिजिन को नमूँ तथा, सर्वावधि जिन को नमूं नमूं।।
मैं नमूं अनंतावधिजिन को, अरु कोष्ठबुद्धियुत साधु नमूं।
मैं नमूं बीजबुद्धीयुतमुनि, पादानुसारियुत साधु नमूं।।१।।

संभिन्नश्रोतृयुत साधु नमूं, मैं स्वयंबुद्ध मुनिराज नमूं।
प्रत्येक बुद्ध ऋषिराज नमूं, पुनि बोधित बुद्ध मुनीश नमूं।।
ऋजुमतिमनपर्यय साधु नमूं, मैं विपुलमतीयुत साधु नमूं।
मैं नमूं अभिन्न[१] सुदशपूर्वी, चौदशपूर्वी मुनिराज नमूं।।२।।

अष्टांगमहानिमित्तकुशली, नमूं नमूं विक्रियाऋद्धि प्राप्त।
विद्याधरऋषि को नमूं नमूं मैं, संयत चारणऋद्धि प्राप्त।।
मैं प्रज्ञाश्रमणमुनीश नमूं, आकाशगामि मुनिराज नमूं।
आशीविषयुत ऋषिराज नमूं दृष्टीविषयुतमुनिराज नमूं।।३।।

मैं उग्रतपस्वी नमूं दीप्ततपि नमूं तप्ततपसाधु नमूं।
मैं नमूं महातपधारी को, अरु घोरतपोयुत साधु नमूं।।
मैं नमूं घोरगुणयुत साधु, मैं घोरपराक्रम साधु नमूं।
मैं नमूं घोरगुणब्रह्मचारि, आमौषधिप्राप्त मुनीश नमूं।।४।।

क्ष्वेलौषधिप्राप्त मुनीश नमूं, जल्लौषधि प्राप्त मुनीश नमूं।
विप्रुष औषधियुत साधु नमूं, सर्वौषधिप्राप्त मुनीश नमूं।
मैं नमूं मनोबलि मुनिवर को, मैं वचनबली ऋद्धीश नमूं।
मैं कायबली मुनिनाथ नमूं, मैं क्षीरस्रावी साधु नमूं।।५।।

---

१. टीका के आधार से अभिन्न पद है।

णमो महुरसवीणं, णमो अमियसवीणं, णमो अक्खीण-महाणसाणं, णमो वड्ढमाणाणं, णमो सिद्धायदणाणं, णमो भयवदो महदि महावीर-वड्ढमाण-बुद्धरिसीणो चेदि।

जस्संतियं धम्मपहं णियच्छे तस्संतियं वेणइयं पउंजे।
काएण वाचा मणसावि णिच्चं, सक्कारए तं सिर-पंचमेण[१]।।१।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

(७) सुदं मे आउस्संतो!

(मुनिधर्म)

सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदि-महावीरेण महा-कस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुर-माणुसस्स लोयस्स आगदि-गदि-चवणो-ववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणो-माणसियं भूतं कयं पडिसेवियं आदिकम्मं अरुह-कम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि राइभोयणवेरमण-छट्ठाणि सभावणाणि समाउग-पदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि।

मैं घृतस्रावी मुनिराज नमूं, मैं मधुरस्रावी साधु नमूं।
मैं अमृतस्रावी साधु नमूं, अक्षीणमहानस साधु नमूं।।
मैं वर्धमान ऋद्धीश नमूँ, मैं सिद्धायतन समस्त नमूं।
मैं भगवत् महति महावीर, -श्री वर्धमान बुद्धर्षि नमूं।।६।।

—शेर छंद —

जिनके निकट मैं धर्म पथ को प्राप्त किया हूँ।
उनके निकट ही विनयवृत्ति धार रहा हूँ।।
नित काय से वचन से और मन से उन्हीं को।
पंचांग नमस्कार करूं भक्तिभाव सो।।१।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

(७) सुदं मे आउस्संतो!

(मुनिधर्म)

हे आयुष्मन्तों! वीर प्रभु की ध्वनि से मैंने सुना यहीं।
वे महाश्रमण भगवान महति, महावीर महाकाश्यपगोत्री।।१।।
सर्वज्ञ सर्वलोकदर्शी, युगपत् सबको जानते हुए।
सब देव असुर मानवयुत इस तिहुंजग को भी देखते हुए।।२।।
सबकी आगति गति च्यवन जन्म, अरु बंध मोक्ष ऋद्धी स्थिति।
द्युति अनुभाग अरु तर्कशास्त्र, सब कला मनो अरु मानसीक।।३।।
अनुभूत भूत कृत प्रतिसेवित, कृषि आदिकर्म अकृतिमकर्म।
सम्पूर्ण लोक सब जीव सर्व भावों को भी युगपत् जानन्।।४।।
वे श्री विहार करते भगवन् जब समवसरण में राजे हैं।
मुनियों के लिए धर्म सम्यक् उसको उनने उपदेशा है।।५।।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(२८ मूलगुण)

वद-समिदिंदिय-रोधो लोचो आवासय-मचेल-मण्हाणं।
खिदिसयण-मदंतवणं ठिदिभोयण-मेयभत्तं च।।१।।

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं।।२।।

छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं।

(पच्चीस भावना)

चूलियं तु पवक्खामि भावणा पंचविंसदी।
पंच पंच अणुण्णादा एक्केक्कम्हि महव्वदे।।१।।

मणगुत्तो वचिगुत्तो इरिया - कायसंयदो।
एसणा - समिदि - संजुत्तो पढमं वदमस्सिदो।।२।।

अकोहणो अलोहो य, भय - हस्स - विवज्जिदो।
अणुवीचि-भास-कुसलो, विदियं वदमस्सिदो।।३।।

अदेहणं भावणं चावि, उग्गहं य परिग्गहे।
संतुट्ठो भत्तपाणेसु, तिदियं वदमस्सिदो।।४।।

इत्थिकहा इत्थिसंसग्ग - हास - खेड - पलोयणे।
णियमम्मि ट्ठिदो णियत्तो य, चउत्थं वदमस्सिदो।।५।।

(२८ मूलगुण)

व्रत समिती इंद्रियनिरोध छह, आवश्यक आचेलक लोच।
भूमिशयन अस्नान अदंत-धावन स्थितिभुक्ती भक्तैक।।१।।

जिनवर कथित मूलगुण मुनि के, प्रमाद से इनमें अतिचार।
इनसे दूर हुआ हूँ मेरा, छेदोपस्थापन हो नाथ।।२।।

(पच्चीस भावना)

पच्चीस भावना है जिसमें ऐसी चूलिका कहूँगा मैं।
मानी हैं पाँच पाँच ये भी जो हैं एक एक महाव्रत में।।१।।

मनगुप्ति वचनगुप्ति ईर्यासमिती व कायसंयत रखना।
एषणसमिती ये पाँच भावना प्रथम महाव्रत की धरना।।२।।

क्रुध लोभ और भय हास्य त्याग अनुवीचीभाषा कुशल कही।
आगम अनुकूलवचन दूजे व्रत की ये पाँच भावना ही।।३।।

अदेहनं-यह तन ही धन है यह देह अशुचि आदी भावन।
अवग्रह-गतपरिग्रह अशन पान में संतुष्टी व्रत की तृतियन।।४।।

स्त्री की कथा व संसर्ग अरु हास्य व क्रीडा अवलोकन।
इन सबको राग से नहिं करना चौथे व्रत में स्थिरीकरण।।५।।

सचित्ताचित्त - दव्वेसु, बज्झंब्भंतरेसु य।
परिग्गहादो विरदो, पंचमं वदमस्सिदो।।६।।

धिदिमंतो खमाजुत्तो, झाणजोग-परिट्ठिदो।
परीसहाणउरं देंत्तो, उत्तमं वदमस्सिदो।।७।।

जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम।।
सारं झाणंति णामेण, सव्वं बुद्धेहिं देसिदं।।८।।

इच्चेदाणि पंचमहव्वयाणि राईभोयणादो वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि समाउग्ग-पदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं अणुपालइत्ता समणा भयवंता णिग्गंथादोओण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणियंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति परिविज्जाणंति[१]।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

सचित्त अचित्त द्रव्य अरु बाह्य अभ्यंतर द्रव्य व परिग्रह से।
विरती ये पांच भावनाएं, पाँचवें महाव्रत की ही हैं।।६।।

उत्तमव्रत है वो ही जो धैर्य सहित अरु क्षमायुक्त होता।
जो ध्यान योग में स्थित परिषह सहने में अभिमुख रहता।।७।।

सब सारों में जो सार अहो गौतम! वह सार सर्व उत्तम।
जो "ध्यान" नाम से कहा वही है सार सर्वकेवलि भणितं।।८।।

ये पांच महाव्रत रात्रीभोजनविरति छठे अणुव्रतयुत हैं।
भावनासहित मातृकापदों युत उत्तरपदयुत-गुणयुत हैं।।९।।

इस सम्यक् धर्म का अनुपालन करके भगवान श्रमण मुनिवर।
निर्ग्रंथलिंग से सिद्ध बुद्ध होते व मुक्त होते सुखकर।।१०।।

परिनिर्वृत होते सर्वदुखों का अंत करें त्रिभुवन जानें।
यह श्रमणधर्म ही शिवप्रद है इसको धारें भव दुख हाने।।११।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां सप्तमोऽध्यायः।।७।।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(८) पडिक्कमामि भंते!

पडिक्कमामि भंते! एक्के भावे अणाचारे, वेसु रायदोसेसु, तीसु दंडेसु, तीसु गुत्तीसु, तीसु गारवेसु, चउसु कसाएसु, चउसु सण्णासु, पंचसु महव्वएसु, पंचसु समिदीसु, छसु जीवणिकाएसु, छसु आवासएसु, सत्तसु भएसु, अट्ठसु मएसु, णवसु बंभचेरगुत्तीसु, दसविहेसु समणधम्मेसु, एयारसविहेसु उवासयपडिमासु, वारसविहेसु भिक्खुपडिमासु, तेरसविहेसु किरियाट्ठाणेसु, चउदसविहेसु भूदगामेसु, पण्णरसविहेसु पमायठाणेसु, सोलसविहेसु पवयणेसु, सत्तारसविहेसु असंजमेसु, अट्ठारसविहेसु असंपराएसु, उणवीसाए णाहज्झाणेसु*, वीसाए असमाहिट्ठाणेसु, एक्कवीसाए सबलेसु, बावीसाए परीसहेसु, तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु, चउवीसाए अरिहंतेसु, पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियट्ठाणेसु, छव्वीसाए पुढवीसु, सत्तावीसाए अणगारगुणेसु, अट्ठावीसाए आयारकप्पेसु, एउणतीसाए पावसुत्तपसंगेसु, तीसाए मोहणीयठाणेसु, एक्कत्तीसाए कम्मविवाएसु, बत्तीसाए जिणोवएसेसु, तेत्तीसाए

---

(८) पडिक्कमामि भंते!

हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करूँ, है एक भाव जो अनाचार।
दो रागद्वेष त्रय गुप्ति त्रिदंड, त्रिगारव और कषाय चार।।१।।

चउ संज्ञा पांच महाव्रत पण, समिती छह जीव निकाय कहे।
छह आवश्यक भय सात आठ-मद ब्रह्मचर्यगुप्ती नव हैं।।२।।

दश श्रमण धर्म ग्यारह प्रतिमा, बारहविध भिक्षू प्रतिमा हैं।
तेरह विध क्रियास्थान चतुर्दश, भूत व प्रमाद पंद्रह हैं।।३।।

सोलह प्रवचन सत्रहों असंयम असंपराय अठारह हैं।
उन्नीस नाथ अध्ययन कथा असमाधिस्थान सुबीस कहें।।४।।

इक्कीस सबल बाइस परिषह तेईस सूत्रकृत अध्ययन हैं।
चौबिस अरहंतदेव पचीस भावना पृथ्वी छब्बिस हैं।।५।।

सत्ताइस विध अनगार सुगुण अरु मूलसुगुण अट्ठाइस हैं।
उनतीस पापसूत्रं प्रसंग मोहनीय थान भी तीस कहे।।६।।

इकतीसहिं कर्मोदय विपाक बत्तिस विध जिन उपदेश कहे।
तेतिस अत्यासादना दोष इन सबमें जो कुछ दोष हुए।।७।।

संक्षेप से आसादना सात में जीवों के आसादन से।
अजीव के आसादन ज्ञानासादन दर्शन सादन से।।८।।

चारित आसादन तप का आसादन वीर्यासादन से भी।
मैं सबकी गर्हा करता हूँ दुश्चरित किये पहले जो भी।।९।।

मैं वर्तमान के दोषों को प्रतिक्रमण विधी से दूर करूँ।
आगे होने वाले दोषों का भी मैं प्रत्याख्यान करूँ।।१०।।

जिन दोषों की गर्हा नहिं की, मैं उनकी गर्हा करता हूँ।
जिन दोषों की निंदा नहिं की, अब उनकी निंदा करता हूँ।।११।।

अच्चासणदाए, संखेवेण जीवाणं अच्चासणदाए, अजीवाणं अच्चासणदाए, णाणस्स अच्चासणदाए, दंसणस्स अच्चासणदाए, चरित्तस्स अच्चासणदाए, तवस्स अच्चासणदाए, वीरियस्स अच्चासणदाए, तं सव्वं पुव्वं दुच्चरियं गरहामि, आगामेसीएसु पच्चुपण्णं इक्कंतं पडिक्कमामि, अणागयं पच्चक्खामि, अगरहियं गरहामि, अणिंदियं णिंदामि, अणालोचियं आलोचेमि, आराहणमब्भुट्ठेमि, विराहणं पडिक्कमामि इत्थ मे जो कोई देवसिओ (राईओ) अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं[१]।।९।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां अष्टमोऽध्यायः।।८।।

(९) इच्छामि भंते!

इच्छामि भंते! पडिक्कमणमिदं, सुत्तस्स मूलपदाणं उत्तरपदाणमच्चासणदाए। तं जहा-

णमोक्कारपदे अरहंतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झायपदे साहुपदे मंगलपदे लोगोत्तमपदे सरणपदे सामाइयपदे चउवीस-तित्थयरपदे वंदणपदे पडिक्कमणपदे पच्चक्खाणपदे काउसग्गपदे असीहियपदे णिसीहियपदे अंगंगेसु पुव्वंगेसु पइण्णएसु पाहुडेसु पाहुडपाहुडेसु कदकम्मेसु वा भूदकम्मेसु वा णाणस्स अइक्कमणदाए दंसणस्स अइक्कमणदाए चरित्तस्स अइक्कमणदाए तवस्स अइक्कमणदाए वीरियस्स अइक्कमणदाए, से अक्खरहीणं वा पदहीणं वा सरहीणं

जिनका आलोचन नहीं किया, उनका आलोचन करता हूँ।
आराधन चउ स्वीकार करूँ विराधन का प्रतिक्रम करता हूँ।।१२।।

मुझ से इन सबमें जो कुछ भी दिनभर में (रात्री में) अतीचार हुए हों।
या अनाचार भी हुए प्रभो! वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो।।१३।।

।।इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां अष्टमोऽध्यायः।।

(९) इच्छामि भंते!

हे भगवन्! सूत्र के मूलपदों उत्तरपद के आसादन से।
जो दोष हुए उनका प्रतिक्रमण करूं मैं सो वह इस विध से।।१।।

जो नमस्कारपद अर्हत् पद अरु सिद्धपदाचार्यपद में।
उपाध्यायपद साधूपद मंगलपद लोकोत्तम पद में।।२।।

शरणंपद सामायिकपद चौबिस तीर्थंकर पद वंदनपद में।
प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान रु कायोत्सर्ग असहि निसहि पद में।।३।।

अंगों में पूर्वों में व प्रकीर्णक प्राभृत प्राभृतप्राभृत में।
कृतकर्मों भूतकर्म में आसादन से दोष विशोधूं मैं।।४।।

ज्ञान में जो आसादन की दर्शन चरित्र तप वीरज में।
आसादन कर जो दोष किये उन सबका शोधन करता मैं।।५।।

---

१. दैवसिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

वा वंजणहीणं वा अत्थहीणं वा गंथहीणं वा थएसु वा थुईसु वा अट्ठक्खाणेसु वा अणियोगेसु वा अणियोगद्दारेसु वा जे भावा पण्णत्ता अरहंतेहिं भयवंतेहिं तित्थयरेहिं आदियरेहिं तिलोगणाहेहिं तिलोग-बुद्धेहिं तिलोग-दरसीहिं ते सद्दहामि ते पत्तियामि ते रोचेमि ते फासेमि, ते सद्दहंतस्स ते पत्तयंतस्स ते रोचयंतस्स ते फासयंतस्स जो मए देवसिओ राईओ अदिक्कमो वदिक्कमो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो अकाले सज्झाओ कओ काले वा परिहाविदो अत्थाकारिदं मिच्छामेलिदं (आमेलिदं) वामेलिदं अण्णहादिण्णं अण्णहापडिच्छदं आवासएसु पडिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं[१]।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां नवमोऽध्यायः।।९।।

इनमें अक्षर से हीन व पद से हीन व स्वर से हीन पढ़ा।
व्यंजन से हीन व अर्थहीन या ग्रंथहीन जु अशुद्ध पढ़ा।।६।।

स्तव स्तुति अर्थाख्यानों के अनुयोगों के पढ़ने में।
अनुयोगद्वार में हीन आदि दोषों का प्रतिक्रमण करता मैं।।७।।

अर्हंतदेव भगवंत तीर्थंकर आदीकर त्रैलोक्यनाथ।
त्रिभुवनज्ञानी त्रिभुवनदर्शी ने प्रतिपादे हैं जो पदार्थ।।८।।

उनकी मैं श्रद्धा करता हूँ उनकी ही प्राप्ती करता हूँ।
उनमें ही में रुचि रखता हूं उनका ही स्पर्श करता हूँ।।९।।

इनकी श्रद्धा करते हुए अरु इनकी प्राप्ती करते हुए जो।
इनमें रुचि रखते हुए तथा इनका स्पर्श करते हुए जो।।१०।।

मैंने दैवसिक व रात्रिक पाक्षिक आदिक में जो दोष किये।
अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार अनाचार आभोग अनाभोग किये।।११।।

जो अकाल में स्वाध्याय किया अरु काल में स्वाध्याय नहीं किया।
सहसा किया बिना विवेक किया मिथ्या के साथ मिलाय दिया।।१२।।

अन्यथा पढ़ा अन्यथा कहा अन्यथा ग्रहण कीया भी जो।
आवश्यक में परिहानी की सब दुष्कृत मेरा मिथ्या हो।।१३।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां नवमोऽध्यायः।।९।।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

(१०) वीरभक्तिः

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्-द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः, सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः, सर्वज्ञ इत्युच्यते
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः।।१।।

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय भक्त्या नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य वीरं तपो
वीरे श्री द्युति-कान्ति-कीर्ति-धृतयो, हे वीर! भद्रं त्वयि।।२।।

ये वीरपादौ प्रणमन्ति नित्यं, ध्यानस्थिताः संयमयोगयुक्ताः।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके, संसारदुर्गं विषमं तरंति।।३।।

व्रतसमुदयमूलः संयमस्कन्धबन्धो, यमनियमपयोभिर्वर्धितः शीलशाखः।
समितिकलिकभारो गुप्तिगुप्तप्रवालो गुणकुसुमसुगन्धिः सत्तपश्चित्रपत्रः।।४।।

---

(१०) वीरभक्ति

—चौबोल छंद—

जो विधिवत् सब लोक चराचर, द्रव्यों को उनके गुण को।
भूत भविष्यत् वर्तमान, पर्यायों को भी नित सबको।।
युगपत समय-समय प्रति जाने, अतः हुए सर्वज्ञ प्रथित।
उन सर्वज्ञ जिनेश्वर महति, वीर प्रभु को नमूँ सतत।।१।।

वीर सभी सुर असुर इन्द्र से, पूज्य वीर को बुध सेवें।
निज कर्मों को हता वीर ने, नमः वीर प्रभु को मुद से।।
अतुल प्रवर्ता तीर्थ वीर से, घोर वीर प्रभु का तप है।
वीर में श्री द्युति कांति कीर्ति, धृति हैं हे वीर! भद्र तुममें।।२।।

जो नित वीर प्रभू के चरणों, में प्रणमन करते रुचि से।
संयम योग समाधीयुत हो, ध्यान लीन होते मुद से।।
इस जग में वे शोक रहित हो, जाते हैं निश्चित भगवन्।
यह संसार दुर्ग विषमाटवि, इसको पार करें तत्क्षण।।३।।

व्रत समुदाय मूल है जिसका, संयममय स्कंध महान्।
यम अरु नियम नीर से सिंचित, बढ़ी सुशाखाशील प्रधान।।
समिति कली से भरित गुप्तिमय, कोंपल से सुन्दर तरु है।
गुण कुसुमों से सुरभित सत्तप, चित्रमयी पत्तों युत है।।४।।

शिवसुखफलदायी यो दयाछाययोद्यः (दघः) शुभजनपथिकानां खेदनोदे समर्थः।
दुरितरविजतापं प्रापयन्नन्तभावं स भवविभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः।।५।।

चारित्रं सर्वजिनैश्चरितं, प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः।
प्रणमामि पंचभेदं, पंचमचारित्रलाभाय।।६।।

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया,
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म! मां पालय।।७।।

धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं (मुक्किट्ठं), अहिंसा संयमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो[1]।।८।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां दशमोऽध्यायः।।१०।।

शिवसुख फलदायी यह तरुवर, दयामयी छाया से युत।
शुभजन पथिक जनों के खेद, दूर करने में समरथ नित।।
दुरित सूर्य के हुए ताप का, अन्त करे यह श्रेष्ठ महान्।
वर चारित्र वृक्ष कल्पद्रुम, करे हमारे भव की हान।।५।।

सभी जिनेश्वर ने भवदुःखहर, चारित को पाला रुचि से।
सब शिष्यों को भी उपदेशा, विधिवत् सम्यक् चारित ये।।
पाँच भेद युत सम्यक् चारित, को प्रणमूँ मैं भक्ती से।
पंचम यथाख्यात चारित की, प्राप्ति हेतु वंदूँ मुद से।।६।।

धर्म सर्वसुख खानि हितंकर, बुधजन करें धर्म संचय।
शिवसुखप्राप्त धर्म से होता, उसी धर्म के लिए नमन।।
धर्म से अन्य मित्र नहिं जग में, दयाधर्म का मूल कहा।
मन को धरूँ धर्म में नित, हे धर्म! करो मेरी रक्षा।।७।।

धर्म महा मंगलमय है यह, कहा वीर प्रभु ने जग में।
प्रमुख अहिंसा संयम तपमय, धर्म सदा उत्तम सब में।।
जिसके मन में सदा धर्म है, सुरगण भी उसको प्रणमें।
मैं भी नमूं धर्म को संतत, धर्म बसो मेरे मन में।।८।।

इति श्रीगौतमगणधरवाण्यां दशमोऽध्यायः।।१०।।

---

१. दैवसिक प्रतिक्रमण से उद्धृत।

अन्त्य प्रार्थना

अरहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।१।।

धर्मतीर्थस्य कर्तारं, महावीरजिनं नुमः।
द्वादशांगस्य कर्तारं, नौमि गौतमस्वामिनम्।।२।।

वीरदिव्यध्वनेः प्राप्ता, वाणी श्रीगौतमस्य या।
सारं सारं गृहीत्वात्र, मनाक् संकलितं मया।।३।।

यद्हीनाधिक-दोषादि-जातं मातः! सरस्वति!।
मां क्षमस्व कृपां कृत्वा, भावश्रुतं प्रयच्छ मे।।४।।

यः पठति दशाध्यायं, श्रीगौतमवचोऽमृतम्।
सः श्रुतज्ञानमत्यामा, पूर्णज्ञानश्रियं श्रयेत्।।५।।

दोहा-पद्यानुवाद

अर्हन्भाषित अर्थमय, गणधर गुंफित ग्रंथ।
श्रुतज्ञानाब्धी को नमूँ, भक्ती युक्त शिर नम्य।।।१।।

धर्मतीर्थ कर्ता नमूं, महावीर भगवान्।
द्वादशांग कर्ता नमूं, गौतम गणी महान्।।२।।

वीर दिव्यध्वनि से प्रगट, श्री गौतम की वाणि।
सार सार को संकलन, किया सुगणधर वाणि।।३।।

हीनाधिकादि दोष जो, हुये सरस्वति मात!।।
क्षमा करो कर कृपा मम, देवो भावश्रुत मात!।।४।।

श्रीगौतमवच सुधा जो, पढ़े दशाध्याय पूर्ण।
वे श्रुतज्ञानमती सहित, लहें ज्ञानश्री पूर्ण।।५।।

।।समाप्तम्।।

प्रशस्तिः

महावीर ! नमस्तुभ्यं, महाकल्पद्रुमाय ते।
अचिन्त्यफलदात्रे नो, नमस्तुभ्यमनन्तशः।।1।।

वीरदिव्यध्वनिं श्रुत्वा, द्वादशांगविधायिने।
ग्रंथकर्त्रे गणीन्द्राय, नमो गौतमस्वामिने।।2।।

श्री वीरशासने सूरिः, कुन्दकुन्दगुरुर्महान्।
मूलसंघे च तन्नाम्ना, कुंदकुंदान्वयोऽभवत्।।3।।

गच्छे सरस्वती नाम्नि, वलात्कारगणे शुभे।
चारित्रचक्रभृत्सूरिः प्रथमः शांतिसागरः।।4।।

श्रीवीरसागराचार्यस्तस्य पट्टाधिपोऽभवत्।
महाव्रतप्रदातारं गुरुं गुरोर्गुरुं नुवे।।5।।

त्र्येकषट्द्वितमे वीर-जयंतीदिवसे शुभे।
चैत्रशुक्लात्रयोदश्यां, ग्रन्थोऽयं पूर्यते मया।।6।।

श्री गौतमगणीन्द्रस्य, वाणी ह्यमृतवर्षिणी।
संकलितामृतं दद्यात्, स्यान्नोऽमृतपदाप्तये।।7।।

यावज्जैनेंद्रधर्मोऽयं, वर्तते भुवि क्षेमकृत्।
पूर्णां ज्ञानमती कुर्यात्, तावत्स्थेयादयं कृतिः।।8।।

हिंदी पद्य-प्रशस्ति

महाकल्पद्रुम वीर प्रभु, फल अचिन्त्य दातार।
महावीर भगवान को, नमूं अनन्तों बार।।1।।

वीर दिव्यध्वनि श्रवण कर, द्वादशांग करतार।
गौतम गणधर ग्रंथकृत्, नमूं उन्हें शत बार।।2।।

श्री वीरशासन प्रथित, कुंदकुंद आचार्य।
मूलसंघ में नाम से, कुंदकुंद आम्नाय।।3।।

गच्छ सरस्वती गण कहा, बलात्कार शुभ मान्य।
चारितचक्री प्रथम गुरू, शांतिसागराचार्य।।4।।

उनके पट्टाचार्य गुरू, वीरसागराचार्य।
महाव्रत दातागुरू, नमूं उभय आचार्य।।5।।

छब्बीस सौ तेरह तमी, वीरजयंती वंद्य।
चैत्रशुक्ल तेरस तिथी, पूर्ण किया यह ग्रंथ।।6।।

अमृतवर्षाकारिणी, गौतमस्वामी वाणि।
अमृतपद देवे हमें, यह संकलिता वाणि।।7।।

जब तक जिनवर धर्म है, जग में सुखकर पूर्ण।
तब तक 'कृति' स्थायि हो, करे ज्ञानमति पूर्ण।।8।।

इति श्रीगौतमगणधरवाणी प्रशस्ति समाप्ता।

जिनवाणी स्तुति

रचयित्री—प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

हे सरस्वती माता, अज्ञान दूर कर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो।।

श्रुत का भण्डार भरा, तेरे ज्ञान की गंगा में।
जन मन शृंगार करा, गुरुवर मुनि चन्दा ने।।
शृंगार सहित माता, श्रुत ज्ञान पूर्ण कर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो।।१।।

प्रभुवीर की वाणी सुन, गणधर ने संवारा है।
मुनिगण उस पथ पर चल, निज ज्ञान सुधारा है।।
निज ज्ञान किरण दाता, आलोक ज्ञान भर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो।।२।।

चंदन चंदा गंगा, तन शीतल कर सकते।
मुक्ता मालाएं भी, नहिं मन को हर सकते।।
''चन्दना'' सभी जग को, शारद मां का वर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो।।३।।